MANGALAYATAN
UNIVERSITY
Learn Today to Lead Tomorrow

Social Change and Social Control

SOO-2101

Edited By

Dr. Umesh Dixit

DIRECTORATE OF DISTANCE AND ONLINE EDUCATION
MANGALAYATAN
UNIVERSITY

अनुक्रमणिका
(Contents)

इकाई–1: सामाजिक परिवर्तन: अर्थ, प्रकृति एवं कारक 1–43

1.1 उद्देश्य 2
1.2 प्रस्तावना 2
1.3 सामाजिक परिवर्तन 2
1.4 सामाजिक परिवर्तन की विशेषताएँ (प्रकृति) 4
1.5 सामाजिक परिवर्तन के प्रकार 10
1.6 समकालीन भारत में सामाजिक परिवर्तन 12
1.7 सामाजिक परिवर्तन के प्राकृतिक या भौगोलिक कारक 15
1.8 सामाजिक परिवर्तन के प्राणिशास्त्रीय (जैविकीय) कारक 16
1.9 सामाजिक परिवर्तन के जनसंख्यात्मक कारक 16
1.10 सामाजिक परिवर्तन के आर्थिक कारक 19
1.11 आर्थिक कारक और सामाजिक परिवर्तन 21
1.12 धार्मिक कारक 23
1.13 प्रोटेस्टेंट आचार और पूँजीवाद का विकास 24
1.14 सांस्कृतिक कारक 27
1.15 सांस्कृतिक कारक और सामाजिक परिवर्तन 28
1.16 संस्कृति का समाज एवं मानव जीवन पर प्रभाव 29
1.17 सांस्कृतिक विलम्बना या पिछड़न का सिद्धान्त 31
1.18 मनोवैज्ञानिक कारक 32
1.19 राजनीतिक तथा सैनिक कारक 33
1.20 वैचारिक कारक 33
1.21 महान लोगों की भूमिका 34
1.22 सामाजिक परिवर्तन के अन्तर्जात और बहिर्जात स्रोत 34
1.23 सामाजिक परिवर्तन के अवरोधक कारक 35
1.24 तकनीकी (प्रौद्योगिकी) 36
1.25 तकनीकी (प्रौद्योगिकी) एवं सामाजिक परिवर्तन 37
1.26 तकनीकी (प्रौद्योगिकी) के प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष प्रभाव 40
1.27 सारांश 42
1.28 अभ्यास-प्रश्न 43
1.29 सन्दर्भ पुस्तकें 43

इकाई–2: सामाजिक परिवर्तन के सिद्धांत 44–78

2.1 उद्देश्य 45
2.2 प्रस्तावना 45
2.3 सामाजिक परिवर्तन के रेखीय सिद्धांत 45

2.4 सामाजिक परिवर्तन के चक्रीय सिद्धांत 50
2.5 उद्विकास का अर्थ एवं परिभाषा 55
2.6 उद्विकास की विशेषताएँ 56
2.7 डार्विन का उद्विकासीय सिद्धांत 57
2.8 सामाजिक उद्विकास 57
2.9 समाज और संस्कृति का उद्विकास 58
2.10 आर्थिक जीवन का उद्विकास 59
2.11 पारिवारिक जीवन का उद्विकास 60
2.12 सामाजिक उद्विकास की वास्तविकता (समालोचना) 61
2.13 सामाजिक उद्विकास के कारक 62
2.14 उद्विकास के स्वरूप 62
2.15 सामाजिक उद्विकास एवं सामाजिक परिवर्तन 63
2.16 सामाजिक प्रगति का अर्थ एवं परिभाषा 64
2.17 सामाजिक प्रगति की विशेषताएँ एवं मापदंड 65
2.18 सामाजिक प्रगति में सहायक दशाएँ 66
2.19 रूपान्तरण या परिवर्तन 68
2.20 विकास 70
2.21 क्रान्ति 72
2.22 क्रान्ति के कारण एवं परिणाम 74
2.23 सारांश 77
2.24 अभ्यास-प्रश्न 78
2.25 संदर्भ पुस्तकें 78

इकाई–3: सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया 79–107

3.1 उद्देश्य 79
3.2 प्रस्तावना 80
3.3 संस्कृतीकरण 80
3.4 पश्चिमीकरण का अर्थ 82
3.5 पश्चिमीकरण की विशेषताएँ (लक्षण) 83
3.6 पश्चिमीकरण एवं सामाजिक परिवर्तन : कुछ प्रभाव 84
3.7 आधुनिकीकरण 88
3.8 आधुनिकीकरण : परिवर्तन की एजेंसियाँ, मास मीडिया, शिक्षा और संचार 92
3.9 एथनिसिटी, सांस्कृतिक पहचान और परिवर्तन 93
3.10 आधुनिकीकरण और परिवर्तन की समस्याएँ 94
3.11 औद्योगीकरण एवं शहरी विकास 94
3.12 वैश्वीकरण का अर्थ एवं परिभाषा 97
3.13 वैश्वीकरण सिद्धान्त 98
3.14 वैश्वीकरण के पहलू 99
3.15 वैश्वीकरण के प्रभाव 101
3.16 सारांश 106
3.17 अभ्यास-प्रश्न 107
3.18 संदर्भ पुस्तकें 107

इकाई–4: सामाजिक नियंत्रण 108–132

4.1 उद्देश्य 108

4.2 प्रस्तावना 109
4.3 सामाजिक नियन्त्रण 109
4.4 सामाजिक नियन्त्रण की अवधारणा 110
4.5 समाजीकरण एवं सामाजिक नियन्त्रण 111
4.6 सामाजिक नियन्त्रण के स्वरूप (प्रकार) 113
4.7 औपचारिक सामाजिक नियन्त्रण 115
4.8 औपचारिक नियन्त्रण के साधन 116
4.9 अनौपचारिक सामाजिक नियन्त्रण 118
4.10 औपचारिक तथा अनौपचारिक नियन्त्रण में अन्तर 119
4.11 सामाजिक नियन्त्रण के साधन तथा अभिकरण 120
4.12 सामाजिक नियन्त्रण में कानून की भूमिका 123
4.13 सामाजिक नियन्त्रण में राज्य की भूमिका 125
4.14 सामाजिक नियन्त्रण में धर्म की भूमिका 128
4.15 नैतिकता एवं सामाजिक नियन्त्रण 130
4.16 सामाजिक नियन्त्रण के साधन के रूप में शिक्षा की भूमिका 130
4.17 सारांश 131
4.18 अभ्यास-प्रश्न 132
4.19 सन्दर्भ पुस्तकें 132

नोट

इकाई–1: सामाजिक परिवर्तन: अर्थ, प्रकृति एवं कारक (Social Change: Meaning, Nature and Factors)

संरचना (STRUCTURE)

1.1 उद्देश्य (Objectives)

1.2 प्रस्तावना (Introduction)

1.3 सामाजिक परिवर्तन (Social Change)

1.4 सामाजिक परिवर्तन की विशेषताएँ (प्रकृति) (Characteristics (Nature) of Social Change)

1.5 सामाजिक परिवर्तन के प्रकार (Forms of Social Change)

1.6 समकालीन भारत में सामाजिक परिवर्तन (Social Change in Contemporary India)

1.7 सामाजिक परिवर्तन के प्राकृतिक या भौगोलिक कारक (Natural or Geographical Factors of Social Change)

1.8 सामाजिक परिवर्तन के प्राणिशास्त्रीय (जैविकीय) कारक (Biological Factors of Social Change)

1.9 सामाजिक परिवर्तन के जनसंख्यात्मक कारक (Population Factors of Social Change)

1.10 सामाजिक परिवर्तन के आर्थिक कारक (Economic Factors of Social Change)

1.11 आर्थिक कारक और सामाजिक परिवर्तन (Economic Factors and Social Change)

1.12 धार्मिक कारक (Religious Factors)

1.13 प्रोटेस्टेंट आचार और पूँजीवाद का विकास (Protestant Ethics and Rise of Capitalism)

1.14 सांस्कृतिक कारक (Cultural Factors)

1.15 सांस्कृतिक कारक और सामाजिक परिवर्तन (Cultural Factors and Social Change)

1.16 संस्कृति का समाज एवं मानव जीवन पर प्रभाव (Culture's Impact on Society and Human Life)

1.17 सांस्कृतिक विलम्बना या पिछड़न का सिद्धान्त (Theory of Cultural Lag)

1.18 मनोवैज्ञानिक कारक (Psychological Factors)

1.19 राजनीतिक तथा सैनिक कारक (Political and Military Factors)

1.20 वैचारिक कारक (The Ideological Factors)

1.21 महान लोगों की भूमिका (The Role of Greatmen)

1.22 सामाजिक परिवर्तन के अन्तर्जात और बहिर्जात स्रोत (Indogenous and Exogenous Sources to Social change)

1.23 सामाजिक परिवर्तन के अवरोधक कारक (Resistance Factor of Social Change)

1.24 तकनीकी (प्रौद्योगिकी) (Technology)
1.25 तकनीकी (प्रौद्योगिकी) एवं सामाजिक परिवर्तन (Technology and Social Change)
1.26 तकनीकी (प्रौद्योगिकी) के प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष प्रभाव (Direct and Indirect Effects of Technology)
1.27 सारांश (Summary)
1.28 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)
1.29 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

1.1 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- सामाजिक परिवर्तन के अर्थ को समझना।
- सामाजिक परिवर्तन की विशेषता तथा प्रकारों की जानकारी।
- सामाजिक परिवर्तन के भौगोलिक तथा जैविकीय कारक को समझना।
- सामाजिक परिवर्तन के जनसंख्यात्मक कारक तथा आर्थिक कारक को समझना।
- सामाजिक परिवर्तन के सांस्कृतिक तथा प्रौद्योगिकीय कारक की जानकारी प्राप्त करना।

1.2 प्रस्तावना (Introduction)

संसार में प्रत्येक वस्तु : जीव-निर्जीव, भौतिक-अभौतिक, पेड़-पौधे, मानव समाज और संस्कृति सभी परिवर्तनशील हैं। परिवर्तन प्रकृति और समाज का सर्वकालिक और सार्वभौमिक नियम है। पहले की तुलना में आज विश्व में सामाजिक परिवर्तन बहुत तीव्र गति से हो रहे हैं। नगरीय और विकसित समाजों में ग्रामीण और अविकसित समाजों की तुलना में परिवर्तन की गति बहुत तेज है। ये परिवर्तन बहु-आयामी हैं। मैकाइवर और पेज ने लिखा है कि जिसे हम समाज कहते हैं वह एक निरन्तर परिवर्तित होती रहने वाली जटिल व्यवस्था है। यह सामाजिक सम्बन्धों का जाल है और यह हमेशा बदलता रहता है। आज तक कोई भी ऐसा समाज नहीं देखा गया है जो परिवर्तनशील न हो।

1.3 सामाजिक परिवर्तन (Social Change)

परिवर्तन प्रकृति का एक शाश्वत एवं अटल नियम है। मानव समाज भी उसी प्रकृति का अंग होने के कारण परिवर्तनशील है। समाज की इस परिवर्तनशील प्रकृति को स्वीकार करते हुए **मैकाइवर** लिखते हैं, "समाज परिवर्तनशील एवं गत्यात्मक है।" बहुत समय पूर्व ग्रीक विद्वान **हेरेक्लिटिस** ने भी कहा था, "सभी वस्तुएँ परिवर्तन के बहाव में हैं।" उसके बाद भी इस बात पर बहुत विचार किया जाता रहा है कि मानव की क्रियाएँ क्यों और कैसे परिवर्तित होती हैं? समाज के वे क्या विशिष्ट स्वरूप हैं जो व्यवहार में परिवर्तन को प्रेरित करते हैं? समाज में आविष्कार परिवर्तन कैसे लाते हैं एवं आविष्कार करने वालों की शारीरिक विशेषताएँ क्या होती हैं? परिवर्तन को शीघ्र ग्रहण करने एवं ग्रहण न करने वालों की शरीर रचना में क्या भिन्नता होती है? क्या परिवर्तन किसी निश्चित दिशा से गुजरता है? यह दिशा रेखीय है या चक्रीय? परिवर्तन के सन्दर्भ में इस प्रकार के अनेक प्रश्न उठाये गये तथा उनका उत्तर देने का प्रयास किया गया। मानव में परिवर्तन को समझने के प्रति जिज्ञासा पैदा हुई। उसने परिवर्तनों के कारणों को ढूंढने, उनकी दिशा का पता लगाने और परिवर्तनों पर नियन्त्रण पाने का प्रयास किया।

परिवर्तन क्यों और कैसे होते हैं, ये प्रश्न आज भी पूरी तरह हल नहीं हो पाये हैं।

अंग्रेज **कवि लॉर्ड टेनिसन** का मत है कि 'प्राचीन क्रम में नये को स्थान देने के लिए परिवर्तन होता है।' **प्रो. ग्रीन** लिखते हैं, "सामाजिक परिवर्तन इसलिए होता है क्योंकि प्रत्येक समाज सन्तुलन के निरन्तर दौर से गुजर रहा है।

कुछ व्यक्ति एक सम्पूर्ण सन्तुलन की इच्छा रख सकते हैं तथा कुछ इसके लिए प्रयास भी करते हैं।" सामाजिक परिवर्तन एक अवश्यम्भावी तथ्य है। इसकी निश्चितता को प्रकट करते हुए **प्रो. डेविस** कहते हैं, "हम स्थायित्व एवं सुरक्षा के लिए निरन्तर प्रयत्नशील हो सकते हैं, समाज के स्थायित्व का भ्रम चारों ओर फैलाया जा सकता है, निश्चयात्मक के प्रति खोज निरन्तर बनी रह सकती है और विश्व अनन्त है–इस विषय में हमारा विश्वास दृढ़ हो सकता है, लेकिन यह तथ्य सदैव विद्यमान रहने वाला है कि विश्व के अन्य तत्वों की तरह समाज अपरिहार्य रूप से और बिना किसी छूट के सदैव परिवर्तित होता रहता है।"

परिवर्तन का सामान्य तात्पर्य है–किसी क्रिया अथवा वस्तु की पहले की स्थिति में बदलाव आ जाना। परिवर्तन को स्पष्ट करते हुए **फिचर** लिखते हैं, "संक्षेप में, परिवर्तन पहले की अवस्था या अस्तित्व के प्रकार में अन्तर को कहते हैं।" परिवर्तन का सम्बन्ध प्रमुख रूप से तीन बातों से है–(1) वस्तु, (2) समय एवं (3) भिन्नता।

1. **वस्तु** (Object)—**परिवर्तन का सम्बन्ध किसी-न-किसी विषय अथवा वस्तु से होता है। जब हम कहते हैं कि परिवर्तन आ रहा है तब हमें यह भी स्पष्ट करना होता है कि परिवर्तन किस वस्तु अथवा विषय में आ रहा है।** बिना वस्तु को बताये हम परिवर्तन का अध्ययन नहीं कर सकते।
2. **समय** (Time)—परिवर्तन का समय से घनिष्ठ सम्बन्ध है। परिवर्तन को प्रकट करने के लिए हमारे पास कम-से-कम दो समय होने चाहिए। एक ही समय में परिवर्तन की चर्चा नहीं की जा सकती। उदाहरण के लिए, हम कहते हैं कि भारत वैदिक-काल की तुलना में वर्तमान समय में बहुत कुछ बदल गया है। समय के सन्दर्भ में ही परिवर्तन ज्ञात होता है। समय की अवधारणा को सम्मिलित किये बिना कोई भी परिवर्तन के बारे में सोच भी नहीं सकता।
3. **भिन्नता** (Variation)—विभिन्न समयों में यदि किसी वस्तु में भिन्नता नहीं आये तो परिवर्तन नहीं कहलायेगा। वस्तु के स्वरूप में यदि समय के साथ अन्तर न आये तो हम यही कहेंगे कि परिवर्तन नहीं हुआ है, अत: वस्तु के रंग-रूप, आकार-प्रकार, संरचना, कार्य अथवा अन्य पक्षों में भिन्नता प्रकट होने पर ही हम परिवर्तन का अध्ययन कर सकते हैं।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि **किसी वस्तु में दो समय में दिखायी देने वाली भिन्नता ही परिवर्तन है।** परिवर्तन एक सार्वभौमिक प्रक्रिया है जो सभी कालों एवं स्थानों में घटित होती रहती है। परिवर्तन के कारण किसी वस्तु के समस्त ढांचे में बदलाव आ सकता है अथवा उसका कोई एक पक्ष ही बदल सकता है। परिवर्तन किसी भी दिशा में हो सकता है। परिवर्तन स्वत: आ सकता है अथवा जान-बूझकर योजनाबद्ध रूप से भी लाया जा सकता है। यह अच्छाई एवं बुराई की तरफ तथा तीव्र एवं मन्द किसी भी गति से हो सकता है।

सामाजिक परिवर्तन का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and definition of social change)–सामाजिक परिवर्तन से तात्पर्य समाज में घटित होने वाले परिवर्तन से है। प्रारम्भ से समाजशास्त्रियों ने उद्विकास, प्रगति व सामाजिक परिवर्त्तन तीनों अवधारणाओं को एक ही अर्थ में माना था किन्तु कालान्तर में सन् 1922 में ऑगबर्न ने इनमें विद्यमान विभेद को स्पष्ट किया। उसके बाद समाजशास्त्रीय शब्दावली में इनका प्रयोग अत्यधिक रूप में होने लगा। अब सामाजिक परिवर्तन का क्या अर्थ है इस पर विद्वानों द्वारा दिए गए विचारों पर प्रकाश डाला जाएगा जिससे सामाजिक परिवर्तन की अवधारणा को स्पष्ट रूप से समझा जा सके।

मैकाइवर एवं पेज के अनुसार, "समाजशास्त्री होने के नाते हमारी रुचि सामाजिक सम्बन्धों में है। केवल इन सामाजिक सम्बन्धों में होने वाले परिवर्तन को ही सामाजिक परिवर्तन कहते हैं।" इस प्रकार मैकाइवर एवं पेज समाज को 'सामाजिक सम्बन्धों का जाल' कहते हैं। अत: सामाजिक-परिवर्तन–सामाजिक-सम्बन्धों में होने वाले परिवर्तन का नाम है।

किंग्सले डेविस के मत में, "सामाजिक परिवर्तन से हम केवल उन्हीं परिवर्तनों को समझते हैं जो सामाजिक संगठन अर्थात् समाज के ढाँचे और प्रकार्यों में घटित होते हैं।" इस प्रकार डेविस ने सामाजिक परिवर्तन को पूर्णत: संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक दृष्टि से देखा है अर्थात् उनके मत में सामाजिक परिवर्तन तभी माना जाता है जब समाज की विभिन्न इकाइयों जैसे–संस्थाओं, समुदायों, समितियों, समूहों आदि में परिवर्तन होता है तथा साथ ही इन परिवर्तनों से इनके प्रकार्यों में भी परिवर्तन आता है।

जेन्सन के मत में, "सामाजिक परिवर्तन को लोगों के कार्य करने तथा विचार करने के तरीकों में होने वाले रूपान्तरण के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।" इस प्रकार जेन्सन सामाजिक परिवर्तन के अन्तर्गत मानव के व्यवहार एवं विचारों में होने वाले परिवर्तनों को सम्मिलित करते हैं।

जॉनसन के मतानुसार, "अपने मूल अर्थ में सामाजिक परिवर्तन का अर्थ सामाजिक ढाँचे में परिवर्तन है।" जॉनसन ने कहा है कि सामाजिक मूल्यों, संस्थाओं, सम्पदाओं और पुरस्कारों, व्यक्तियों तथा उनकी अभिवृत्तियों एवं योग्यताओं में होने वाले परिवर्तन को भी सामाजिक परिवर्तन कहा जा सकता है।

बॉटोमोर के अनुसार, सामाजिक परिवर्तन के अन्तर्गत उन परिवर्तनों को सम्मिलित किया जा सकता है जो सामाजिक संरचना, सामाजिक संस्थाओं अथवा उनके पारस्परिक सम्बन्धों में घटित होते हैं।

उपर्युक्त सभी परिभाषाओं के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि सामाजिक परिवर्तन में वे परिवर्तन सम्मिलित होते हैं जो मानवीय क्रियाओं, सामाजिक प्रक्रियाओं, व्यवहारों, संस्थाओं, प्रथाओं, प्रकार्यों अथवा सामाजिक ढाँचे आदि में होते हैं। सामाजिक परिवर्तन में निम्नलिखित तथ्यों को लिया जा सकता है–

(1) सामाजिक परिवर्तन समाज की संरचना एवं उसके प्रकार्यों में परिवर्तन को कहते हैं।

(2) सामाजिक परिवर्तन व्यक्ति विशेष अथवा कुछ ही व्यक्तियों में आये परिवर्तन से नहीं माना जाता, बल्कि समाज के अधिकांश अथवा सभी व्यक्तियों द्वारा उसे जीवन-विधि व विश्वासों में स्वीकार किए जाने पर माना जाता है।

(3) सामाजिक परिवर्तन एक सार्वभौमिक सत्य है अर्थात् प्रत्येक काल में परिवर्तन होता रहता है।

(4) सामाजिक परिवर्तन मानव के सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन से सम्बन्धित है।

1.4 सामाजिक परिवर्तन की विशेषताएँ (प्रकृति) (Characteristics (Nature) of Social Change)

विभिन्न विद्वानों ने सामाजिक परिवर्तन की अनेक विशेषताएँ बताई हैं जो इसकी अवधारणा को और अधिक स्पष्ट करती हैं। ये विशेषताएँ अग्रलिखित हैं–

1. **सामाजिक प्रकृति** (Social nature)–सामाजिक परिवर्तन का सम्बन्ध सम्पूर्ण समाज में होने वाले परिवर्तन से होता है न कि व्यक्तिगत स्तर पर हुए परिवर्तन को सामाजिक परिवर्तन कहा जा सकता है। अर्थात् जब सम्पूर्ण समाज की इकाइयों; जैसे–जाति, समूह, समुदाय आदि के स्तर पर परिवर्तन आता है तभी उसे सामाजिक परिवर्तन की संज्ञा दी जाती है। किसी एक इकाई में होने वाले परिवर्तन को सामाजिक परिवर्तन नहीं कह सकते।

2. **सार्वभौमिक घटना** (Universal phenomenon)–सामाजिक परिवर्तन सार्वकालिक एवं सार्वभौमिक है। विश्व का कोई ऐसा समाज नहीं जहाँ परिवर्तन न हुआ हो। यद्यपि विभिन्न समाजों में परिवर्तन की गति एवं स्वरूप भिन्न हो सकता है क्योंकि कोई भी दो समाज एक जैसे नहीं होते; उनके इतिहास, संस्कृति, प्रकृति आदि में इतनी भिन्नताएँ होती हैं कि कोई एक-दूसरे का प्रतिरूप नहीं हो सकता; जैसे–आदिम समाजों में परिवर्तन की गति अत्यधिक धीमी होती है, दूसरी ओर पश्चिमी देशों में विशेष रूप से अमेरिका में सामाजिक परिवर्तन की गति अत्यधिक तीव्र है। परिवर्तन प्रकृति का शाश्वत सत्य है अत: समाज के स्तर पर यह सभी कालों में व सभी समाजों में किसी न किसी रूप में होता अवश्य है।

3. **स्वाभाविक एवं अवश्यम्भावी** (Natural and invitable)–परिवर्तन चूँकि प्रकृति का शाश्वत सत्य है, आवश्यक रूप से होता है अत: यह एक स्वाभाविक प्रक्रिया कही जा सकती है। समाज भी स्वाभाविक रूप से परिवर्तित होता रहता है। प्राय: मानव स्वभाव परिवर्तन का विरोधी होता है लेकिन फिर भी परिवर्तन तो होता ही है क्योंकि व्यक्ति की आवश्यकताएँ, इच्छाएँ, परिस्थितियाँ स्वाभाविक रूप से परिवर्तन के लिए उत्तरदायी होती हैं। उदाहरण के लिए, प्राचीन समय में मकानों की बनावट भिन्न प्रकार की होती थी लेकिन आधुनिक समय में जबकि सभी कामों के लिए मशीनों पर निर्भर रहना पड़ता है; स्वाभाविक रूप से ही मकानों के ढाँचे में बदलाव आ गया; जिसका आना अवश्यम्भावी था, अर्थात् मानव अपनी बदलती परिस्थिति से समायोजन करने के लिए अनिवार्य रूप से परिवर्तन को स्वीकार कर लेता है। यह एक स्वाभाविक घटना है।

नोट

4. तुलनात्मक एवं असमान गति (Comparative and unequal speed)–सामाजिक परिवर्तन सभी समाजों में पाया जाता है किन्तु सभी समाजों में इसकी गति अलग-अलग होती है। ग्रामीण समाजों में परिवर्तन बड़ी मन्द गति से आता है। इसका कारण यह होता है कि वहाँ परिवर्तन लाने वाले कारक भिन्न प्रकार के होते हैं जबकि शहरी समाज में परिवर्तन तेज गति से आता है।

इन दोनों स्थानों में आए परिवर्तन को तुलना द्वारा ही बताया जा सकता है कि किस स्थान पर कितना परिवर्तन आया। उदाहरण के लिए–आदिम समाजों की तुलना में शहरी समाज में सामाजिक परिवर्तन तीव्र गति से होता है। शहरी क्षेत्र में तकनीकी विकास आदिम क्षेत्र की तुलना में तीव्र गति से हो रहा है। यहाँ हम दोनों समाजों में हुए सामाजिक परिवर्तन की तुलना करके ही उनकी असमान गति का अनुमान लगा पा रहे हैं। सामाजिक परिवर्तन देश, काल, परिस्थितियों से भी घनिष्ठतया सम्बन्धित है अर्थात् हर देश की परिस्थितियाँ असमान होती हैं अत: हर देश में सामाजिक परिवर्तन भी असमान गति से होता है जिसे तुलनात्मक रूप से ही जाना जा सकता है।

5. जटिल प्रघटना (Complex phenomenon)–दो समाजों में हुए परिवर्तनों की तुलना के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि सामाजिक परिवर्तन हुआ है किन्तु कितना या किस स्तर का? इसकी माप-तोल सम्भव नहीं होती। उदाहरण के लिए–आज के विचार, मूल्य, परम्पराएँ, रीतिरिवाज प्राचीन समय से भिन्नता लिए हुए हैं लेकिन कितना अन्तर है इसको मापा नहीं जा सकता क्योंकि परिवर्तन गुणात्मक रूप में होता है। अत: सामाजिक परिवर्तन की विशेषता यह है कि यह एक जटिल तथ्य है, सरलता से इसका रूप नहीं समझा जा सकता।

6. भविष्यवाणी असम्भव (Prediction impossible)–परिवर्तन होता तो अवश्य है लेकिन वह किस दिशा में होगा? किस रूप में होगा? किस स्थान पर होगा? आदि स्पष्ट नहीं होता। उदाहरण के लिए–तकनीकी विकास का प्रभाव सम्पूर्ण देश पर पड़ा है। रहन-सहन, भोजन-व्यवस्था, आवागमन, भौतिक सुख-सुविधा आदि अनेक क्षेत्र इससे प्रभावित हैं लेकिन व्यक्तियों के विचार, विश्वास, मूल्य किस सीमा तक इससे प्रभावित हैं और होंगे इसकी भविष्यवाणी असम्भव नहीं तो दुष्कर कार्य अवश्य है। औद्योगीकरण और नगरीकरण ने संयुक्त परिवार, विवाह, जाति प्रथा आदि अनेक क्षेत्रों को प्रभावित किया है जिसके सम्पूर्ण प्रभाव के विषय में निश्चित भविष्यवाणी नहीं की जा सकती। केवल पूर्वानुमान लगाया जा सकता है।

विलबर्ट मूर ने आधुनिक समाजों में सामाजिक परिवर्तन की निम्नांकित विशेषताओं का उल्लेख किया है :

1. सामाजिक परिवर्तन एक अपवाद नहीं वरन् अनिवार्य नियम है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि सामाजिक परिवर्तन के अन्तर्गत सामाजिक संरचना के सभी तत्व पूर्ण रूप से बदल जाते हैं अपितु इसका अर्थ यह है कि सामाजिक संरचना के किसी-न-किसी अंग में परिवर्तन अवश्य होता है। सामाजिक पुनर्निर्माण की अवधि में इसकी गति सबसे अधिक रहती है।
2. पहले के समाजों की तुलना में आधुनिक समाजों में परिवर्तन होते हैं और उन परिवर्तनों को आज हम अधिक स्पष्ट रूप में देख भी सकते हैं।
3. यद्यपि परिवर्तन का फैलाव सामाजिक जीवन के सभी क्षेत्रों में देखा जा सकता है, फिर भी विचारों और संस्थाओं में परिवर्तन की जो गति है, उससे कहीं तेज गति भौतिक वस्तुओं के क्षेत्र में देखने को मिलती है।
4. स्वाभाविक ढंग से एवं सामान्य गति से जो परिवर्तन होते हैं, उनका प्रभाव हमारे विचारों तथा सामाजिक संरचना पर अधिक पड़ता है।
5. सामाजिक परिवर्तन के सम्बन्ध में अनुमान लगाया जा सकता है, किन्तु उसके बारे में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।
6. सामाजिक परिवर्तन गुणात्मक होता है अर्थात् सामाजिक परिवर्तन के अन्तर्गत एक स्थिति दूसरी स्थिति को परिवर्तित करती है और यह क्रम तब तक चलता रहता है जब तक इसके अच्छे या बुरे प्रभावों से सम्पूर्ण समाज परिचित नहीं हो जाता।
7. आधुनिक समाजों में सामाजिक परिवर्तन न तो मनमाने ढंग से किया जाता है और न ही उसे प्राकृतिक नियमों पर स्वतन्त्र व असंगठित छोड़ दिया जाता है। साधारणत: प्रत्येक समाज में सामाजिक नियोजन के द्वारा इसे नियन्त्रित कर इच्छित उद्देश्यों की पूर्ति की दिशा में क्रियाशील बनाया जाता है।

नोट

सामाजिक परिवर्तन के विभिन्न प्रतिमान (Patterns of Social Change)

सामाजिक परिवर्तन निरन्तर पूर्व कथन करने में इतना कठिन और अनेक मुखी है कि यदि हम इसे ठीक से समझना चाहते हैं तो हमें उसकी व्यवस्था का पता लगाना होगा। विभिन्न क्षेत्रों में एक विशिष्ट ढंग का परिवर्तन देखने को मिलता है। **मैकाइवर** तथा **पेज** ने इस दृष्टि से सामाजिक परिवर्तन के तीन प्रमुख प्रतिमानों का उल्लेख किया है :

प्रथम प्रतिमान–परिवर्तन का एक प्रतिमान यह है कि कई बार परिवर्तन यकायक हमारे सामने प्रकट होते हैं। इस श्रेणी में हम आविष्कारों से उत्पन्न परिवर्तनों को रख सकते हैं। इस प्रकार के परिवर्तन एक बार उत्पन्न होते हैं, फिर वे आगे और भी परिवर्तन उत्पन्न करते रहते हैं क्योंकि इन आविष्कारों में समय-समय पर कई लोगों द्वारा सुधार किये जाते हैं। रेडियो, टेलीफोन, वायुयान और मोटर आदि के आविष्कारों के कारण उत्पन्न परिवर्तन केवल आकस्मिक नहीं वरन् गुणात्मक रूप से अनेक परिवर्तनों को जन्म देने वाले भी हैं। ये परिवर्तन तब तक होते रहते हैं जब तक कि किसी अच्छे एवं नवीन उपकरण का आविष्कार नहीं हो जाता। इस प्रकार के परिवर्तन को **रेखीय परिवर्तन** (Linear change) कहते हैं क्योंकि ऐसे परिवर्तन की दिशा एक सीधी रेखा के रूप में होती है। प्रौद्योगिकी में परिवर्तन इसी प्रकार के परिवर्तन का स्पष्ट उदाहरण है। यही बात ज्ञान एवं विज्ञान के क्षेत्र में होने वाले परिवर्तनों के लिए भी सही है। इस प्रकार के परिवर्तन को यदि हम एक रेखा चित्र द्वारा प्रकट करें तो इसकी प्रकृति सदैव एक दिशा में ऊपर जाती हुई प्रकट होती है।

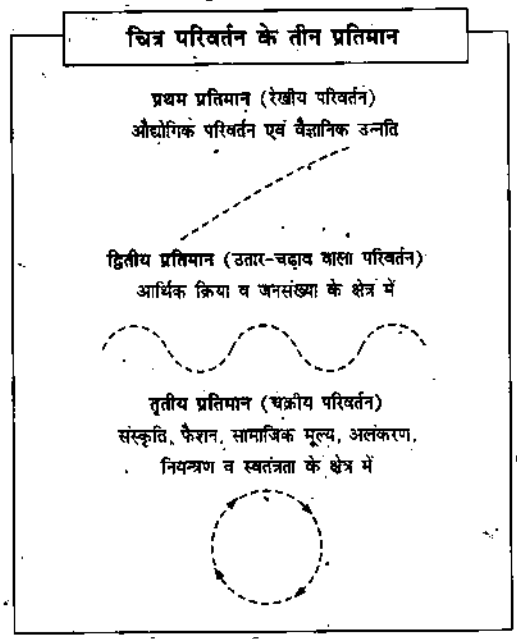

द्वितीय प्रतिमान–परिवर्तन का दूसरा प्रतिमान वह है जिसमें कुछ समय तक तो परिवर्तन ऊपर की ओर अथवा प्रगति की ओर होता है, किन्तु थोड़े समय बाद वह पुनः ह्रास की ओर अथवा नीचे की ओर हो सकता है। अन्य शब्दों में, परिवर्तन का दूसरा प्रतिमान वह है जिसमें परिवर्तन पहले ऊपर की ओर होता है और फिर नीचे की ओर। इसे हम **उतार-चढ़ाव वाला** अथवा तरंगीय (wave-like) परिवर्तन कह सकते हैं। इस प्रकार के परिवर्तन के कई उदाहरण दिये जा सकते हैं, जैसे, जनसंख्या सम्बन्धी परिवर्तन एवं आर्थिक क्रियाओं में होने वाले परिवर्तन। हम देखते हैं कि राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार उन्नत और अवनत होते रहते हैं। व्यापारिक क्रियाएँ अन्ततः विकसित और अवनत होती रहती हैं। इस प्रकार प्रथम प्रकार के परिवर्तन में जहाँ इस बात की निश्चितता होती है कि परिवर्तन की दिशा एक होगी, वहीं दूसरे प्रकार के परिवर्तन में इस प्रकार की निश्चितता नहीं होती। सोरोकिन की मान्यता है कि सामाजिक परिवर्तन संस्कृति में उतार-चढ़ाव आने के कारण होता है।

तृतीय प्रतिमान–दूसरे प्रकार के परिवर्तन के कुछ समान ही तृतीय प्रकार का परिवर्तन है। इस प्रकार के परिवर्तन को हम **चक्रीय परिवर्तन** (cycle change) कह सकते हैं। कई विद्वानों की यह मान्यता है कि परिवर्तन का एक चक्र चलता है। इसे स्पष्ट करने के लिए वे प्रकृति से उदाहरण देते हैं। ऋतु चक्र में हम देखते हैं कि सर्दी, गर्मी

नोट

एवं वर्षा का एक चक्रीय क्रम पाया जाता है। मनुष्य में भी जन्म, बाल्यावस्था, यौवन एवं मृत्यु का चक्र देखने को मिलता है। कई विद्वानों की मान्यता है कि समाज एवं सभ्यताएँ भी इसी प्रतिमान का अनुगमन करती हैं। मानव क्रियाओं, व्यवहारों, राजनीतिक आन्दोलनों एवं जनसंख्या के सुविस्तृत परिवर्तनों में भी यही प्रतिमान देखने को मिलता है। फैशन, सांस्कृतिक आन्दोलन, अलंकरण, सज्जा, सामाजिक मूल्य, लोकाचार, नियन्त्रण एवं स्वतन्त्रता, आदि के क्षेत्र में भी परिवर्तन का यही प्रतिमान पाया जाता है। हम फैशन, प्रथा व लोकाचार को अपनाते हैं, कभी उसे छोड़ देते हैं तो कभी फिर अपना लेते हैं। कभी कठोर नियन्त्रण पर जोर देते हैं, फिर स्वतन्त्रता पर, तो फिर नियन्त्रण पर। इस प्रकार समाज में परिवर्तन एक चक्र की तरह घटित होते रहते हैं, किन्तु आज कई विद्वान चक्रीय परिवर्तन की बात को स्वीकार नहीं करते हैं क्योंकि चक्रीय का तात्पर्य यह है कि हम जहाँ से प्रारम्भ होते हैं घूम-फिरकर पुन: वहीं लौट आते हैं, किन्तु वास्तविकता यह है कि पुन: हम उसी स्थिति में कभी नहीं लौटते, उसमें संशोधन अवश्य हो जाता है। सामाजिक परिवर्तन के इन प्रतिमानों को हम पिछले पृष्ठ पर दिये गये चित्र द्वारा प्रकट कर सकते हैं।

सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाएं अथवा ढंग (Processes or Modes of Social Change)

सामाजिक परिवर्तन एक तटस्थ शब्द है जो समाज में आने वाले बदलाव को विभिन्न कालों के सन्दर्भ में सूचित करता है। जब हम यह कहते हैं कि समाज में परिवर्तन हो रहा है तो इससे परिवर्तन की दिशा, नियम, सिद्धान्त या निरन्तरता प्रकट नहीं होती। मैकाइवर एवं पेज, हरबर्ट स्पेन्सर, हॉबहाउस एवं सोरोकिन आदि ने सामाजिक परिवर्तन की विभिन्न प्रक्रियाओं एवं ढंगों का उल्लेख किया है और विभिन्न समाजशास्त्रीय अवधारणाओं को जन्म दिया है। इन अवधारणाओं में प्रक्रिया (Process), आन्दोलन (Movement), वृद्धि (Growth), उद्विकास (Evolution), विकास (Development), अवनति (Regress), प्रगति (Progress), क्रान्ति (Revolution), अनुकूलन (Adaptation) आदि प्रमुख हैं। इनका उल्लेख 'सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाएँ, ढंग एवं कारक' में किया गया है।

सामाजिक परिवर्तन एवं सांस्कृतिक परिवर्तन (Social Change and Cultural Change)

सामाजिक परिवर्तन की अवधारणा को स्पष्टत: समझने के लिए इसका सांस्कृतिक परिवर्तन से अन्तर समझना आवश्यक है। अनेक विद्वानों ने सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन में कोई भेद नहीं किया है, वे इन्हें समान अर्थों में ही प्रयुक्त करते हैं, इसलिए ही इन दोनों अवधारणाओं में भ्रम पैदा हो जाता है, जबकि वास्तव में ये दोनों दो पृथक-पृथक् अवधारणाएँ हैं। चूंकि 'समाज' और 'संस्कृति' दो भिन्न अवधारणाएँ हैं, अत: सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन में भी अन्तर है।

भ्रान्ति के कारण (Causes of Confusion)

सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन में स्पष्ट अन्तर होते हुए भी इन्हें एक ही समझने का भ्रम इसलिए पैदा हो जाता है क्योंकि कई विद्वानों ने अपनी सामाजिक परिवर्तन की परिभाषा इतनी विस्तृत रूप में की है कि उन्होंने उसमें सांस्कृतिक परिवर्तन की अवधारणा को भी सम्मिलित कर लिया है। इन विद्वानों में मैरिल व एल्ड्रिज, गिलिन व गिलिन तथा डासन व गेटिस आदि प्रमुख हैं। हम इन परिभाषाओं का उल्लेख कर इस तथ्य को स्पष्ट करेंगे :

1. **मैरिल तथा एल्ड्रिज की परिभाषा**–मैरिल एवं एल्ड्रिज ने अपनी परिभाषा में मानवीय क्रियाओं और व्यवहारों में परिवर्तन को सामाजिक परिवर्तन कहा है, जबकि मानव की क्रियाएँ एवं व्यवहार संस्कृति का एक भाग है। अत: यह परिभाषा सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन के भेद को स्पष्ट करने के बजाय उसे उलझा देती है।

2. **गिलिन एवं गिलिन की परिभाषा**–**गिलिन एवं गिलिन** ने जीवन के स्वीकृत तौर-तरीकों में परिवर्तन को सामाजिक परिवर्तन कहा है। सामाजिक व सांस्कृतिक परिवर्तन में भ्रम इसलिए पैदा होता है कि **हर्सकोविट्स** तथा **मैलिनोवस्की** जैसे मानवशास्त्रियों ने 'जीवन पद्धतियों एवं मानव क्रियाओं' को संस्कृति माना है। **मजूमदार एवं मदान** ने भी लोगों के जीने के ढंग को ही संस्कृति कहा है (Mode of life of a people is their culture)। अत: हमारे सामने यह समस्या है कि 'जीवन पद्धतियों एवं मानव क्रियाओं में परिवर्तन' को सामाजिक परिवर्तन कहें या सांस्कृतिक परिवर्तन।

नोट

3. **डासन एवं गेटिस की परिभाषा–डासन** एवं **गेटिस** ने भी सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन में कोई भेद नहीं किया है। वे लिखते हैं, "सांस्कृतिक परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन ही है क्योंकि समस्त संस्कृति अपनी उत्पत्ति, अर्थ एवं प्रयोग में सामाजिक होती है।" इस परिभाषा के दो अर्थ हो सकते हैं :

(*i*). सांस्कृतिक परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन का ही एक अंग है और उसका पृथक् से कोई अस्तित्व नहीं है,

(*ii*) सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन समानार्थक एवं पर्यायवाची है, अत: इन दोनों में कोई अन्तर नहीं है और एक के स्थान पर दूसरे का प्रयोग किया जा सकता है। ये दोनों ही अर्थ त्रुटिपूर्ण हैं।

लेकिन सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन में पर्याप्त अन्तर है। समाज में होने वाले परिवर्तन को सामाजिक परिवर्तन कहते हैं जबकि संस्कृति में होने वाले परिवर्तन को सांस्कृतिक परिवर्तन। इन दोनों के अन्तर को समझने के लिए हमें **समाज एवं संस्कृति के बीच पाये जाने वाले अन्तर को समझना होगा।** समाज का निर्माण सामाजिक सम्बन्धों से होता है जिनका निर्धारण व्यक्ति की सामाजिक प्रस्थिति एवं भूमिका द्वारा होता है। संस्कृति की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए ऑगबर्न कहते हैं कि संस्कृति का निर्माण मानव निर्मित भौतिक एवं अभौतिक वस्तुओं एवं तथ्यों से होता है। इस प्रकार संस्कृति के भौतिक एवं अभौतिक दो पक्ष हैं। **भौतिक संस्कृति** में वे सारी वस्तुएं आती हैं जो मूर्त हैं, जिनका आकार-प्रकार होता है, जिन्हें हम देख और छू सकते हैं। घड़ी, पेन, रेडियो, मोटर, रेल, मशीनें, पुस्तक, टेबल, बर्तन, आदि हजारों वस्तुएं हैं जिनका निर्माण मानव ने किया है।

अभौतिक संस्कृति वह है जिसे हम न देख सकते हैं और न छू सकते हैं और न ही माप-तौल सकते हैं, वरन् महसूस मात्र कर सकते हैं, जैसे, कला, ज्ञान, विज्ञान, धर्म, दर्शन, प्रथाएं, जनरीतियां, लोकाचार, कानून आदि ये सभी अभौतिक संस्कृति के भाग हैं। **सामाजिक परिवर्तन का सम्बन्ध संस्कृति के अभौतिक पक्ष से है जबकि सांस्कृतिक परिवर्तन का सम्बन्ध संस्कृति के भौतिक एवं अभौतिक दोनों पक्षों से है।** इस प्रकार सामाजिक परिवर्तन सांस्कृतिक परिवर्तन का एक अंग है तथा सांस्कृतिक परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन से अधिक व्यापक है। सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन को हम एक उदाहरण द्वारा प्रकट कर सकते हैं। औद्योगीकरण एवं यातायात के नवीन साधनों के प्रभाव के कारण भारत में संयुक्त परिवार विघटित हो रहे हैं, उनके स्थान पर छोटे-छोटे परिवार बन रहे हैं, स्त्रियों की सामाजिक प्रस्थिति ऊंची उठी है, प्राचीन जाति-प्रथा के नियमों एवं छुआछूत में शिथिलता आयी है, श्रम संगठनों के कारण मालिक व मजदूरों के सम्बन्धों में परिवर्तन हुआ है। ये सभी सामाजिक परिवर्तन हैं। दूसरी ओर सांस्कृतिक परिवर्तनों का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। यातायात के लिए बैलगाड़ी के स्थान पर रेल, वायुयान और जहाज का प्रयोग, मकान की नयी डिजाइन, कपड़े का नया फैशन, केश-विन्यास के नये रूप, गृह-सज्जा के नये तरीके, हथकरघों के स्थान पर मशीनों द्वारा कपड़े का उत्पादन, हिप्पीवाद का उदय, श्रम-कल्याण के कानूनों का निर्माण, सड़क के नियम आदि सभी सांस्कृतिक परिवर्तन के उदाहरण हैं।

सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन के बीच पाये जाने वाले भेद कई विद्वानों द्वारा स्पष्ट किये गये हैं। इस सन्दर्भ में डेविस लिखते हैं, **सामाजिक परिवर्तन से हमारा अभिप्राय केवल उन परिवर्तनों से है जो सामाजिक संगठन में होते हैं अर्थात् समाज की संरचना एवं समाज के कार्यों में होने वाले परिवर्तन से है। सांस्कृतिक परिवर्तन में वे सब परिवर्तन शामिल होते हैं जो संस्कृति की किसी शाखा में होते हैं, जैसे कला, विज्ञान, साहित्य, दर्शन, फैशन, कानून आदि में तथा सामाजिक संगठन के रूपों और नियमों में होने वाले परिवर्तन।** इस प्रकार सांस्कृतिक परिवर्तन की परिधि सामाजिक परिवर्तन की अपेक्षा कहीं अधिक विस्तृत होती है। **पारसन्स** ने सामाजिक व सांस्कृतिक परिवर्तन के भेद को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि **सांस्कृतिक परिवर्तन का सम्बन्ध केवल विभिन्न मूल्यों, विचारों और प्रतीकात्मक अर्थपूर्ण व्यवस्थाओं में परिवर्तन से है जबकि सामाजिक परिवर्तन का सम्बन्ध व्यक्ति और समाज के बीच होने वाली अन्त:क्रियाओं के परिवर्तन से है।** इसमें भेद स्पष्ट करते हुए **मैकाइवर** एवं **पेज** लिखते हैं, **"सामाजिक परिवर्तन सांस्कृतिक परिवर्तन से भिन्न हैं...एक समाजशास्त्री होने के नाते हमारा प्रत्यक्ष सम्बन्ध सामाजिक सम्बन्धों से ही है। केवल सामाजिक सम्बन्धों में होने वाले परिवर्तनों को ही सामाजिक परिवर्तन कहेंगे।** विचारधारा, शासन पद्धति, प्रौद्योगिकी आदि में परिवर्तन सांस्कृतिक परिवर्तन है। कला, धर्म, साहित्य, केश-विन्यास, कपड़े का फैशन, फर्नीचर एवं मकान की डिजाइनों में परिवर्तन, कार का नया मॉडल आदि सभी सांस्कृतिक परिवर्तन के उदाहरण हैं। सामाजिक सम्बन्धों, सामाजिक ढांचे एवं प्रकार्यों में होने वाला परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन है। सांस्कृतिक परिवर्तन विशेष रूप से भौतिक संस्कृति

नोट

में परिवर्तन की गति, सामाजिक परिवर्तन की अपेक्षा तीव्र होती है; जैसे–टेबल, कुर्सी, वस्त्रों की डिजाइन आदि में मानव के विचारों, प्रथाओं, मूल्यों एवं आदर्शों की तुलना में शीघ्र परिवर्तन आते हैं। सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन के बीच पाये जाने वाले इस अन्तर का अर्थ नहीं लिया जाना चाहिए कि दोनों में कोई सम्बन्ध नहीं है, वरन् वास्तविकता यह है कि दोनों ही एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। संस्कृति में परिवर्तन होने पर सामाजिक परिवर्तन भी होते हैं। उदाहरणार्थ, औद्योगीकरण के कारण जाति-प्रथा एवं संयुक्त परिवार प्रथा में परिवर्तन आया है। इसी प्रकार सामाजिक परिवर्तन सांस्कृतिक परिवर्तन को भी जन्म देते हैं। **सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन के बीच पाये जाने वाले अन्तर को हम इस प्रकार प्रकट कर सकते हैं :**

1. सामाजिक परिवर्तन का सम्बन्ध सामाजिक सम्बन्धों में होने वाले परिवर्तनों से है, जबकि सांस्कृतिक परिवर्तन का सम्बन्ध संस्कृति के भौतिक एवं अभौतिक पक्षों में होने वाले परिवर्तनों से।
2. सामाजिक परिवर्तन की अपेक्षा सांस्कृतिक परिवर्तन की परिधि कहीं अधिक विस्तृत है।
3. सामाजिक परिवर्तन प्राकृतिक कारणों तथा जान-बूझकर किये गये प्रयत्नों–दोनों के कारण उत्पन्न हो सकते हैं, जबकि सांस्कृतिक परिवर्तन नियोजित एवं सचेत प्रयत्नों के कारण उत्पन्न होते हैं।
4. सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन में सम्बन्ध अंग और सम्पूर्णता का है। सामाजिक परिवर्तन सांस्कृतिक परिवर्तन का ही एक अंग है।
5. सामाजिक परिवर्तन के कारण सामाजिक ढांचे में परिवर्तन आता है, जबकि सांस्कृतिक परिवर्तन में संस्कृति के विभिन्न पक्षों में।
6. सामाजिक परिवर्तन की गति सांस्कृतिक परिवर्तन की अपेक्षा कुछ तेज होती है क्योंकि नये आविष्कारों के कारण सामाजिक सम्बन्धों, समाज-व्यवस्था एवं सामाजिक ढांचे में परिवर्तन शीघ्र उत्पन्न हो जाते हैं, जबकि संस्कृति के विभिन्न अंगों और विशेष रूप से अभौतिक संस्कृति जैसे, धर्म, नैतिकता, प्रथाओं, मूल्यों एवं विश्वासों में परिवर्तन धीमी गति से आते हैं।
7. सामाजिक परिवर्तन के फलस्वरूप सांस्कृतिक परिवर्तन आवश्यक रूप से उत्पन्न होता है, परन्तु सांस्कृतिक परिवर्तन के परिणामस्वरूप सामाजिक परिवर्तन का उत्पन्न होना अनिवार्य नहीं है, यद्यपि ऐसा हो सकता है।

स्पष्ट है कि सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन दोनों ही भिन्न प्रकार के परिवर्तन हैं फिर भी इन दोनों में घनिष्ठ सम्बन्ध हैं और दोनों ही प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं।

यथार्थ और मूल्य के रूप में निरन्तरता और परिवर्तन
(Continuity and Change in the form of Reality and Value)

निरन्तरता और परिवर्तन सामान्यत: प्रत्येक समाज की वास्तविकता है। किसी भी समाज या सामाजिक संरचना को हम स्थिर रूप में नहीं देख सकते क्योंकि स्थिरता तो जड़ता की सूचक है और परिवर्तन प्रगति या विकास का सूचक है। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि परिवर्तन के परिणाम सदैव लाभप्रद ही होते हों, हानिप्रद परिणाम भी कभी-कभी सामने आते हैं। किसी भी समाज के इतिहास को यदि हम लम्बे काल-क्रम की दृष्टि से उठाकर देखें तो पाएंगे कि उसमें एक निरन्तरता पाई जाती है। उदाहरण के रूप में हम भारतीय समाज और संस्कृति को ले सकते हैं। यहाँ किसी समय वर्णाश्रम व्यवस्था पाई जाती थी। यहाँ धार्मिक दृष्टि से विचार करने पर हम देखते हैं कि यहाँ वेदों, उपनिषदों, पुराणों, रामायण, महाभारत, गीता और अनेक अन्य धर्म-ग्रन्थों का महत्त्व पाया जाता है। इन्होंने धार्मिक परम्पराओं की निरन्तरता को बनाए रखने में योग दिया। आज भी ये ग्रन्थ लाखों-करोड़ों भारतीयों के जीवन को प्रभावित करते हैं और किसी न किसी रूप में समाज को व्यवस्थित बनाए रखने एवं सामाजिक नियन्त्रण को स्थापित करने में योग देते हैं। जाति-व्यवस्था ने भी सदियों से भारतीय समाज में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है और यही बात संयुक्त परिवार के सम्बन्ध में सही है। यद्यपि भारत एक विभिन्नता युक्त समाज है, लेकिन उसके बावजूद भी यहाँ एकरूपता के दर्शन होते हैं। भारतीय संस्कृति की यह प्रमुख विशेषता है कि यहाँ धार्मिक सहिष्णुता पाई जाती है। अलग-अलग मत-मतान्तरों को यहाँ सहन किया जाता है। हम कह सकते हैं कि निरन्तरता यहाँ यथार्थ रूप में दिखाई पड़ती है। एक मूल्य के रूप में भी इसका महत्त्व बराबर बना हुआ है। यही

नोट

बात सामाजिक परिवर्तन की दृष्टि से भी सही है। परिवर्तन सृष्टि का सामान्य नियम है जिसको कोई रोक नहीं सकता और इसके अभाव में प्रगति व विकास की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

यदि भारतीय समाज व्यवस्था पर हम ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करें तो यह स्पष्टत: ज्ञात होगा कि यहाँ के सामाजिक विचारकों, चिन्तकों और मनीषियों ने निरन्तर और परिवर्तन दोनों की वास्तविकता को स्वीकार किया। काल और देश के अनुसार परिस्थितियां बदलती हैं और उन परिस्थितियों के बदलने पर समाज-व्यवस्था के विभिन्न घटकों में परिवर्तन लाना आवश्यक होता है। यदि ये परिवर्तन समय पर नहीं लाए जाते तो समाज के लोगों की विभिन्न प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति करना सम्भव नहीं होता। यहाँ हमें इस बात को भी ध्यान में रखना है कि प्रत्येक समाज-व्यवस्था या सामाजिक संरचना अपने आप में स्थायित्व की भी कुछ प्रवृत्ति लेकर चलती है। यदि किसी भी रूप में स्थायित्व नहीं होगा और समाज-व्यवस्था तेजी के साथ बदलती जाएगी तो लोग शीघ्रता से अनुकूलन नहीं पर पाएंगे। ऐसी दशा में विघटन की भी सम्भावना रहेगी। अत: यह आवश्यक है कि समाज-व्यवस्था में नवीन परिस्थितियों के अनुरूप अपने आप को ढालने का गुण हो। परन्तु परिवर्तन इतने शीघ्रगामी भी नहीं होने चाहिए अथवा समाज-व्यवस्था ऐसी नहीं होनी चाहिए कि वह परिवर्तन को हर समय स्वीकार करने के लिए तैयार हो। कहने का तात्पर्य यह है कि समाज-व्यवस्था की निरन्तरता भी बनी रहनी चाहिए और उसमें अन्तर्जात और बाह्य कारणों से होने वाले परिवर्तनों को स्वीकार करने की क्षमता भी होनी चाहिए। भारतीय समाज की यह विशेषता है कि इसने परिस्थितियों के बदलने के साथ-साथ अपने आपको परिवर्तित किया है और आज हम नियोजित परिवर्तन की दिशा में आगे बढ़ रहे हैं। यद्यपि कहीं-कहीं प्रशासन सम्बन्धी कुछ कमियों तथा लोगों के रीति-रिवाजों को ध्यान में नहीं रखने के कारण विरोध भी हुआ है।

1.5 सामाजिक परिवर्तन के प्रकार (Forms of Social Change)

सामाजिक परिवर्तन समाज में आने वाली विभिन्नता को विभिन्न कालों में व्यक्त करता है लेकिन परिवर्तन विभिन्न समाजों में किस दिशा में, किस नियम के अन्तर्गत, अथवा किस सिद्धान्त के आधार पर हो रहा है, यह स्पष्ट नहीं हो पाता। मैकाइवर एवं पेज, हर्बर्ट स्पेन्सर, हॉबहाउस एवं सोरोकिन आदि समाजविदों ने सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाओं का विवेचन किया है। इन्होंने अनेक समाजशास्त्रीय अवधारणाओं का उल्लेख किया है जिनमें प्रक्रिया, आन्दोलन, वृद्धि, विकास, उद्विकास, अनुकूलन, क्रान्ति, प्रगति आदि प्रमुख हैं। इनमें से कुछ निम्नलिखित हैं–

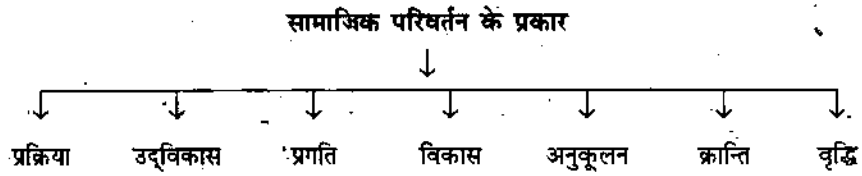

(1) प्रक्रिया (Process)–प्रक्रिया से तात्पर्य परिवर्तन की निरन्तरता से है। प्रक्रिया प्रत्यक्ष और परोक्ष, उत्थान और पतन किसी भी ओर हो सकती है। यह तो परिवर्तन का एक निश्चित क्रम होता है जिसके द्वारा एक अवस्था दूसरी में बदल जाती है। मैकाइवर ने प्रक्रिया को वर्तमान शक्तियों की क्रियाशीलता द्वारा एक निश्चित रूप में निरन्तर परिवर्तन कहा है; उदाहरणार्थ–जब हम कहते हैं कि आज समाज आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में है तो हमारा आशय है कि प्राचीन मूल्य, परम्पराएँ आदि निरन्तर परिवर्तित हो रही हैं और प्राचीन मूल्य, परम्पराएँ आधुनिकीकरण में विलीन हो रहे हैं।

(2) उद्विकास (Evolution)–उद्विकास का सम्प्रत्यय सर्वप्रथम डार्विन ने दिया था। उन्होंने कहा कि किसी वस्तु का सरलता से जटिलता की ओर जाना उद्विकास है। सरलता से जटिलता की ओर जाने की यह प्रक्रिया कुछ निश्चित चरणों में होती है। उद्विकास के रूप में सामाजिक परिवर्तन की व्याख्या सर्वप्रथम हर्बर्ट स्पेन्सर ने की जिसमें उन्होंने डार्विन के इस सिद्धान्त को समाज पर लागू किया। उनके मत में, "उद्विकास किसी तत्व का समन्वय व उससे सम्बद्ध वह गति है जिसके दौरान वह तत्व एक अनिश्चित असम्बद्ध भिन्नता में बदलता है।" स्पेन्सर ने सामाजिक उद्विकास के चार स्तरों–जंगली अवस्था, पशुचारण अवस्था, कृषि अवस्था और औद्योगिक अवस्था की चर्चा की। मैकाइवर एवं पेज के मत में, उद्विकास परिवर्तन की एक दशा है जिसमें बदलते हुए

नोट

पदार्थ की अनेक दशाएँ प्रकट होती हैं जिससे उस पदार्थ की वास्तविकता का पता चलता है। अर्थात् मैकाइवर के अनुसार, जिसका उद्विकास होता है ऐसी प्रत्येक वस्तु में पहले से ही उद्विकास की सम्भावनाएँ विद्यमान रहती हैं जो आगे जाकर अभिव्यक्त होती हैं।

उद्विकास उस स्थिति को कह सकते हैं जब परिवर्तन एक निश्चित **दिशा में निरन्तर** हो तथा रचना एवं गुणों में भी परिवर्तन हो। उद्विकास में किसी वस्तु के आन्तरिक **गुणों में परिवर्तन** होता है।

(3) प्रगति (Progress)–उद्विकास का अर्थ परिवर्तन से ही लिया जाता है लेकिन उद्विकास से जो परिवर्तन होते हैं, वे सदैव समाज का विकास ही करें यह आवश्यक नहीं है। इसके विपरीत प्रगति भी परिवर्तनों से ही सम्बन्धित है। प्रगति में वे परिवर्तन लिए जाते हैं जो समाज के विकास के लिए होते हैं। अर्थात् प्रगति ऐसे परिवर्तन से सम्बन्धित है जो समाज के उद्देश्यों व लक्ष्यों के अनुरूप हों। प्रगति समाज की अच्छाई की ओर होने वाले परिवर्तन को कहा जाता है। यह प्राय: नियोजित होती है, जिसे कोई समाज अपने लिए अच्छा समझते हैं वही उसके लिए प्रगति होती है। प्राय: प्रगति का सम्बन्ध सामाजिक मूल्यों व आदर्शों से होता है। समाज जिन आदर्शों को अपने लिए उचित मानता है उसी दिशा में होने वाले परिवर्तन प्रगति कहलाते हैं। यह प्राय: नैतिकता से सम्बद्ध होती है। यह हो सकता है कि एक समाज किन्हीं मूल्यों व आदर्शों को अच्छा मानता है वह उसके लिए प्रगति हो सकती है जबकि वही मूल्य, आदर्श दूसरे समाज के लिए अवनति हो सकते हैं जिन्हें वह समाज अच्छा नहीं मानता। इस प्रकार प्रगति सापेक्षिक होती है। प्रगति का सम्प्रत्यय भिन्न-भिन्न होता है। प्रगति का माप सम्भव है। प्रगति को सभी समाजों पर सार्वभौमिक रूप से लागू नहीं किया जा सकता क्योंकि प्रगति मूल्य, आदर्श व नैतिकता से सम्बन्धित है जो प्रत्येक समाज के लिए भिन्न-भिन्न हो सकती है। ऑगबर्न एवं निमकाफ ने प्रगति के विषय में लिखा है, "प्रगति का अर्थ अच्छाई के लिए परिवर्तन से है और इसीलिए प्रगति में मूल्य-निर्णय होता है।" अत: प्रगति इच्छित परिवर्तन है।

(4) विकास (Development)–विकास से तात्पर्य किसी वस्तु में होने वाले परिवर्तन से है जो श्रेष्ठता की ओर होता है। बालक भी जब शिशु से युवावस्था को प्राप्त करता है तो उसमें शारीरिक, मानसिक, भावात्मक, सामाजिक, नैतिक सभी प्रकार का परिवर्तन होता है तभी वह समायोजित व्यक्तित्व को प्राप्त करता है। इसी प्रकार कोई समाज भी जब आर्थिक, सामाजिक, नैतिक सभी रूपों में परिवर्तित होता है तभी उसको विकसित समाज कहा जायेगा। इस प्रकार विकास इस प्रकार के परिवर्तन का सूचक है जो श्रेष्ठता की ओर अग्रसर होता है–भारत की तुलना में पश्चिमी समाज इसीलिए विकसित माने जाते हैं क्योंकि वे आर्थिक, तकनीकी, शिक्षा आदि के सभी क्षेत्रों में परिवर्तित हो गए हैं। विकास समाज की प्रगति के लिए आवश्यक है–विकास के लिए जानबूझकर प्रयास किए जाते हैं। विकास के लिए हॉबहाउस ने चार मापदण्ड बताए हैं–(1) मात्रा में वृद्धि, (2) कार्यक्षमता, (3) आपसी सहयोग, और (4) स्वतन्त्रता।

(5) अनुकूलन (Adaptation)–अनुकूलन भी परिवर्तन की एक प्रक्रिया है जिसमें एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से अथवा परिस्थिति से अपना समायोजन करने का प्रयत्न करता है। अनुकूलन की प्रक्रिया में दो बातें विशेष हैं–(1) व्यक्ति अपने को परिस्थिति के अनुसार बना ले अथवा (2) परिस्थितियों को अपनी आवश्यकता के अनुरूप बना ले। समाज के स्तर पर भी अनुकूलन होता है–अनुकूलन के लिए समायोजन (Adjustment), अभियोजन (Accommodation), सात्मीकरण (Assimilation) तथा एकीकरण (Integration) आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है जो बताते हैं कि अनुकूलन किस सीमा तक होता है। इस प्रकार अनुकूलन भी परिवर्तन का ही प्रकार है।

(6) क्रान्ति (Revolution)–जब समाज में शोषण, अत्याचार, तनाव व असन्तोष अत्यधिक बढ़ जाता है तो राजनैतिक व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जाती है और सामाजिक-नैतिक मूल्यों में भी गिरावट आ जाती है। समाज में तीव्रता से परिवर्तन आ जाता है ऐसी स्थिति क्रान्ति कहलाती है–क्रान्ति प्राय: आर्थिक व राजनैतिक क्षेत्रों में तीव्रता से आती है।

हापर ने क्रान्ति की अवधारणा को इस प्रकार व्यक्त किया है "सामाजिक क्रान्ति वह तीव्र परिवर्तन है जिसमें व्यक्तियों को एक-दूसरे से सम्बन्धित रखने वाली राजनैतिक व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जाती है–सरकार कार्यशील सत्ता के रूप में नहीं रह पाती–इस स्थिति में समाज की मौलिक एकता समाप्त हो जाती है एवं सामाजिक व

नोट

नैतिक मूल्य समाप्त होने लगते हैं। यदि क्रान्ति में अधिक तीव्रता आती है तो सभी प्रमुख संस्थाएँ काफी परिवर्तित हो जाती हैं। इस प्रकार राज्य, धर्म, परिवार व शिक्षा अपने मूल रूप से काफी बदल जाते हैं।"

इस प्रकार क्रान्ति सामाजिक परिवर्तन का महत्त्वपूर्ण माध्यम है।

(7) **वृद्धि** (Growth)–वृद्धि भी परिवर्तन का एक प्रकार है जो वस्तु में परिणात्मक परिवर्तन को बताती है। प्रायः वृद्धि आकार में होने वाले परिवर्तन को कहा जाता है–इसकी एक सीमा होती है, उस सीमा के बाद वृद्धि नहीं होती या रुक जाती है साथ ही किसी एक दिशा में या क्षेत्र में हुए परिवर्तन को बताती है। इस प्रकार वृद्धि परिवर्तन का एक प्रकार है जो मात्रात्मक होती है, उदाहरण के लिए–समाज में जन्मदर एवं मृत्युदर में हुई वृद्धि को मापा जा सकता है।

1.6 समकालीन भारत में सामाजिक परिवर्तन (Social Change in Contemporary India)

समकालीन भारत में सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया का इतिहास अंग्रेजों के आगमन से स्वतंत्रता प्राप्ति तक एवं स्वातन्त्र्योत्तर कालों में विभाजित करके निम्न रूपों में विश्लेषित किया जा सकता है–

1. नगरीकरण (Urbanisation)

भारत में दिन-प्रतिदिन ग्रामीण जनसंख्या नगरों की ओर तेजी से निष्क्रमण करती जा रही है। अनेक ग्राम भी कस्बों और नगरों में परिवर्तित हो रहे हैं। ग्रामीण कृषि कार्यों को छोड़कर अकृषि कार्यों को अपना रहे हैं। यातायात एवं संचार के साधनों–रेलों, बसों, ट्रेक्टरों, दूरदर्शन, आकाशवाणी आदि के प्रभाव से ग्राम और नगरों की जनसंख्या का परस्पर सम्पर्क एवं आवागमन बहुत अधिक बढ़ गया है। इससे भारत के नगरीय समाज की विशेषतायें ग्रामों में पहुँच रही हैं। ग्राम और नगर की मूलभूत सामाजिक, सांस्कृतिक आदि विशेषताओं में अन्तर तीव्र गति से कम होता जा रहा है। ग्रामों में खेती परम्परागत साधनों के स्थान पर आधुनिक उपकरणों, जैसे–बिजली की मोटर, ट्रैक्टर, उन्नत खाद-बीज आदि से हो रही है। शिक्षित ग्रामीणों में नगरीकरण का प्रभाव अधिक देखने को मिलता है। आधुनिक व्यवसाय, नगरीय खान-पान, वेश-भूषा, जीवन के तरीकों का प्रभाव ग्रामवासियों पर बहुत पड़ता जा रहा है। ग्रामवासियों की सोच, दर्शन, धर्म, राजनैतिक गतिविधियाँ, आर्थिकी आदि में नगरीकरण का प्रभाव देखा जा सकता है।

2. औद्योगीकरण (Industrialisation)

भारत में वस्तुओं का उत्पादन हस्त-उपकरणों के स्थान पर निर्जीव शक्तियों द्वारा संचालित कल-कारखानों एवं मशीनों के द्वारा काफी समय से किया जाने लगा है। यातायात, संचार, परिवहन, खेती एवं कारखानों आदि में शक्ति द्वारा संचालित मशीनों का प्रयोग निरन्तर बढ़ता जा रहा है। भारत में उत्पादन के क्षेत्र में औद्योगीकरण तेजी से हो रहा है। ऊर्जा के नये-नये स्रोतों का जो आविष्कार और प्रयोग हो रहे हैं, उनका अनुकरण भारत में भी तेजी से हो रहा है। इससे मानव श्रम की बचत के साथ-साथ उत्पादन में गुणवत्ता में बहुत अधिक वृद्धि देखी जा सकती है। भारत में औद्योगीकरण से व्यावसायिक शिक्षा का विकास, लोगों के जीवन के तरीकों में परिवर्तन, ज्ञान के स्तर का ऊँचा होना, आर्थिक सम्पन्नता में प्रगति आदि हुई है। भारत के अनेक औद्योगिक क्षेत्रों–फरीदाबाद, बिहार, कानपुर, जमशेदपुर, राँची आदि में औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप अन्धविश्वासों, रूढ़ियों, परम्पराओं, धार्मिक कर्म-काण्डों आदि में परिवर्तन आया है। साथ ही औद्योगीकरण ने अनेक सामाजिक समस्याओं, जैसे–जनसंख्या में वृद्धि, शराबखोरी, भ्रष्टाचार, वेश्यावृत्ति, अपराध एवं बाल-अपराध, असमानता, मादक पदार्थों का दुरुपयोग, श्रमिक असन्तोष आदि में भी वृद्धि की है। औद्योगीकरण से भारत में संगठनात्मक एवं विघटनात्मक परिवर्तनों की प्रक्रिया को देखा जा सकता है।

3. पश्चिमीकरण (Westernisation)

अंग्रेजों के भारत में आने और शासन करने के बाद से ऊँची जाति के हिन्दुओं ने पाश्चात्य जीवन-शैली, खान-पान, रहन-सहन, शिक्षा, विचारों एवं सांस्कृतिक मूल्यों को ग्रहण करना प्रारम्भ कर दिया, जिसे एम. एन. श्रीनिवास ने

पश्चिमीकरण कहा है। अंग्रेजों के भारत छोड़ देने के बाद भी भारतवासी पश्चिम के देशों–इंग्लैण्ड, फ्रांस, जर्मनी आदि की संस्कृतियों का अनुकरण करते रहे हैं। इन पश्चिमी सांस्कृतिक अनुकरण या पश्चिमीकरण के कारण भारतीय समाज में अनेकानेक परिवर्तन आ रहे हैं। वर्तमान में अमेरिका की संस्कृति के अनुकरण के कारण कपड़ों, यन्त्रों, पश्चिमी सम्प्रत्ययों, सिद्धान्तों, विचारधाराओं, दर्शन आदि में उल्लेखनीय परिवर्तन हुये हैं और आगे होंगे। भारत में पश्चिमीकरण के कारण शिक्षा, साहित्य, दर्शन, प्रशासन, राजनैतिक और आर्थिक व्यवस्थाएँ प्रभावित हो रही हैं।

4. सामाजिक गतिशीलता (Social Mobility)

भारतीय समाज में पश्चिमीकरण के द्वारा ब्राह्मणों ने जाति संरचना में अपने उच्चतम स्थान एवं शिक्षा का लाभ उठाकर पाश्चात्य संस्कृति का अनुकरण किया। इनके द्वारा रिक्त स्थान को प्राप्त करने के लिये या इनकी तरह से समाज में ऊँचा स्थान प्राप्त करने के लिये निम्न जातियों ने प्रयास किये, जिसके परिणामस्वरूप भारत में सामाजिक गतिशीलता की प्रक्रिया का शुभारम्भ हुआ। परम्परागत जाति-व्यवस्था बन्द व्यवस्था थी। व्यक्ति की समाज में सदस्यता, व्यवसाय, विवाह, खान-पान, समाज में खण्डात्मक स्थिति सब प्रतिबन्धित थी। परन्तु पश्चिमीकरण, नगरीकरण, औद्योगीकरण स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद राजनीतिकरण, लौकिकीकरण, उच्च शिक्षा आदि के प्रभाव से भारतीय समाज में सामाजिक गतिशीलता में निरन्तर तेजी होती चली गई; जिसके परिणामस्वरूप निम्न जातियों ने समाज में उच्च स्थान प्राप्त करने के लिये प्रयास किये और उसमें उन्हें सफलता भी मिली। विभिन्न क्षेत्रों में व्यक्ति और समूह (उप-जातियों) एक सामाजिक श्रेणी या खण्ड से दूसरी सामाजिक श्रेणी या खण्ड में आने-जाने लगे। नगरीकरण, अन्तर्जातीय विवाहों, उच्च शिक्षा, सरकार द्वारा प्रदत्त आरक्षण की सुविधा के द्वारा निम्न जातियाँ, जनजातियाँ एवं पिछड़े वर्ग निम्न सामाजिक प्रस्थिति से उठकर मध्यम सामाजिक वर्ग, जाति या श्रेणियों में ऊपर की ओर प्रगति कर रहे हैं। कुछ व्यक्ति एवं समूह उच्च सामाजिक वर्ग की सदस्यता प्राप्त करने में भी सफल हुये हैं। इस सामाजिक गतिशीलता की प्रक्रिया के द्वारा भारतीय समाज में अनेकानेक परिवर्तन हो रहे हैं।

5. हिन्दूकरण (Hinduisation)

भारत में अनेक आदिम समाजों ने अपने परम्परागत रीति-रिवाजों, प्रथाओं, जीवन-शैली धर्म आदि को त्यागकर हिन्दू धर्म एवं संस्कृति का अनुकरण करना प्रारम्भ करके हिन्दू समाज में सम्मिलित होने का प्रयास किया। वे हिन्दू जाति का रूप ग्रहण करके जाति-व्यवस्था में निश्चित स्थान प्राप्त कर लेते हैं। इनकी प्रस्थिति निम्नतम या हरिजन जाति के स्तर की ही हो पाती है। इस प्रकार हिन्दूकरण के रूप में भारतीय समाज में परिवर्तन आ रहा है।

6. संस्कृतीकरण (Sanskritisation)

विश्वविख्यात सामाजिक वैज्ञानिक एम. एन. श्रीनिवास ने संस्कृतीकरण की अवधारणा को भारतीय समाज में विशेष रूप से हिन्दू समाज में सामाजिक परिवर्तन (गतिशीलता) की व्याख्या करने के लिये प्रतिपादित किया है। आपने लिखा कि परम्परागत रूप से कही जाने वाली निम्न जातियों में यह देखा जाता है कि वे उच्च जातियों के समान ऊंचा उठने के लिये उच्च जातियों की संस्कृति का अनुकरण करते हैं। वे अपने नाम उच्च जातियों जैसे रख लेते हैं। शाकाहारी बन जाते हैं, झूठी वंशावलियाँ, जनेऊ, श्वेत वस्त्रों का प्रयोग, उच्च जातियों के व्यवसाय आदि अपनाते हैं। दो-तीन पीढ़ियों में उनकी स्थिति समाज में ऊँची उठ जाती है। निम्न प्रतिष्ठा वाले व्यवसायों को त्यागकर, उच्च प्रतिष्ठा वाले व्यवसाय अपनाना, धर्म-कर्म, पाप-पुण्य, मोक्ष, पुनर्जन्म जैसी शब्दावलियों का प्रयोग, उच्च शिक्षा प्राप्त करना, नगरों में या अन्यत्र क्षेत्रों में जाकर बसना आदि के द्वारा समाज में अपनी प्रस्थिति ऊँची प्राप्त करने की इस प्रक्रिया को ही संस्कृतीकरण कहते हैं। इस संस्कृतीकरण के द्वारा भारतीय समाज में परिवर्तन हो रहे हैं।

7. धार्मिक परिवर्तन (Religious Conversions)

धार्मिक परिवर्तन की प्रक्रिया के द्वारा भारतीय समाज में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन प्राचीनकाल से देखे जा सकते हैं। विभिन्न धर्मावलम्बियों के अपने जीवन के तरीके, आदर्श, वेश-भूषा, आचार-विचार होते हैं। धर्म-परिवर्तन और अन्तरधर्म विवाहों के द्वारा उनमें सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन होते हैं। जैन धर्म और बौद्ध धर्म के द्वारा हिन्दू समाज में परिवर्तन आये हैं। जैन और हिन्दू समाजों में विवाह सदियों से होते आये हैं। इसी प्रकार से विगत वर्षों

में सिखों और हिन्दुओं में अन्तर्विवाह होते थे। साम्प्रदायिकता एवं क्षेत्रवाद के कारण इनके बीच अन्तर्विवाहों में कमी आ गई है। हिन्दू और सिख लड़कियाँ मुसलमानों से विवाह करती रहती हैं। ईसाई मिशनरियों के प्रचार-प्रसार से अनेक हिन्दू जातियों एवं जनजातियों के लोगों को ईसाई बनाया गया है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद अम्बेडकर के प्रभाव के परिणामस्वरूप हजारों हरिजनों ने हिन्दू धर्म त्यागकर बौद्ध धर्म अपनाया। पिछले अनेक वर्षों में लाखों हिन्दुओं को मुसलमान धर्म में परिवर्तित किया गया है। मेव समाज इसी धर्म-परिवर्तन का परिणाम है। धार्मिक परिवर्तन के कारण लोगों की सभ्यता और संस्कृति में परिवर्तन आता है। भारत में धार्मिक परिवर्तन की प्रक्रिया सामाजिक परिवर्तन में महत्त्वपूर्ण रही है।

8. राजनीतिकरण (Politicisation)

26 जनवरी, 1950 को हमारे देश का संविधान व्यवहार में आया। इसके द्वारा सभी को समान अधिकार, समान अवसर एवं मतदान का अधिकार दिया गया। चुनाव द्वारा पूर्ण प्रजातन्त्र की स्थापना की गई। इससे भारत के सभी नागरिकों–स्त्री-पुरुष, गरीब-अमीर, युवा-वृद्ध, ग्रामीण-नगरीय में राजनीतिकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई। इसके कारण विभिन्न क्षेत्रों में अनेक सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक आदि प्रभाव देखे जा सकते हैं। राजनीतिकरण का प्रभाव सांस्कृतिक संस्थाओं, नौकरियों, शिक्षण संस्थाओं, व्यापार, कल-कारखानों, परिवार विवाह आदि पर पड़ा है। व्यक्तिवादिता की भावना में वृद्धि हुई है। जातिवाद, साम्प्रदायिकता, भाषावाद, क्षेत्रवाद में वृद्धि हुई है। ग्रामों एवं नगरों में गुटबन्दी, प्रभुत्व के नवीन प्रतिमान उभरकर सामने आये हैं। इसके द्वारा भ्रष्टाचार, शराबखोरी, पक्षपात, नौकरियों में भाई-भतीजावाद आदि में वृद्धि हुई है। राजनीतिकरण के विभिन्न क्षेत्रों में सकारात्मक एवं नकारात्मक प्रभाव देखे जा सकते हैं।

9. लौकिकीकरण (Secularisation)

धर्मनिरपेक्षीकरण या लौकिकीकरण की प्रक्रिया के द्वारा लोगों के विचार, व्यवहार, आदर्श, परम्परा, विश्वास आदि में अनेक परिवर्तन देखने में आ रहे हैं। व्यक्ति इस प्रक्रिया के परिणामस्वरूप अपनी पसन्द एवं अपने जीवन के लिये क्या उपयुक्त है और क्या नहीं, का विशेष ध्यान रखते हैं। पहले जहाँ व्यवसाय परम्परागत एवं पीढ़ीगत होते थे, अब व्यक्ति लाभ के आधार पर पेशों का चयन करते हैं। अधिक आर्थिक लाभ प्राप्ति के लिये ब्राह्मण, क्षत्रिय या वैश्य भी लौकिकीकरण की प्रक्रिया के प्रभाव के कारण निःसंकोच चमड़े के जूते बनाने के कारखाने, चमड़े के सामान व दुकान, शराब आदि बेचने की दुकानों का संचालन करते हैं। विभिन्न जातियों के लड़के-लड़कियाँ अन्तर्जातीय विवाह निःसंकोच करने लगे हैं। कर्म-काण्डों, पूजा-पाठ, जन्म, विवाह आदि के अवसरों पर धार्मिक कृत्य मात्र औपचारिकताएँ बनकर रहे गये हैं। लौकिकीकरण के कारण अनेकानेक परिवर्तन हो रहे हैं।

10. आधुनिकीकरण (Modernisation)

आधुनिकीकरण का प्रारम्भ भारत में 19वीं सदी में ही हो गया था। पश्चिमी शिक्षा के सम्पर्क से राजा राममोहन-राय ने सभी नागरिकों में तथा स्त्री-पुरुषों में समानता लाने का प्रयास किया। उन्होंने अनेक सामाजिक कुरीतियों को दूर करने का प्रयास किया। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत में पंचवर्षीय योजनाओं का प्रारम्भ हुआ जिससे सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक व सभी क्षेत्रों में उत्पादन कार्य बढ़ा है, औद्योगीकरण की गति को बढ़ावा मिला है। अनेक कारखाने व प्लाण्ट सूती वस्त्र, खाद, दवाइयाँ, सीमेण्ट, मशीनें, अणुशक्ति आदि से सम्बन्धित खोले गये हैं, जिससे प्रतिव्यक्ति औसत आय बढ़ी है, साक्षरता प्रतिशत बढ़ा है। शिक्षा में विशेषीकरण बढ़ा है। बुद्धिजीवी वर्ग ने समाज के लिये अनेक नीतियाँ बनाई हैं। राष्ट्र के हित में कार्य किये हैं। विधवा-विवाह स्वीकृति, बाल-विवाह निरोधक कानून, सती-प्रथा की समाप्ति जैसे नियमों ने प्राचीन परम्पराओं को खण्डित कर दिया है। औद्योगीकरण व नगरीकरण ने आधुनिकता को बढ़ावा दिया है। पहले अधिकांश जनसंख्या ग्रामों में निवास करती थी, किन्तु अब नगरों में श्रमिकों की संख्या बढ़ी है। इस कारण परिवार, जाति, नातेदारी आदि के सम्बन्धों में भी शिथिलता आई है, धर्म का प्रभाव घटा है।

धर्म, रंग, लिंग, सम्प्रदाय, जन्म, मत आदि से सम्बन्धित भेदभाव कानूनन समाप्त होकर स्वतन्त्रता व समानता का अधिकार प्राप्त हो गया है, इससे व्यक्ति अपने अस्तित्व को स्वीकारने लगा है।

नोट

सम्पत्ति उत्तराधिकार, छुआछूत, विवाह आदि से सम्बन्धित कानूनों ने जीवन के नये आयाम प्रस्तुत किये हैं। न केवल सामाजिक, आर्थिक क्षेत्र में परिवर्तन आया है बल्कि आधुनिकता का प्रभाव संस्कृति, राजनीति आदि के क्षेत्र में भी दृष्टिगोचर होता है। वयस्क मताधिकार का अधिकार स्त्री-पुरुष दोनों को समान रूप से प्राप्त होने के कारण चुनाव में मत देने वालों की संख्या में वृद्धि हुई है। जाति, परिवार, वंश, नातेदारी, त्यौहार, मान्यतायें सभी क्षेत्रों में आधुनिकता की वृद्धि हुई है। व्यवसाय का क्षेत्र भी अब विस्तृत हो गया है, जातिगत व्यवसाय में शिथिलता आई है। कृषि के क्षेत्र में आधुनिक तकनीकों का प्रयोग प्रचुर मात्रा में किया जा रहा है। आज प्रत्येक ग्रामीण अपनी आय के स्रोत बढ़ाने एवं अपनी आय बढ़ाने के प्रति सचेष्ट है। आज गाँवों में पक्के मकान हैं। भौतिक सुख-सुविधाओं में वृद्धि हो रही है, जीवन-स्तर का उन्नयन किया जा रहा है। इस प्रकार से भारत में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया से सामाजिक संगठन के सभी पक्षों में परिवर्तन हो रहा है।

सामाजिक परिवर्तन के कारक (Factors of Social Change)

प्रत्येक घटना के पीछे कोई-न-कोई कारण अवश्य होता है। सामाजिक परिवर्तन भी किसी-न-किसी कारक का ही परिणाम है। सामाजिक परिवर्तन को समझने के लिए हमें उन कारकों अथवा कारणों को भी जानना होगा जो परिवर्तन के लिए उत्तरदायी हैं। एक रोमन कवि **लुक्रेटिस** का कथन है कि "वह व्यक्ति सबसे सुखी है जो वस्तुओं के कारण को जान लेता है।" विभिन्न विद्वानों ने सामाजिक परिवर्तन के लिए विभिन्न कारकों को उत्तरदायी माना है, जैसे, **मार्क्स** ने आर्थिक कारक को, कॉम्ट ने बौद्धिक विकास को, स्पेन्सर ने विभेदीकरण की सार्वभौमिक प्रक्रिया को, वेबर ने धर्म को, सोरोकिन ने संस्कृति को तथा **ऑगबर्न** ने सांस्कृतिक पिछड़न को। वास्तविकता यह है कि सामाजिक परिवर्तन के लिए कोई एक या कुछ कारक ही उत्तरदायी नहीं हैं वरन् यह अनेक कारकों के सामूहिक प्रभावों से घटित होता है। इस सन्दर्भ में **रोज** लिखते हैं, "सम्भवत: सामाजिक परिवर्तन का कोई कारण अथवा कारणों की एक शृंखला सभी समाजों में सभी परिवर्तनों के लिए उत्तरदायी नहीं है और न सिर्फ एक कारण ही किसी एक परिवर्तन के लिए उत्तरदायी है।"

हम यहाँ सामाजिक परिवर्तन के विभिन्न कारकों का उल्लेख करेंगे।

1.7 सामाजिक परिवर्तन के प्राकृतिक या भौगोलिक कारक (Natural or Geographical Factors of Social Change)

प्राकृतिक या भौगोलिक कारकों के अन्तर्गत हम उन सभी प्राकृतिक वस्तुओं एवं शक्तियों को सम्मिलित करते हैं, जैसे–जंगल, पहाड़, वर्षा, ऋतुएं, पृथ्वी, आकाश, चांद-तारे, झरने, नदी, मौसम, समुद्र, भूकम्प, बाढ़, अकाल, अनावृष्टि, अतिवृष्टि, आदि। ये सभी मिलकर प्राकृतिक या भौगोलिक पर्यावरण का निर्माण करते हैं। प्राकृतिक पर्यावरण मानवीय सम्बन्धों एवं व्यवहारों को निरन्तर प्रभावित करता रहता है। मानव ने प्रकृति पर विजय पाने का प्रयास किया है फिर भी वह प्राकृतिक शक्तियों के प्रभाव से बच नहीं पाया है। भूकम्प, बाढ़, ज्वालामुखी का फूट पड़ना, अकाल और महामारी समाज को नष्ट कर देते हैं, लोग शरण के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाते हैं। 1962 ई. में ईरान में आये भूकम्प, 1976 ई. में ग्वाटेमाला में आया भूकम्प, 1970 ई. में आन्ध्र में, 1975 ई. में बिहार व उत्तर प्रदेश में आयी बाढ़ ने तथा जनवरी 2001 ई. में गुजरात में आए भूकम्प ने सब कुछ तहस-नहस कर दिया। कई मानव भूगोलवेत्ता जैसे **बकल** तथा **हंटिंगटन**, आदि की तो मान्यता है कि जलवायु भी सभ्यता के विकास एवं विनाश के लिए उत्तरदायी है। मानव का विकास प्राकृतिक परिस्थितियों पर निर्भर है। जहाँ प्रकृति के भयंकर रूप जैसे, बाढ़, अकाल, भूकम्प, आदि देखने को मिलते हैं। वहाँ मानव प्रकृति के सम्मुख नतमस्तक हो जाता है, प्राकृतिक शक्तियों की पूजा करने लगता है, धर्म एवं ईश्वर को मानने लगता है। जहाँ प्रकृति शान्त होती है, वहाँ के लोग निर्माण का कार्य करते हैं, प्रगति करते हैं और विज्ञान की उन्नति सम्भव हो पाती है। प्राकृतिक विपदाओं के कारण राजधानियां बदल दी जाती हैं तथा गांव एवं शहर उजड़ जाते हैं। नये स्थान पर बसने पर नये पारिवारिक एवं वैवाहिक सम्बन्ध बनते हैं, लोग नयी संस्कृति व सभ्यता से परिचित होते हैं तथा अपने को भी नयी संस्कृति के रंग में रंग लेते हैं। वे नये स्थान की प्रथाओं, रीति-रिवाजों, मूल्यों एवं आदर्शों को ग्रहण कर लेते हैं। स्थान छोड़कर जाने वाले लोगों की मूल संस्कृति एवं सामाजिक संरचना में परिवर्तन आ जाता है। जब प्राकृतिक

नोट

विपदाएं नहीं आती हैं तो लोग आनन्द एवं सुख से जीवन व्यतीत करते हैं, त्यौहार एवं उत्सव मनाते हैं जिससे कि सामाजिक सहयोग एवं एकता बढ़ती है तथा सामाजिक व्यवस्था सुचारु रूप से चलती है। **जूलियन हक्सले** का मत है कि जलवायु और भूमि का मानवीय सम्बन्धों से घनिष्ठ सम्बन्ध है। प्राकृतिक एवं भौगोलिक कारक हमारे स्वास्थ्य, मानसिक एवं शारीरिक क्षमता, संस्कृति एवं सभ्यता, खान-पान, फैशन, वस्त्र, भोजन एवं मकान की बनावट तथा आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक संरचना को प्रभावित करते हैं।

1.8 सामाजिक परिवर्तन के प्राणिशास्त्रीय (जैविकीय) कारक (Biological Factors of Social Change)

प्राणिशास्त्रीय या जैविकीय कारकों से तात्पर्य उन कारकों से है जो हमें अपने माता-पिता द्वारा वंशानुसंक्रमण से प्राप्त होते हैं। प्राणिशास्त्रीय कारक जनसंख्या के प्रकार को निर्धारित करते हैं। हमारा कद एवं शारीरिक गठन, आदि सभी वंशानुसंक्रमण एवं जैविकीय कारकों से प्रभावित होते हैं। किसी समाज के लोगों की जन्म-दर, मृत्यु-दर, औसत आयु, आदि पर भी प्राणिशास्त्रीय कारकों का प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिए, किसी समाज में पुरुषों की मृत्यु-दर अधिक है तो वहाँ विधवाओं की वृद्धि होगी एवं विधवा-विवाह की समस्या पैदा होगी तथा स्त्री की सामाजिक प्रस्थिति एवं बच्चों की शिक्षा-दीक्षा एवं समाजीकरण भी प्रभावित होगा। दुर्बल एवं कमजोर शारीरिक एवं मानसिक क्षमता वाले लोग आविष्कार एवं निर्माण का कार्य नहीं कर पायेंगे, अतः आविष्कारों के कारण होने वाले परिवर्तन नहीं होंगे। इसकी तुलना में योग्य व्यक्ति नव-निर्माण एवं आविष्कार के द्वारा समाज में परिवर्तन लाने में सक्षम होंगे। किसी समाज में पुरुषों की तुलना में स्त्रियां अधिक होने पर बहुपत्नी-विवाह प्रथा तथा स्त्रियों की कमी होने पर बहुपति प्रथा तथा दोनों की समान संख्या होने पर एक-विवाह प्रथा का प्रचलन होगा। सामान्यतः यह माना जाता है कि अन्तर्जातीय एवं अन्तर्प्रजातीय विवाह से प्रतिभाशाली सन्तानें पैदा होती हैं, जो आविष्कारों द्वारा नवीन परिवर्तन लाने में सक्षम होती हैं। प्रजातीय मिश्रण संस्कृति, सामाजिक मूल्यों एवं नैतिकता को प्रभावित करता है। **डार्विन** सामाजिक परिवर्तन के लिए जैविकीय कारकों को महत्त्वपूर्ण मानते हैं। **पेरेटो** का भी मत है कि जब किसी समाज में प्रजातीय एवं प्राणिशास्त्रीय दृष्टि से श्रेष्ठ लोग होते हैं तो वह समाज प्रगति करता है, ऐसा न होने पर समाज की अवनति होती है।

1.9 सामाजिक परिवर्तन के जनसंख्यात्मक कारक (Population Factors of Social Change)

सामाजिक परिवर्तन लाने में जनसंख्यात्मक कारक भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। किसी देश की जनसंख्या, जन्म-दर, मृत्यु-दर, आवास-प्रवास, लिंग अनुपात, बालक, युवा तथा वृद्धों की संख्या, आदि सामाजिक संरचना, सामाजिक संगठन तथा अर्थव्यवस्था को प्रभावित करते हैं। परिवार एवं विवाह का स्वरूप, गरीबी, बेकारी, समृद्धि, परिवार नियोजन, जन्म निरोध सम्बन्धी सरकार की नीति, आदि सभी पर जनसंख्यात्मक कारकों का प्रभाव पड़ता है। जनसंख्या के आधार पर ही उस देश की सामाजिक संरचना ज्ञात की जा सकती हैं। पिछड़े राष्ट्रों की बढ़ती हुई जनसंख्या ने वहां की आर्थिक विकास की गति को प्रभावित किया है, वहां श्रम शक्ति बेकार हुई है, असन्तोष बढ़ा है तथा अपराध और तोड़-फोड़ की कार्यवाहियां हुई हैं। किसी देश के भविष्य का निर्माण करने तथा उसे खुशहाल बनाने में वहां की जनसंख्या का बहुत बड़ा योगदान होता है। जनसंख्या की कमी व अधिकता उत्पादन, आर्थिक विकास, राजनीतिक सम्बन्ध व नियोजित परिवर्तन के नियमों को निर्धारित करने के साथ-साथ सरकार व सामाजिक नीति को भी प्रभावित करते हैं।

जनसंख्यात्मक कारक से तात्पर्य जनसंख्या के आकार, घनत्व, गठन, रचना व गतिशीलता से है। जनसंख्यात्मक कारक को परिभाषित करते हुए सोरोकिन लिखते हैं, "जनसंख्यात्मक कारक का तात्पर्य जनसंख्या के आकार तथा घनत्व में वृद्धि तथा ह्रास से है।" इस प्रकार जनसंख्यात्मक कारकों में हम जनसंख्या के गुणात्मक पक्षों (qualitative aspects) का अध्ययन न करके उसके संख्यिकीय पक्षों (quantitative aspects) जैसे, जन्म-दर, मृत्यु-दर, आवास-प्रवास की दर, वृद्धि एवं ह्रास की दर, स्त्री-पुरुषों का अनुपात, आयु अनुपात, आदि का अध्ययन करते

हैं। हमारा उद्देश्य यहां इस बात को स्पष्ट करना है कि जनसंख्यात्मक कारक सामाजिक परिवर्तन लाने में क्या भूमिका निभाते हैं?

नोट

I. जनसंख्या के आकार का प्रभाव (Effect of the Size of the Population)

जनसंख्या का आकार भी समाज को प्रभावित करता है। समाज का जीवन-स्तर, गरीबी, बेकारी, अशिक्षा, स्वास्थ्य एवं अनेक अन्य सामाजिक समस्याओं का जनसंख्या के आकर से घनिष्ठ सम्बन्ध है। हमारे सामाजिक मूल्य, आदर्श, मनोवृत्तियां, जीवनयापन के ढंग सभी कुछ जनसंख्या के आकार पर ही निर्भर हैं। राजनीतिक व सैनिक दृष्टि से भी जनसंख्या का आकार महत्त्वपूर्ण है। जिन देशों में जनसंख्या अधिक होती है वे राष्ट्र शक्तिशाली माने जाते हैं, चीन इसका उदाहरण है और जहां जनसंख्या कम होती है वे राष्ट्र कमजोर समझे जाते हैं। इसी प्रकार जिन देशों की जनसंख्या कम है वहां के लोगों का जीवन-स्तर अपेक्षाकृत ऊंचा होता है। ऑस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैण्ड, कनाडा और अमेरिका के लोगों का जीवन स्तर चीन व भारत के लोगों से कई गुना ऊंचा है क्योंकि वहाँ की जनसंख्या कम है। ग्राम और नगर का भेद भी जनसंख्या के आधार पर ही निर्भर है। जनसंख्या के आकार को निम्नांकित दो कारक प्रभावित करते हैं: (1) जन्म-दर तथा मृत्यु-दर (2) आप्रवास एवं उत्प्रवास।

(1) **जन्म-दर तथा मृत्यु-दर** (Birth Rate and Death Rate)–जन्म-दर और मृत्यु-दर जनसंख्या के आकार को प्रभावित करते हैं। जब किसी देश में मृत्यु-दर की अपेक्षा जन्म-दर अधिक होती है तो जनसंख्या में वृद्धि होती है। इसके विपरीत स्थिति में जनसंख्या घटती है। जब जन्म-दर और मृत्यु-दर में कमी होती है या सन्तुलन होता है तो उस देश की जनसंख्या में स्थिरता पायी जाती है। जिन देशों में जनाधिक्य होता है वहां इस प्रकार की प्रथाएं एवं रीति-रिवाज पाये जाते हैं जिनके द्वारा जन्म-दर को कम किया जा सके। उदाहरण के लिए, वहाँ वृद्धों एवं अक्षम लोगों को मार देने की प्रथा को स्वीकृति प्राप्त होती है, गर्भपात की छूट होती है तथा जन्म निरोध एवं परिवार नियोजन पर अधिक जोर दिया जाता है। ऐसे देशों में छोटे परिवार पर बल दिया जाता है। उदाहरण के लिए, भारत में जनाधिक्य होने के कारण परिवार नियोजन कार्यक्रम को तीव्र गति से लागू किया गया है। साथ ही गर्भपात सम्बन्धी नियमों में भी उदारता बरती गयी है। गर्भ निरोध के लिए सरकार द्वारा मुफ्त एवं सस्ते साधनों जैसे, निरोध, लूप, गर्भ निरोधक गोलियाँ, आदि का वितरण किया जाता है तथा स्त्री-पुरुषों के बन्ध्याकरण के ऑपरेशन की सुविधाएं जुटायी जाती हैं। इसके विपरीत, जिन देशों में जनसंख्या कम होती है वहां स्त्रियों की सामाजिक प्रतिष्ठा ऊंची होती है। और जन्म-निरोध, परिवार-नियोजन तथा गर्भपात के विपरीत धारणाएं पायी जाती हैं। साथ ही वहां जन्म-दर को बढ़ाने के लिए प्रोत्साहन दिया जाता है। द्वितीय विश्व-युद्ध में रूस और जर्मनी की बहुत अधिक जन-हानि हुई, अत: वहां इस प्रकार के नियम बनाये गये व प्रोत्साहन दिये गये जिससे कि जनसंख्या में वृद्धि हो सके।

(2) **आप्रवास एवं उत्प्रवास** (Immigration and Emigration)–**जनसंख्या की गतिशीलता** (Population Mobility) भी सामाजिक परिवर्तन के लिए उत्तरदायी है। जब किसी देश में विदेश से आकर बसने वालों की संख्या अधिक होती है तो वहां जनसंख्या में वृद्धि होती है और यदि किसी देश के लोग अधिक संख्या में विदेशों में जाकर रहने लगते हैं, तो उस देश की जनसंख्या घटने लगती है। विदशों से अपने देश में जनसंख्या के आने को **आप्रवास** (Immigration) तथा अपने देश से विदेशों में जनसंख्या के निष्क्रमण को उत्प्रवास (Emigration) कहते हैं। जनसंख्या की गतिशीलता भी दो प्रकार की हो सकती है–दैनिक व कुछ समय के लिए तथा स्थायी रूप से। बड़े-बड़े शहरों में नित्य प्रति खानों, कारखानों व कार्यालयों में काम करने के लिए लोग आस-पास के क्षेत्रों से आते हैं। यात्रा, आदि के लिए भी लोग इधर-उधर गमन करते हैं। कुछ लोग स्थायी रूप से भी बाढ़, भूकम्प, युद्ध एवं अन्य कारणों से एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाकर बस जाते हैं। आप्रवास एवं उत्प्रवास के कारण विभिन्न संस्कृतियों के व्यक्ति सम्पर्क में आते हैं। वे एक-दूसरे के विचारों, भाषा, प्रथाओं, रीति-रिवाजों, कला, ज्ञान, आविष्कार, खान-पान, पहनावा, रहन-सहन, धर्म आदि से परिचित होते हैं। सम्पर्क के कारण एक संस्कृति दूसरी संस्कृति को प्रभावित करती है। जनसंख्या की गतिशीलता विघटन को भी जन्म देती है। आधुनिक समय में यातायात की सुविधा के कारण गतिशीलता में बहुत अधिक वृद्धि हुई है।

नोट

II. जनसंख्या की बनावट एवं सामाजिक परिवर्तन (Composition of Population and Social Change)

जनसंख्या की बनावट का सामाजिक परिवर्तन पर प्रभाव पड़ता है जनसंख्या की बनावट को तय करने में लिंग अनुपात, आयु, वैवाहिक सम्बन्ध, व्यवसाय, प्रजाति एवं राष्ट्रीयता, आदि का विशेष महत्त्व है। जब इन कारकों में परिवर्तन होता है तो समाज में भी परिवर्तन आते हैं। हम यहां इनमें से कुछ कारकों का उल्लेख करेंगे।

(क) **आयु** (Age)–यदि किसी देश में वृद्ध लोगों की तुलना में युवक और बच्चे अधिक हैं तो वहाँ परिवर्तन को शीघ्र स्वीकार किया जायेगा, क्योंकि वृद्ध व्यक्ति रूढ़िवादी एवं परिवर्तन विरोधी होते हैं तथा प्रथाओं के कठोर पालन पर बल देते हैं। अधिक आयु के लोगों की संख्या के अधिक होने पर सैनिक दृष्टि से वह समाज कमजोर होता है। युवा लोगों की अधिकता होने पर वह देश और समाज नवीन आविष्कार करने में समक्ष होता है। वहां के लोगों की कार्य-शक्ति अधिक होती है। इसलिए वे निर्माण कार्य करने में सक्षम होते हैं। ऐसे समाज में सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक क्रान्तियां आने के अवसर अधिक रहते हैं, किन्तु दूसरी ओर जनसंख्या में युवा लोगों का अधिक अनुपात होने पर अनुभवहीन लोगों की संख्या भी बढ़ जाती है। अनुभव के अभाव में समाज में कई त्रुटियां होने की सम्भावना रहती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि आयु संरचना सामाजिक परिवर्तन लाने में एक महत्त्वपूर्ण कारक है। **लैण्डिस** ने भी लिखा है, **"अत्यधिक मात्रा में आयु संरचना जनसंख्या के सामाजिक कार्य निश्चित करती है।"**

(ख) **लिंग** (Sex) समाज में स्त्री-पुरुषों का अनुपात भी सामाजिक परिवर्तन को प्रभावित करता है। जिन समाजों में पुरुषों की तुलना में स्त्रियों की संख्या अधिक होती है, उनमें स्त्रियों की सामाजिक स्थिति निम्न होती है और वहाँ बहु-पत्नी प्रथा का प्रचलन होता है। दूसरी ओर जहां पर स्त्रियों की तुलना में पुरुषों की संख्या अधिक होती है, वहाँ बहु-पति प्रथा का प्रचलन होता है। तथा कन्या-मूल्य की प्रथा पायी जाती है और पत्नी प्राप्त करने हेतु पुरुषों में प्रतियोगिता होती है। परिणामस्वरूप स्त्रियों को अच्छे पति मिल पाते हैं। ऐसे समाजों में स्त्रियों की सामाजिक प्रतिष्ठा भी ऊंची होती है। जिन समाजों में पुरुषों की अधिकता होती है, वहाँ परिवार व समाज में पुरुषों का प्रभुत्व भी पाया जाता है। जब किसी समाज के लिंग अनुपात में अन्तर आता है तब भी उस समाज में परिवर्तन घटित होते हैं।

(ग) **वैवाहिक स्तर** (Marital Status)–विवाह समाज की एक प्रमुख सामाजिक संस्था है। स्त्री-पुरुषों का वैवाहिक स्तर भी सामाजिक परिवर्तन के लिए महत्त्वपूर्ण कारक है। जिन समाजों में पुरुषों की संख्या अधिक पायी जाती है वहां बहु-पति प्रथा और जिनमें स्त्रियों की संख्या अधिक पायी जाती है वहाँ बहु-पत्नी प्रथा पायी जाती है। इसी प्रकार से बाल-विवाह एवं विलम्ब-विवाह की प्रथाएं भी सामाजिक परिवर्तन के लिए उत्तरदायी हैं। जहाँ बाल-विवाह का प्रचलन होता है वहां परिवार का निर्माण शीघ्र होता है तथा कम उम्र में ही व्यक्ति पर जिम्मेदारियाँ आ जाती हैं। व्यक्ति का मानसिक विकास और शिक्षा का कार्य रुक जाता है, कमजोर और रुग्ण सन्तानें पैदा होती हैं। इससे समाज में मृत्यु-दर बढ़ जाती है। ऐसे विवाहों से उत्पन्न सन्तानें शारीरिक एवं मानसिक रूप से निर्माण एवं परिवर्तन का कार्य करने में अक्षम होती हैं। दूसरी ओर विलम्ब-विवाह से उत्पन्न सन्तानें शारीरिक एवं मानसिक दृष्टि से सक्षम होती हैं। किन्तु कभी-कभी विलम्ब-विवाह अनैतिक व्यवहारों को जन्म देने के लिए भी उत्तरदायी होते हैं।

इसी तरह से समाज में विधवाओं और विधुरों की संख्या एवं जनसंख्या का सामाजिक और मानसिक स्वास्थ्य भी सामाजिक परिवर्तन लाने में योग देते हैं। यदि किसी समाज में जनाधिक्य है तो उसके अग्रांकित सामाजिक परिणाम होते हैं।

(*i*) **परम्परा और रीति-रिवाज पर प्रभाव**–यदि किसी देश में अधिक जनसंख्या है तो वहां सन्तति-निरोध, परिवार-नियोजन एवं कानूनी रूप से गर्भपात को उचित ठहराने के प्रयास किये जाते हैं।

(*ii*) **सामाजिक समस्याएं**–अधिक जनसंख्या होने पर समाज में अशिक्षा, गरीबी, बेकारी, भिक्षावृत्ति, कुपोषण, अपर्याप्त आवास, गन्दी बस्तियां, चिकित्सा, यातायात, प्रशासन, मजदूर, समस्या, आदि से सम्बन्धित अनेक समस्याएं पनपती हैं। महंगाई, बीमारी, अकाल एवं दुर्घटनाएं भी बढ़ती हैं।

(*iii*) **जीवन-स्तर**–जनसंख्या बढ़ने पर लोगों का जीवन स्तर गिरता है।

III. जनसंख्या व आर्थिक परिवर्तन (Population and Economic Change)

यदि किसी देश में जनसंख्या में वृद्धि होती है तो जनशक्ति में भी वृद्धि होती है। फलस्परूप मजदूर सस्ते हो जाते हैं और सस्ती वस्तुएं उत्पादित की जा सकती हैं, किन्तु दूसरी ओर जनसंख्या के बढ़ने पर अधिक वस्तुओं की आवश्यकता होती है। अत: उत्पादन में वृद्धि करने के लिए नये-नये आविष्कार करने पड़ते हैं। अधिक जनसंख्या कभी-कभी राष्ट्रीय आय बढ़ाने में सहायक होती है तो कभी इसके विपरीत प्रभाव भी पड़ते हैं, जैसे भारत में जनसंख्या वृद्धि ने आर्थिक समृद्धि को ठेस पहुँचायी है, जबकि रूस में आर्थिक समृद्धि के लिए जनसंख्या वृद्धि को आवश्यक माना है।

IV. सामाजिक संगठन एवं जनसंख्या (Social Organisation and Population)

जब किसी देश में जनसंख्या के घनत्व और आकार में वृद्धि होती है तो नगरीकरण बढ़ता है, विशेषीकरण और श्रम-विभाजन में वृद्धि होती है, परिवार और विवाह के विभिन्न स्वरूप अस्तित्व में आते हैं। संयुक्त परिवार और एकाकी (नाभिक) परिवार की रचना पर जनसंख्या की कमी और अधिकता का भी प्रभाव पड़ता है।

V. राजनीति और जनसंख्या (Politics and Population)

राजतन्त्र, प्रजातन्त्र, समाजवाद, साम्यवाद, पूंजीवाद, आदि पर जनसंख्या के आकार का काफी प्रभाव पड़ता है। किसी देश की जनसंख्या के बढ़ने पर उसकी सैनिक शक्ति में वृद्धि होती है। ऐसे देश उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद को बढ़ावा देते हैं। दास-प्रथा और सामन्तवाद भी जनाधिक्य के ही परिणाम हैं।

VI: युद्ध एवं जनसंख्या (War and Population)

कई विद्वानों ने इस बात को स्पष्ट किया है कि अधिक जनसंख्या युद्धों को जन्म देती है। पिछले दो महायुद्ध इस बात के प्रमाण हैं। जनाधिक्य होने पर अधिकाधिक आर्थिक साधनों की आवश्यकता होती है जिसे प्राप्त करने के लिए दूसरे देशों से युद्ध करना होता है।

VII. क्रान्ति एवं जनसंख्या (Revolution and Population)

जब किसी देश में तीव्र गति से जनसंख्या की वृद्धि होती है अथवा ह्रास होता है तो यह स्थिति क्रान्ति के लिए उत्तरदायी होती है क्योंकि इसके कारण समाज में सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक उतार-चढ़ाव आते हैं, निम्न वर्ग व उच्च वर्ग में उथल-पुथल होती है। जनाधिक्य होने पर लोगों को पर्याप्त आर्थिक सुविधाएं नहीं मिल पातीं। अत: उनके मन में शासन के प्रति विरोध एवं विद्रोह पैदा होता है। संघर्ष की स्थिति पैदा होती है और लोग क्रान्ति और परिवर्तन के लिए प्रयत्नशील हो जाते हैं। **कार्ली** (Karli) क्रान्ति के लिए जनसंख्या वृद्धि को प्रमुख रूप में उत्तरदायी मानते हैं।

VIII. जनसंख्या और वैचारिक परिवर्तन (Population and Ideological Change)

जनसंख्या के आकार और घनत्व में परिवर्तन होने पर लोगों के विचारों में भी परिवर्तन आता है। जब जनसंख्या में गतिशीलता होती है तो समाज में समानता, प्रजातन्त्र, सहिष्णुता और सांस्कृतिक समन्वय के विचार पनपते हैं। गतिशीलता का अभाव संकीर्णता को जन्म देता है।

IX. सामाजिक प्रगति और जनसंख्या (Social Progress and Population)

विभिन्न जनसंख्याशास्त्रियों ने सामाजिक प्रगति और विनाश का सम्बन्ध जनसंख्यात्मक कारकों से जोड़ा है। जब किसी स्थान की जनसंख्या में बहुत अधिक वृद्धि होती है तो उसका अन्तिम परिणाम विनाश के रूप में होता है। इसी प्रकार यदि जनसंख्या उत्तरोत्तर घटती जाती है तब भी सामाजिक विनाश के अवसर बढ़ते हैं। इसीलिए समुचित सामाजिक, आर्थिक, औद्योगिक, साहित्यिक एवं कलात्मक प्रगति के लिए यह आवश्यक है कि देश में सन्तुलित जनसंख्या हो।

1.10 सामाजिक परिवर्तन के आर्थिक कारक (Economic Factors of Social Change)

जिस प्रकार शरीर के सभी अंग मिलकर शारीरिक संरचना का निर्माण करते हैं, उसी भांति आर्थिक ढाँचे अथवा आर्थिक संरचना का निर्माण कई कारक मिलकर करते हैं। इन आर्थिक कारकों के अन्तर्गत उपभोग, उत्पत्ति,

नोट

विनिमय, वितरण व आर्थिक नीति को सम्मिलित किया गया है। वस्तुत: वे आर्थिक कारक क्या हैं और वे किस तरह से सामाजिक परिवर्तन में महत्त्वपूर्ण एवं प्रभावी भूमिका निभाते हैं, इसे समझाने का हम यहां प्रयास करेंगे।

(1) **उपभोग की प्रकृति** (Nature of Consumption)–मानव अनन्त इच्छाओं का स्वामी है। मनुष्य की एक इच्छा के पूर्ण होने से पूर्व ही दूसरी इच्छा उत्पन्न हो जाती है। फलस्वरूप वह अपनी इच्छाओं की पूर्ति में लगा रहता है। स्वभाव से भी मनुष्य परिवर्तनशील है और अपनी इच्छा की पूर्ति हेतु वह एक ही इच्छा के कई विकल्प ढूंढ लेता है, जैसे गृहिणी प्रतिदिन एक ही प्रकार की सब्जी-रोटी न बनाकर उनमें परिवर्तन करती रहती है और तरह-तरह के व्यंजन बनाकर अपनी सुरुचि व योग्यता का परिचय देती है। यद्यपि व्यंजनों के उपयोग का उद्देश्य क्षुधा पूर्ति ही है, परन्तु मनुष्य अपने स्वभाव के कारण उसमें परिवर्तन चाहता है। इसीलिए वह प्रतिदिन अपने खान-पान एवं रहन-सहन में परिवर्तन करता रहता है। अब प्रश्न उठता है कि क्या मनुष्य को इन इच्छाओं की पूर्ति हेतु सभी साधन उपलब्ध हो जाते हैं? जब समाज के अधिकांश व्यक्ति उपभोग के साधनों व सुविधाओं को सामान्यतया जुटा लेते हैं तो जीवन स्तर सामान्य होता है व सामाजिक परिवर्तन की गति भी सामान्य होती है, परन्तु समाज के अधिकांश व्यक्ति जब उपभोग के साधनों को नहीं जुटा पाते हैं तो जीवन-स्तर गिर जाता है और निम्न जीवन-स्तर परिवर्तन की गति में अवरोध उत्पन्न करता है, परन्तु यह स्थिति शीघ्र ही आमूलचूल परिवर्तन का कारण भी बन जाती है। जीवन-स्तर ऊंचा होने पर सामाजिक परिवर्तन तीव्र गति से होता है और व्यक्ति अपनी स्वार्थ पूर्ति हेतु पुरानी मान्यताओं, प्रथाओं और अतार्किक व्यवहारों को त्याग देते हैं। आर्थिक स्थिति में तीव्रगामी परिवर्तन सामाजिक स्तरीकरण को भी प्रभावित करता है तथा सामाजिक स्तरीकरण में परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन ही है।

(2) **उत्पादन का स्वरूप** (Mode of Production)–मार्क्स के अनुसार उत्पादन के तरीकों में परिवर्तन होने पर आर्थिक सम्बन्धों में भी परिवर्तन आते हैं जो सभी सामाजिक संस्थाओं को प्रभावित करते हैं। मार्क्स ने बताया कि यदि उत्पादन के साधनों को उनका पूर्ण प्रतिफल प्राप्त हो जाता है तो समाज-व्यवस्था संगठित होती है, परन्तु ऐसा नहीं है। उत्पादन के साधनों पर कुछ लोगों का एकाधिकार हो जाता है। परिणामस्वरूप असन्तोष की स्थिति उत्पन्न होती है जो क्रान्ति के लिए उत्तरदायी होती है मार्क्स के अनुसार, जैसा उत्पादन का स्वरूप होगा वैसा ही सामाजिक ढांचा भी होगा। लघु उत्पादन कम सामाजिक गतिशीलता का द्योतक है तो बड़े पैमाने पर उत्पादन अधिक गतिशीलता का। यदि जीवनयापन का मुख्य व्यवसाय कृषि है तो सामाजिक व्यवस्था पर भूमिपतियों का एकाधिकार होगा और यदि उद्योग-धन्धों द्वारा जीवनयापन किया जाता है तो बड़े-बड़े उद्योगपतियों व पूँजीपतियों का समाज में प्रभुत्व होगा। इस प्रकार उत्पादन का स्वरूप सामाजिक व्यवस्था को प्रभावित व परिवर्तित करता है। मार्क्स की मान्यता है कि जब उत्पादन प्रणाली में परिवर्तन आता है तो समाज में भी परिवर्तन आता है। मार्क्स के परिवर्तन सम्बन्धी सिद्धान्त का हम आगे उल्लेख करेंगे।

(3) **वितरण की व्यवस्था** (Distribution System)–वितरण की व्यवस्था से तात्पर्य है उत्पादित वस्तुओं का समाज के सदस्यों में विभाजन। प्रत्येक समाज में अलग-अलग ढंग से आर्थिक व भौतिक साधनों का वितरण किया जाता है। कहीं पर राज्य द्वारा यह वितरण किया जाता है तो कहीं पर स्वतन्त्र वितरण व्यवस्था पायी जाती है। यदि सभी व्यक्तियों को समाज में अपनी आवश्यक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु सभी साधन उपलब्ध हो जायें तो शायद कोई आर्थिक समस्या ही नहीं रहे, परन्तु समाज में कुछ को तो अधिकाधिक सुविधा उपलब्ध हो जाती है जबकि कुछ लोग आवश्यक आवश्यकताएं भी पूरी नहीं कर पाते। इस प्रकार प्रत्येक समाज में व्यक्तियों को कुछ आर्थिक समस्याओं का सामना करना ही पड़ता है। व्यक्ति इन समस्याओं का समाधान विभिन्न तरीकों से करते हैं जो सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को भी प्रभावित करते हैं। धन, सम्पत्ति एवं साधनों के असमान वितरण के कारण ही समाज में एकाधिकार व पूंजीवादी व्यवस्था जन्म लेती है। पूंजीवाद का विरोध करने के लिए ही साम्यवाद व समाजवाद की नींव रखी गयी जो सम्पत्ति के समान वितरण पर जोर देते हैं पूंजीवाद व समाजवाद वितरण की भिन्न-भिन्न प्रकार की व्यवस्था पर आधारित हैं। इस प्रकार जब एक प्रकार की वितरण व्यवस्था का स्थान दूसरे प्रकार की वितरण व्यवस्था ले लेती है तो समाज में परिवर्तन घटित होते हैं।

(4) **आर्थिक नीतियां** (Economic Policies)–उत्पादन, उपभोग व वितरण को व्यवस्थित बनाये रखने हेतु आर्थिक नीतियों का निर्धारण किया जाता है। यदि ये नीतियां राज्य के हस्तक्षेप द्वारा लागू की जाती हैं तो राज्य समाज के सभी व्यक्तियों की आवश्यक आवश्यकताओं को जुटाने का प्रयास करता है; परन्तु राज्य का हस्तक्षेप

न होने पर उत्पादन के साधनों पर कुछ लोगों का एकाधिकार हो जाता है और सामाजिक व्यवस्था भी इससे प्रभावित होती है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद भारत की व जार शासन से मुक्त होने के बाद रूस की आर्थिक नीतियों में परिवर्तन हुआ, फलस्वरूप वहां अनेक सामाजिक परिवर्तन घटित हुए हैं।

नोट

(5) **औद्योगीकरण** (Industrialisation)–औद्योगीकरण का तात्पर्य मशीनों द्वारा तीव्र पैमाने पर उत्पादन से है। वर्तमान में औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप नगरीकरण, विशेषीकरण एवं श्रम-विभाजन पनपा है, खान-पान व रहन-सहन में परिवर्तन हुआ है, छुआछूत व जाति-पांति के भेदभाव में कमी आयी है, शिक्षा का प्रसार हुआ है, रूढ़िवादिता व अन्धविश्वासों में कमी हुई है। तार्किक व्यवहार में नये विश्वास पनपे हैं, स्त्रियों में शिक्षा का प्रसार हुआ है और उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा बढ़ी है। औद्योगीकरण के कारण अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों व व्यापार में वृद्धि हुई है। इन सभी परिवर्तनों ने सामाजिक व्यवस्था को झकझोर दिया और परिणामस्वरूप उसमें परिवर्तन की नवीन प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हुई हैं।

(6) **श्रम विभाजन** (Division of Labour)–उत्पादन का कार्य केवल एक ही व्यक्ति द्वारा नहीं हो सकता वरन् उसके लिए अनेक व्यक्तियों के सहयोग की आवश्यकता होती है। विशाल पैमाने पर उत्पादन के लिए भी यह आवश्यक है कि कार्य का विभाजन किया जाए और कार्य को छोटे-छोटे भागों में बांटा जाए। इसे ही हम श्रम-विभाजन कहते हैं। यह श्रम-विभाजन औद्योगीकरण का परिणाम है जिसने विशेषीकरण को बढ़ावा दिया। इस प्रकार आज के युग में श्रम-विभाजन व विशेषीकरण ने पारस्परिक निर्भरता की स्थिति उत्पन्न की है। एक कार्य अथवा एक प्रकार के उत्पादन हेतु उत्पादनकर्ता को कई लोगों पर निर्भर रहना पड़ता है दुर्खीम ने श्रम-विभाजन के आधार पर दो प्रकार के समाजों का उल्लेख किया है। एक **यान्त्रिक एकता पर आधारित समाज** जो कि सरल व संगठित होता है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति स्वयं कर लेता है। दूसरा **सावयवी एकता पर आधारित समाज** जिसकी प्रकृति जटिल होती है तथा जिसमें अधिकाधिक विशेषीकरण एवं पारस्परिक निर्भरता तथा विविधता पायी जाती है। श्रम-विभाजन एवं विशेषीकरण में वृद्धि ने भी समाज में अनेक परिवर्तन उत्पन्न किये हैं। आज सभी क्षेत्रों में हमें विशेषीकरण व श्रम-विभाजन देखने को मिलता है।

(7) **आर्थिक प्रतिस्पर्द्धा** (Economic Competition)–आर्थिक प्रतिस्पर्द्धा स्वतन्त्र हो अथवा नियन्त्रित, प्रत्यक्ष हो अथवा अप्रत्यक्ष, सामाजिक परिवर्तन को अवश्य प्रभावित करती है। आर्थिक प्रतिस्पर्द्धा में सफलता नये-नये आविष्कारों को जन्म देती है तो असफलता संघर्ष, तनाव व कुण्ठा की द्योतक है। वैसे आर्थिक प्रतिस्पर्द्धा का अधिकतर सम्बन्ध संघर्षों से ही लिया जाता है। आधुनिक युग में आर्थिक प्रतिस्पर्द्धा के परिणामस्वरूप मिल-मालिकों व मजदूरों के बीच संघर्ष पनपे हैं, तालाबन्दी, हड़तालें व तोड़-फोड़ में वृद्धि हुई है। मजदूरों के हितों की रक्षा के लिए नवीन कानून बने हैं एवं अनेक कल्याणकारी कार्य प्रारम्भ किये गये हैं। इन सभी स्थितियों ने समाज में भी परिवर्तन उत्पन्न किये हैं। उत्पादन, उपभोग, वितरण, श्रम-विभाज, आर्थिक प्रतिस्पर्द्धा, आदि सामाजिक परिवर्तन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

1.11 आर्थिक कारक और सामाजिक परिवर्तन (Economic Factors and Social Change)

आर्थिक कारक सामाजिक संस्थाओं, व्यवस्थाओं व संगठनों को प्रभावित करके भी सामाजिक परिवर्तन लाने में सहायक होते हैं। अब हम इसी पक्ष पर विचार करेंगे–

(1) **आर्थिक कारक व सामाजिक संस्थाएं**–आर्थिक कारक सामाजिक संस्थाओं में भी परिवर्तन लाते हैं। भारत में औद्योगीकरण व नगरीकरण के परिणामस्वरूप संयुक्त परिवार व्यवस्था का विघटन हुआ, जाति-पांति के भेदभाव, छुआछूत, आदि समाप्त हुए, शिक्षा का प्रसार हुआ, स्त्रियों को रोजगार के अवसर प्राप्त हुए, अन्तर्जातीय विवाह, प्रेम-विवाह, विधवा पुनर्विवाह, आदि प्रारम्भ हुए हैं, जाति सम्बन्धी प्रतिबन्ध शिथिल हुए हैं, व्यवसाय में परिवर्तन आया है, ग्रामीणों में शिक्षा का प्रसार हुआ है, जनसंख्या की गतिशीलता बढ़ी है तथा बैंकों की स्थापना हुई है। अब मुकदमों के लिए न्यायालय के दरवाजे खटखटाये जाने लगे हैं। वर्तमान में पुराने रीति-रिवाजों व मान्यताओं का प्रभाव कम हुआ है, मनोरंजन का व्यापारीकरण हुआ है। इसी प्रकार से जब आर्थिक उतार-चढ़ाव व तेजी-मन्दी

नोट

आती है तो उसका भी सामाजिक संस्थाओं पर प्रभाव पड़ता है। आर्थिक समृद्धि एवं खुशहाली के समय विवाह एवं जन्म-दर में वृद्धि होती है जिससे परिवार का आकार बड़ा हो जाता है। दूसरी ओर आर्थिक मन्दी के समय विवाहों की संख्या एवं जन्म-दर गिर जाती है, परिवार का आकर छोटा हो जाता है और तलाक की दर बढ़ जाती है, इस प्रकार आर्थिक परिस्थितियां परिवार एवं विवाह की संस्था को प्रभावित करती हैं। वर्तमान में नयी आर्थिक दशाओं के कारण परिवार के अनेक कार्य अन्य संस्थाओं ने हथिया लिये हैं, ग्राम-पंचायतों का विघटन हुआ है, जजमानी प्रथा समाप्त हुई है और मुद्रा अर्थव्यवस्था प्रारम्भ हुई है। स्पष्ट है कि जब आर्थिक परिस्थितियां बदलती हैं तो वे सामाजिक संस्थाओं पर प्रत्यक्ष रूप ये प्रहार करती हैं।

(2) **आर्थिक कारक और धार्मिक संस्थाएं**–विज्ञान की प्रगति तथा नये-नये आविष्कारों ने आर्थिक समृद्धि प्रदान की है जिसके परिणामस्वरूप धार्मिक संस्थाएं प्रभावित हुई हैं। वैज्ञानिक आविष्कारों ने धर्म की महिमा को कम किया है । अब विज्ञान ने सिद्ध कर दिया है कि मनुष्य की उत्पत्ति, सूरज चांद, तारे, वर्षा, सर्दी, गर्मी, आदि सभी प्राकृतिक तथ्य हैं। अब व्यक्ति ईश्वर की अपेक्षा धन की अधिक पूजा करता है। समाज के बहुत-से लोग अब धार्मिक उपासना व रीति-रिवाजों को ढोंग व ढकोसला मानते हैं। आज समाज में व्यक्ति की स्थिति उसकी आर्थिक स्थिति के आधार पर तय होती है। समाज धनी व्यक्तियों को ही सम्मान देता है व अधिकांश व्यक्ति उसी को अपना आदर्श मानते हैं और उसके अनुरूप बनने का प्रयत्न करते हैं। वर्तमान में आर्थिक समृद्धि के साथ-साथ धर्म एवं ईश्वर में आस्था कम हुई है, नास्तिकता बढ़ी है। इस प्रकार आर्थिक समृद्धि धार्मिक ह्रास को जन्म देती है।

(3) **आर्थिक कारक एवं राजनीतिक व्यवस्था**–राजनीतिक व्यवस्था मूल का आधार धन ही है। राज्य का निर्माण समाज में धन का असमान वितरण व एकाधिकार रोकने हेतु ही हुआ है। राज्य के कानून, संविधान, योजनाएं, नियम, आदि आर्थिक कारकों से ही प्रेरित होते हैं। यहां तक कि चुनाव लड़ने व विधायक एवं सांसद बनने हेतु भी धन की आवश्यकता होती है। राजनीतिक संगठनों का कार्य उनके क्षेत्र के लोगों तक सभी सुविधाओं को पहुंचाना व लोगों की समस्या को हल करना होता है। राज्य कानूनों व योजनाओं द्वारा इस प्रकार की व्यवस्था करने का प्रयत्न करता है जिससे कि राज्य के सभी लोगों की आवश्यक आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके। बैंकों की स्थापना, आवश्यक वस्तुओं का उचित वितरण, इन्कम टैक्स लागू करने, बाँध व नहरों का निर्माण, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, आर्थिक सुरक्षा, पिछड़ी जाति व वर्गों का उत्थान, शोषण से मुक्ति की व्यवस्था, आदि के कार्य राज्य द्वारा ही किये जाते हैं, परन्तु फिर भी राज्य में कुछ ऐसे पूंजीपति अवश्य मिल जाते हैं, जो अपने धन के बलबूते पर राजनीतिक संगठनों व राज सत्ता में अपना प्रभुत्व रखते हैं। जब किसी देश की आर्थिक स्थिति खराब होने लगती है तो आर्थिक विषमता चरम सीमा पर पहुँच जाती है, शोषण बढ़ जाता है और लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति कठिन हो जाती है, तब सत्ता भी पलट जाती है, क्रान्ति आती है और साम्यवाद के प्रसार के अवसर बढ़ जाते हैं। समृद्धि काल में पूंजीवादी व्यवस्था फलती-फूलती है।

(4) **आर्थिक कारक व जन्म-दर एवं मृत्यु-दर**–यदि समाज में अधिकांश व्यक्तियों का जीवन-स्तर उच्च है और व्यक्तियों की आवश्यक आवश्यकताओं की पूर्ति आसानी से हो जाती है तो ऐसे समाज में सन्तानोत्पत्ति व जन्म-दर बढ़ जाती है क्योंकि सन्तानों का पालन-पोषण करना सरल हो जाता है, परन्तु निम्न जीवन-स्तर होने पर मृत्यु-दर बढ़ जाती है क्योंकि लोग सन्तानों का लालन-पालन व चिकित्सा कराने तथा बीमारी की रोकथाम करने में असमर्थ होते हैं। उचित भोजन, स्वास्थ्य व चिकित्सा के आभाव में मृत्यु-दर बढ़ जाती है। इस प्रकार जनसंख्या के आकार को तय करने में आर्थिक कारक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

(5) **आर्थिक कारक व स्थानान्तरण**–आकाल, बाढ़, सूखा, उत्पादन के साधनों का अभाव व रोजगार की कमी, आदि के समय व्यक्ति स्थानान्तरण करने के लिए प्रेरित होते हैं और ऐसे स्थानों की ओर जाते हैं जो आर्थिक दृष्टि से समृद्ध हों। इसका कारण यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को रोटी, कपड़ा और मकान की आवश्यकता होती है। औद्योगीकरण व अधिक धन की प्राप्ति की लालसा ने व्यक्ति को गतिशील बनाया है। वह अपनी जन्म-भूमि को छोड़कर ऐसे स्थानों पर जाकर भी बस जाने को तैयार हो जाता है जहां वह अधिक धन कमा सके। स्थानान्तरण के कारण जनसंख्या के आकार में भी परिवर्तन होता है। स्थानान्तरण के कारण विभिन्न संस्कृतियों के व्यक्ति सम्पर्क में आते हैं, एक दूसरे के सांस्कृतिक तत्व, भाषा, खान-पान, वेश-भूषा, आदि को ग्रहण करते हैं। इससे उनके

सामाजिक जीवन में परिवर्तन आते हैं। स्थानान्तरण के कारण कभी-कभी संघर्ष पैदा होता है। स्पष्ट है कि आर्थिक परिस्थितियां जनसंख्या के स्थानान्तरण को प्रेरित करती हैं और स्थानान्तरण से सामाजिक परिवर्तन घटित होते हैं।

(6) आर्थिक कारक व जनसंख्या के शारीरिक एवं मानसिक लक्षण–धन की कमी व अधिकता का व्यक्ति के शारीरिक एवं मानसिक लक्षणों से घनिष्ठ सम्बन्ध है। यदि आर्थिक स्थिति उच्च होगी तो, व्यक्ति को स्वास्थ्यप्रद भोजन एवं अच्छा मकान व शिक्षा उपलब्ध होगी जो उसे मानसिक तनावों से भी मुक्त रखेंगे, परन्तु धनाभाव के कारण व्यक्ति को स्वास्थ्यप्रद भोजन, मकान, शिक्षा व अन्य सुविधाओं के उपलब्ध न होने पर मानसिक क्षमता का ह्रास होगा। ऐसे व्यक्तियों की सन्तानें भी शारीरिक रूप से दुर्बल, क्षीण व छोटे कद की होंगी। गरीबी लोगों को अपराध तक करने को बाध्य करती है।

(7) आर्थिक कारक और अपराध एवं आत्महत्या–यदि व्यक्ति को अपने उपभोग की वस्तुएं, शिक्षा व रोजगार के अवसर प्राप्त हो जायें तो वह साधारणत: अपराध नहीं करेगा, परन्तु निर्धनता के कारण व्यक्ति अपने नैतिक मूल्यों को त्यागकर अनैतिक कार्य करने को विवश हो जाता है। निम्न आर्थिक स्थिति व उच्च जीवन-स्तर की लालसा व्यक्ति को व्यभिचार, जुआ, कालाबाजारी, चोरी डकैती, वेश्यावृत्ति, रिश्वत, गबन, जालसाजी, आदि के लिए प्रेरित करती है। इस प्रकार गरीबी अपराधों को बढ़ाती है। विलियम बोंजर तथा फोरेन सारी डी वर्सी ने अपने अध्ययन में पाया कि अधिकांश अपराधियों ने गरीबी एवं निम्न आर्थिक स्थिति के कारण अपराध किया। गरीबी से तंग आने पर, व्यापार में घाटा लगने पर, दिवालिया होने पर अथवा अपराध करते हुए रंगे हाथों पकड़े जाने पर व्यक्ति आत्महत्या भी करते हैं। कई बार आर्थिक समृद्धि भी वेश्यावृत्ति मद्यपान, जुआखोरी एवं अन्य समस्याओं को जन्म देती है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आर्थिक कारक सामाजिक परिवर्तन लाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

मैक्स वेबर ने अपनी पुस्तक 'दी प्रोटेस्टैण्ट एथिक एण्ड दी स्पिरिट ऑफ कैपिटलिज्म' में धर्म को ही सामाजिक परिवर्तन के लिए उत्तरदायी माना। उनका मत है जब यूरोप में रोमन कैथोलिक धर्म था तो एक दूसरे प्रकार का समाज था, किन्तु जब प्रोटेस्टैण्ट धर्म आया तो आधुनिक पूंजीवाद समाज की नींव पड़ी। उन्होंने विश्व के छ: महान् धर्मों (हिन्दू, ईसाई, इस्लाम, चीनी आदि) का अध्ययन करके बताया कि केवल प्रोटेस्टैण्ट धर्म में ही वे बातें मौजूद थीं जो आधुनिक पूंजीवाद को जन्म दे सकती थीं। उनका मत है कि प्रत्येक धर्म में आचरण के नियम पाये जाते हैं जो लोगों के विचारों एवं व्यवहारों को तय करते हैं। अत: जब धर्म बदलता है तो समाज में भी परिवर्तन आता है। धर्म को वे परिवर्तन लाने वाला 'चल' (Variable) मानते हैं। प्रोटेस्टैण्ट धर्म की आर्थिक-संहिता में कुछ तत्व इस प्रकार बताये गये हैं : ईमानदारी सबसे अच्छी नीति है, एक पैसा बचाना एक पैसा कमाना है, समय ही धन है, पैसा पैसे को पैदा करता है, जल्दी सोना और जल्दी जागना मनुष्य को स्वस्थ, अमीर और बुद्धिमान बनाता है, कार्य ही पूजा है इत्यादि। इन सभी आचार नियमों ने प्रोटेस्टैण्ट मतावलम्बियों के जीवन एवं व्यवहार को प्रभावित किया और आधुनिक पूंजीवाद को जन्म दिया जिससे कि समाज-व्यवस्था ही बदल गयी। वेबर के सिद्धान्त की भी कई आलोचनाएं की जाती है। वे यह स्पष्ट नहीं कर सके कि स्वयं धर्म में परिवर्तन क्यों आता है।

1.12. धार्मिक कारक (Religious Factors)

मैक्स वेबर मार्क्स से सहमत नहीं थे कि केवल आर्थिक कारण ही सामाजिक परिवर्तन को जन्म देते हैं। "वेबर ने देखा कि समुदाय की व्यावहारिक नैतिकता और इसकी अर्थव्यवस्था के चरित्र के बीच प्रत्यक्ष सम्बन्ध है, परन्तु इस बात को स्वीकारने से उन्होंने इन्कार कर दिया कि अर्थव्यवस्था नैतिकता को निर्धारित करती है।" उन्होंने इस विचार को अठारहवीं शताब्दी के पश्चिमी यूरोप में पूँजीवाद की उत्पत्ति और विकास के सन्दर्भ में विकसित किया। मैक्स वेबर का उद्देश्य पश्चिमी पूँजीवाद की महत्त्वपूर्ण विशेषताओं को सामने लाना था क्योंकि वे इसे अनोखी ऐतिहासिक घटना मानते थे। उन्होंने स्थापित किया कि पूँजीवाद विभिन्न समयों में दुनिया के विभिन्न स्थानों में प्रकट हुआ। परन्तु उन्होंने स्वयं से यह प्रश्न पूछा–आधुनिक पश्चिमी पूँजीवाद को किस चीज ने अनोखा बनाया? जैसा कि वेबर ने देखा, इस प्रकार के पूँजीवाद ने संस्थाओं और संस्थाबद्ध व्यवहारों के जटिल समूह का प्रतिनिधित्व किया। संयुक्त संचय कम्पनी, संचय विनिमय संयंत्र, और विभिन्न प्रकार की मुद्राओं और मुद्रा विनिमय के साधनों

नोट

के आधार पर यह बात स्थापित हो गई। कुछ राजनैतिक विकास भी आधुनिक पूँजीवाद के विकास के साथ जुड़े हैं परन्तु इन सबसे बढ़कर उन्होंने पूँजीवाद की आवश्यकता, जिसे वे इसकी आत्मा कहते थे, को पहचाना। उनके अनुसार आधुनिक पश्चिमी पूंजीवाद को जो चीज़ विशिष्ट बनाती है वह ग्रहण करने की इसकी प्रवृत्ति या आर्थिक दुस्साहस में फंसने की इच्छा नहीं है। ये सब तो निस्संदेह उपस्थित हैं। परन्तु ये सब सर्वव्यापी हैं जो अनेक प्रकार की आर्थिक गतिविधियों में पाए जा सकते हैं जो दूसरे युगों व स्थानों में भी दिखाई देते थे। "वेबर ने आधुनिक पूँजीवाद में मौजूद नैतिक लिप्साओं पर अपनी उंगली रखी। यह एक नैतिक दृष्टिकोण था और जीवन के प्रति व्यवहारों का समूह था।" उसने आधुनिक पश्चिमी पूंजीवाद के तेवर की इस अनिवार्यता पर जोर दिया कि "अंततः जिन कारणों ने पूँजीवाद को जन्म दिया वे थे तर्कसंगत स्थायी उद्यम, तर्कसंगत गणना, तर्कसंगत तकनीक, तर्कसंगत कानून आदि परन्तु इन सबके आलावा कुछ आवश्यक पूरक कारक भी थे जैसे–तर्कसंगत तेवर, सामान्यतः जीवन के आचरणों में संगति और एक सुसंगत आर्थिक नैतिकता।"

धार्मिक कारक को एक परिवर्तनीय तत्व मानकर वेबर 'धर्म के आर्थिक आचारों' को अपने अध्ययन का आधार मान लेते हैं और इसी आधार पर धर्म के आर्थिक जीवन पर पड़ने वाले प्रभावों को ढूँढ़ने का प्रयत्न करते हैं। 'धर्म के आर्थिक आचारों' के अन्तर्गत वेबर धर्म से सम्बन्धित विभिन्न आध्यात्मिक सिद्धान्तों और विचारों को नहीं, वरन् आचरण के उन समस्त व्यावहारिक तरीकों को सम्मिलित करते हैं जोकि एक धर्म अपने सदस्यों के लिए निश्चित करता है। आपके अनुसार, आर्थिक आचारों और धार्मिक विश्वासों में एक सम्बन्ध है। साथ ही, आचरण के प्रभावपूर्ण स्वरूपों के निर्माण में आर्थिक कारक के अतिरिक्त अन्य अनेक कारकों का योग होता है, फिर भी उनमें धर्म एक महत्त्वपूर्ण कारक है।

1.13 प्रोटेस्टेंट आचार और पूँजीवाद का विकास (Protestant Ethics and Rise of Capitalism)

उपर्युक्त बातों को प्रमाणित करने के लिए मैक्स वेबर ने विश्व के छह महान् धर्मों को चुन लिया है। वे धर्म हैं–कन्फ्यूशियन, हिन्दू, बौद्ध, ईसाई, इस्लाम तथा यहूदी धर्म। वेबर ने इनमें से प्रत्येक धर्म के आर्थिक आचारों का विश्लेषण किया, और फिर उन आचारों के, उस धर्म-विशेष को मानने वाले लोगों के आर्थिक तथा सामाजिक संगठन पर पड़ने वाले, प्रभावों को सिद्ध किया। इस विषय में मैक्स वेबर का अधिक महत्त्वपूर्ण तथा परिपक्व सामान्य निष्कर्ष उनकी सर्वाधिक प्रख्यात रचना दी प्रोटेस्टेण्ट इथिक एण्ड दी स्पिरिट ऑफ कैपिटलिज्म (The Protestant Ethic and the Spirit of Capitalism) में मिलता है। इसमें आपने प्रोटेस्टेण्ट धर्म और पूँजीवाद के सम्बन्ध को विस्तृत रूप में प्रस्तुत किया है। आपके मतानुसार प्रोटेस्टेण्ट धर्म में कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जबकि उन आर्थिक नियमों की व्यवस्था को उत्पन्न करने में सहायक हुईं जिसे कि हम पूँजीवाद कहते हैं; और यह प्रोटेस्टेण्ट ही था जिसने एक पूँजीवाद अर्थ-व्यवस्था के विकास में प्रत्यक्ष प्रेरणा प्रदान की। परन्तु इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं कि प्रोटेस्टेण्ट धर्म एकमात्र कारक है। वेबर ने सदा एक बात पर बल दिया कि आधुनिक पूँजीवाद के विकास के लिए अनेक परस्पर स्वतन्त्र अवस्थाएँ आवश्यक थीं। फिर भी आपने उतनी ही निश्चितता और दृढ़ता से यह भी कहा कि प्रोटेस्टेण्ट आचार एक आवश्यक कारक था और इसके बिना पूँजीवाद का विकास सर्वथा भिन्न होता।

प्रोटेस्टेण्ट धर्म और पूँजीवाद के उक्त सम्बन्ध को प्रमाणित करने के लिए वेबर ने इन दोनों के 'आदर्श-प्रारूपों' को चुना है। आधुनिक पूँजीवाद के विशिष्ट लक्षण इस प्रकार हैं–इस अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत उद्योग, व्यापार और वाणिज्य बड़े पैमाने में बिल्कुल वैज्ञानिक आधारों पर विवेकपूर्ण ढंग से संगठित तथा संचालित होता है; निजी सम्पत्ति सम्पूर्ण व्यवस्था का सर्वप्रथम अंग होती है; उत्पादन का कार्य बड़ी-बड़ी मिल तथा फैक्ट्री में अधिक लोगों की सहायता से मशीनों द्वारा होता है; और इस प्रकार से उत्पादित वस्तुओं की संगठित विक्रय-व्यवस्था की जाती है; अधिकतम कार्यकुशलता के लिए श्रम-विभाजन तथा विशेषीकरण पर अधिक बल दिया जाता है; और सर्वप्रमुख उद्देश्य अधिकतम लाभ प्राप्त करना होता है। पूँजीवादी व्यस्था में कार्य ही जीवन तथा कुशलता ही धन है। प्रत्येक व्यक्ति को अधिमत उत्साह तथा अधिकतम कुशलता के साथ कार्य करना पड़ता है। इस व्यवस्था में जोखिम अधिक होता है, इस कारण इसमें व्यक्ति में आत्मविश्वास, कर्त्तव्यपरायणता तथा अपने व्यवसाय के प्रति

नोट

पूरी निष्ठा होनी चाहिए। इसे ही 'व्यावसायिक आचार' कहा जाता है। जो व्यक्ति अपने कार्य या व्यवसाय में कुशल हैं, वे धन और मान दोनों को ही पाते हैं; और जिनमें कार्यकुशलता कम होती है, वे धन और मान दोनों से ही वंचित रहते हैं। पूँजीवादी व्यवस्था में जो कुछ भी अकुशल और पुराना है, उसका पतन अनिवार्य है। संक्षेप में, यही पूँजीवाद का प्रमुख तत्व है।

परन्तु यहाँ प्रश्न यह है कि वह कौन-सी शक्ति है जोकि इस प्रकार की आर्थिक व्यवस्था को सम्भव बनाती है तथा उसे स्थिर रखती है? यह शक्ति, वेबर के अनुसार, प्रोटेस्टेण्ट धर्म का आर्थिक आचार है। पूँजीवादी व्यवस्था को बनाए रखने के लिए व्यक्ति के द्वारा जिन आचरणों को किया जाना आवश्यक है उनके सम्बन्ध में लोगों को अनेक उपदेश प्रोटेस्टेण्ट धर्म से प्रभावित सामाजिक नेताओं से प्राप्त होते हैं। उदाहरणार्थ, **बेंजामिन फ्रेंकलिन** ने, जोकि आधुनिक पूँजीवाद के मूल सिद्धान्तों के प्रारम्भिक प्रतिपादक माने जाते हैं, अपनी आत्मकथा में अपने अनेक उपदेश उन लोगों को दिए हैं जोकि व्यवसाय में सफल होना या धनी होना चाहते हैं। ये उपदेश प्रोटेस्टेण्ट आचारों द्वारा प्रभावित और बहुत-कुछ उनके अनुरूप हैं। इन उपदेशों में कुछ उपदेश इस प्रकार हैं–'समय ही धन है', 'धन से धन कमाया जाता है', 'एक पैसा बचाना एक पैसा कमाना है', 'ईमानदारी सबसे अच्छी नीति है', 'जल्दी सोना और जल्दी उठना व्यक्ति को स्वस्थ, धनी और बुद्धिमान बनाता है।' यदि हम इन समस्त उपदेशों के पीछे छिपे मनोभावों पर ध्यान दें तो हम स्पष्टतया यह पाएँगे कि ये सभी निर्देश एक विशेष बात पर विशेष बल देते हैं और वह यह है कि 'कार्य करना ही सबसे बड़ा गुण है' और इस कारण हमें कम-से-कम इतना बुद्धिमान होना चाहिए कि हम कठोर परिश्रम करें और धन को कमाएँ और बचाएँ, ताकि हम स्वस्थ और धनी हो सकें। इस प्रकार के मूल सिद्धान्तों या मनोभावों के बिना आधुनिक पूँजीवाद कदापि सम्भव न होता। यह मूल सिद्धान्त, जैसा कि निम्नलिखित विवेचना से स्पष्ट होगा, प्रोटेस्टेण्ट धर्म से लोगों को प्राप्त होता है। पूँजीवाद के विकास में प्रोटेस्टेण्ट धर्म के आचारों का प्रभाव निम्नवत् है–

(1) पहला, 'काम करना ही सबसे बड़ा गुण है', यह एक प्रोटेस्टेण्ट आचार है। कैथोलिक आचार में इस प्रकार का कोई विचार नहीं पाया जाता है। कैथोलिक धर्म में प्रचलित एक गाथा से यह बात स्पष्टतया प्रमाणित होती है। गाथा इस प्रकार है कि आदम तथा ईव ने स्वर्ग में अच्छे और बुरे ज्ञान के वृक्ष के फलों को खा लिया था; इस अपराध के दंडस्वरूप ईश्वर ने उन दोनों को स्वर्ग से बहिष्कार कर दिया और उन्हें यह दंड दिया कि अब से ईव और उसकी कन्याएँ कष्ट से बच्चे को जन्म देंगी और आदम और उनके पुत्रों को एड़ी-चोटी का पसीना एक करके रोटी कमानी होगी। अत: स्पष्ट है कि कैथोलिक आचार में श्रम एक गुण नहीं, बल्कि एक दंड है। इसके विपरीत प्रोटेस्टेण्ट आचार में कार्य ऐसी क्रिया या आचरण है जिसे कि करना उचित है, और स्वयं कार्य के लिए ही कार्य करना चाहिए। 'कर्म ही पूजा है' या 'परिश्रम से ही ईश्वर की प्राप्ति हो सकती है',–ये आचार प्रोटेस्टेण्ट धर्म के ही हैं, और इनकी बहुत बड़ी देन पूँजीवाद के विकास में है।

(2) प्रोटेस्टेण्ट धर्म की **दूसरी**, देन, जोकि पूँजीवाद के विकास में सहायक सिद्ध हुई है, 'व्यावसायिक आचार' है। इसका सम्बन्ध उस विश्वास से है जिसे कैलविनवाद कहा जाता है, और जिसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा मृत्यु के पश्चात् या तो स्वर्ग या नरक में चली जाती है, और व्यक्ति के जीवन-काल में कोई भी कार्य उसके भाग्य को बदल नहीं सकता। परन्तु उसके जीवन-काल में कुछ इस प्रकार के लक्षण प्रकट होते हैं जोकि उसे पहले से ही यह संकेत कर सकते हैं कि उसकी आत्मा स्वर्ग में जाएगी या नरक में? यदि एक व्यक्ति अपने कार्य या व्यवसाय में अधिकाधिक सफलता प्राप्त करता है, तो वह इस बात का संकेत है कि उनकी आत्मा स्वर्ग को जाएगी। इन विश्वास के माध्यम से प्रत्येक व्यक्ति पर एक नैतिक दबाव इस रूप में डाला जाता है कि वह अपने पेशे व व्यवसाय में कठोर परिश्रम करे और उसके प्रति पूर्ण निष्ठा बरते ताकि उसे अधिकाधिक सफलता प्राप्त हो सके। अपने कार्य को भली प्रकार तथा सफलतापूर्वक करना ईश्वरीय इच्छा का ही गुण-कीर्तन करना है। केवल गिरजाघर जाने या तीर्थ-यात्रा करने से ही मुक्ति नहीं मिलती; मुक्ति तो अपने कर्मों या व्यवसायों को उचित ढंग से करने से ही मिल सकती है। एक व्यक्ति अपने धार्मिक कर्त्तव्यों का पालन केवल गिरजाघर में ही नहीं, बाजारों में भी कर सकता है। यह प्रोटेस्टेण्ट आचार पूँजीवाद के विकास में अत्यधिक सहायक अवश्य ही सिद्ध हुआ है क्योंकि पूँजीवाद की सफलता और विकास इसी बात पर निर्भर है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यवसाय के क्षेत्र में अधिकतम उत्साह और निष्ठा के साथ काम करे।

(3) पूँजीवाद को प्रोटेस्टेण्ट धर्म की तीसरी देन यह है कि इस धर्म के अन्तर्गत ऋण पर सूद वसूल करने की मान्यता या स्वीकृति है। जैसाकि पहले कहा जा चुका है, **बेंजामिन फ्रेंकलिन** के अनुसार, 'धन से धन कमाया जाता है।' इसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि अपने धन का विनियोग धन, जिसमें कि सूद के रूप में प्राप्त धन भी सम्मिलित है, कमाने के लिए किया जा सकता है। कैथोलिक धर्म में सूद लेना बुरा समझा जाता है; इसके विपरीत, प्रोटेस्टेण्ट धर्म में इस प्रकार सूद लेने की स्वीकृति है। अत: धन को खुलेआम बिना किसी ईश्वरीय दंड या कोप के भय से धन कमाने या सूद एकत्रित करने के लिए लगाया जा सकता है। ये सभी बातें पूँजीवाद के विकास में सहायक सिद्ध हुई हैं।

(4) प्रोटेस्टेण्ट धर्म की पूँजीवाद के विकास में **चौथी** देन यह है कि इस धर्म ने शराबखोरी को बुरा बताया और ईमानदारी को ऊँचा पद प्रदान किया। इस धार्मिक आचार के परिणामस्वरूप लोगों में शराब पीकर आलसीपन करने की प्रवृत्ति घटती गई और उनकी कुशलता बढ़ी। शराबखोरी पर प्रतिबन्ध पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था में अत्यन्त महत्त्व का कारण है कि इसके अन्तर्गत लोगों को मशीन पर काम करना पड़ता है। शराब पीकर हल चलाया जा सकता है, पशुओं को चराया जा सकता है, पर मशीन चलाना कठिन होगा, और ऐसा करना सम्भव होने पर भी जान-माल का खतरा होगा।

(5) प्रोटेस्टेण्ट आचार का पूँजीवाद के विकास में **अन्तिम** प्रभाव इस रूप में है कि वह कैथोलिक आचार की भाँति अधिक छुट्टी के पक्ष में नहीं है। प्रोटेस्टेण्टवादियों के लिए कर्म ही आराधना है। पूँजीवादी व्यवस्था की सफलता के लिए भी अधिक कार्य और कम छुट्टियाँ आवश्यक हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्रोटेस्टेण्ट धर्म और उसका आर्थिक आचार वह प्रभावशाली शक्ति है जोकि पूँजीवाद के विकास में प्रमुख कारक रही है, परन्तु जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि प्रोटेस्टेण्ट आचार पूँजीवाद के विकास में एकमात्र कारक है। अन्य अनेक कारकों का भी योग इस दिशा में अवश्य रहा होगा। इस अर्थ में **मैक्स वेबर** को एक-कारकवादी नहीं, बल्कि बहु-कारकवादी माना जा सकता है। **वेबर** ने पूँजीवाद तथा प्रोटेस्टेण्ट आचारों के बीच सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिए अनेक ऐतिहासिक प्रमाणों को प्रस्तुत किया है। आपने यह दर्शाया है कि पूँजीवाद का सर्वोत्तम विकास इंग्लैंड, अमेरिका, हालैंड आदि उन देशों में हुआ है। जहाँ कि लोग प्रोटेस्टेण्ट धर्म के अनुयायी हैं। इसके विपरीत, इटली, स्पेन आदि देशों के लोग कैथोलिक धर्म के अनुयायी होने के कारण पूँजीवाद को अधिक विकसित नहीं कर पाए हैं। इसी प्रकार **मैक्स वेबर** ने और भी अनेक प्रमाण ऐसे दिए हैं जिनसे इस सिद्धान्त की पुष्टि हो सके कि आधुनिक पूँजीवाद प्रोटेस्टेण्ट धर्म से अत्यधिक प्रभावित हुआ है। यद्यपि यह धर्म पूँजीवाद की उत्पत्ति और विकास में एकमात्र कारक नहीं है, फिर भी सबसे अधिक प्रभावशाली कारक या शक्ति अवश्य ही रहा है।

इसी तरह **मैक्स वेबर** ने कन्फ्यूशियन-धर्म, बौद्ध-धर्म, हिन्दू धर्म, इस्लाम धर्म और यहूदी धर्म का विश्लेषण किया और यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि इन सभी धर्मों के आर्थिक आचारों के अनुरूप ही समाज का आर्थिक तथा सामाजिक संगठन निश्चित हुआ है। उदाहरणार्थ, हिन्दू धर्म को ही लीजिए। **मैक्स वेबर** ने हिन्दू धर्म को जिस रूप में देखा और प्रस्तुत किया है उसके अनुसार मूल अर्थों में हिन्दू धर्म में मुक्ति का अर्थ केवल 'कर्म के चक्र से मुक्ति' है; किन्तु इस लक्ष्य को दूसरे लोगों से अधिक सांसारिक सफलता पाकर प्राप्त नहीं किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में, यदि आप दूसरे व्यक्तियों से कहीं अधिक सांसारिक सफलताएँ प्राप्त करते हैं, तो वे सफलताएँ आपके मुक्ति-प्राप्ति में सहायक कदापि सिद्ध न होंगी। मुक्ति तो समस्त सांसारिक 'मायाओं', इच्छाओं और अभिरुचियों से अपने को पूर्णतया अलग या दूर रखकर और ब्रह्म से साक्षात्कार करके उसमें अपने को विलीन कर देने पर ही प्राप्त की जा सकती है। संक्षेप में, हिन्दू धर्म ने इसके मानने वालों को भौतिक उन्नति करने में, या सांसारिक सफलताएँ, अथवा लौकिक लक्ष्यों को प्राप्त करने में किसी प्रत्यक्ष अभिरुचि की प्रेरणा नहीं दी। इसी कारण हिन्दू धर्म को मानने वाले भौतिक उन्नति में नहीं, आध्यात्मिक उन्नति में संसार में सबसे आगे रहे। साथ ही इस धर्म का हिन्दू सामाजिक संगठन के स्वरूप को निश्चित करने में भी पर्याप्त योग रहा। आध्यात्मिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए यह आवश्यक था कि धार्मिक नियमों को कठोरता से लागू किया जाए। इसी कारण सामाजिक व्यवस्था और कार्य करने की रीति में हमें इतनी कट्टरता दिखाई पड़ती है। धर्म के इस कट्टरपन की

एक सामाजिक अभिव्यक्ति हिन्दू जाति-प्रथा है। जाति-प्रथा को स्थिर रखने में 'कर्म के सिद्धान्त' का अत्यधिक योग रहा है। जाति-प्रथा में परम्परागत कर्त्तव्यों, विशेषकर धार्मिक संस्कारों या कर्त्तव्यों, को सच्चाई से पूरा करना ही अच्छे व्यवहार का एकमात्र मापदण्ड है। सबको यह विश्वास दिलाया जाता है कि जाति-प्रथा के अन्तर्गत प्रत्येक जाति को जो कर्म या कार्य सौंपा गया है, उसके प्रति निष्ठा रखते हुए अपने कर्मों तथा कर्त्तव्यों को करते रहने से ही व्यक्ति एक उच्चतर जाति में पुनर्जन्म लेकर अपनी आधारभूत धार्मिक स्थिति में सुधार की कोई आशा कर सकता है। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि हिन्दू धर्म ने इस समाज के आर्थिक तथा सामाजिक संगठन को निश्चित करने में पर्याप्त योग दिया है।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि **मैक्स वेबर** के धर्म के समाजशास्त्र की मूल विशेषता धर्म तथा आर्थिक व सामाजिक संगठन के बीच सम्बन्ध का सिद्धान्त है। जैसा कि **वेबर** ने बार-बार कहा है कि विचार नहीं, बल्कि धार्मिक स्वार्थ कर्म को प्रेरित करते हैं और ये कर्म आर्थिक व सामाजिक संगठन को निश्चित करते हैं। धर्म के समाजशास्त्र का यही मूल तत्व है।

1.14 सांस्कृतिक कारक (Cultural Factors)

मानव जीवन का सामाजिक चरित्र और व्यवहार की मानवीकृत प्रणाली का अस्तित्व समाजशास्त्र के अध्ययन के लिए बुनियाद का काम करते हैं। मानवीय क्रियाकलापों की नियमितताओं और सामाजिक जीवन के तथ्य का विवेचन करने के लिए और इनकी जड़े तलाशने के लिए समाजशास्त्रियों ने संस्कृति की अवधारणा विकसित की है। संस्कृति मानव जीवन की एक अनोखी घटना है। संस्कृति के आभाव में मानव को पशु से श्रेष्ठ नहीं माना जा सकता।

सामाजिक परिवर्तन के विभिन्न कारकों में सांस्कृतिक कारकों का विशेष महत्त्व है। इसका प्रमुख कारण यह है कि संस्कृति व्यक्ति के विश्वासों, मूल्यों, विचारों, आदतों एवं व्यवहारों को बहुत कुछ सीमा तक प्रभावित करती है। अन्य शब्दों में, संस्कृति व्यक्ति के समाजीकरण और व्यक्तित्व के निर्माण में अपूर्व योग देती है। जैसे ही किसी संस्कृति में परिवर्तन आता है, जैसे ही सांस्कृतिक तत्व बदलते हैं, वैसे ही व्यक्तियों की आदतों और व्यवहारों में परिवर्तन आता है। इस परिवर्तन के साथ-साथ सामाजिक सम्बन्धों, व्यवहारों, प्रस्थितियों और भूमिकाओं तथा समग्र रूप में सामाजिक संरचना (Social Structure) में बदलाव आता है। यही बदलाव सामाजिक परिवर्तन है और इसका कारण है–संस्कृति के विभिन्न तत्वों में होने वाला परिवर्तन या सांस्कृतिक कारक। यहां सामाजिक परिवर्तन के सांस्कृतिक कारकों की विवेचना करने के पूर्व संक्षेप में संस्कृति को समझ लेना भी आवश्यक है।

संस्कृति शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में किया गया है। **मजूमदार** और **मदान** लोगों के जीवन जीने के ढंग को ही संस्कृति मानते हैं। **टायलर** के अनुसार, "संस्कृति वह समग्र जटिलता है जिसमें ज्ञान, विश्वास, कला, आचार, कानून, प्रथा और ऐसी ही अन्य क्षमताओं एवं आदतों का समावेश है जो मनुष्य समाज का एक सदस्य होने के नाते प्राप्त करता है।" **टायलर** की इस परिभाषा में स्पष्ट किया गया है कि संस्कृति सामाजिक विरासत (Social Heritage) है, समाज द्वारा मानव को दिया हुआ उपहार है। संस्कृति जीवन की सम्पूर्ण विधि (Total way of life) है तथा मानसिक, सामाजिक एवं भौतिक साधन है जिससे कि जीवन विधि बनी हुई है।

पिडिंगटन के अनुसार, "संस्कृति उन भौतिक तथा बौद्धिक साधनों और उपकरणों का सम्पूर्ण योग है जिनके द्वारा मानव अपनी प्राणीशास्त्रीय तथा सामाजिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि तथा अपने पर्यावरण से अनुकूलन करता है।" **हरस्कोविट्स** संस्कृति को "पर्यावरण का मानव-निर्मित भाग कहते हैं।"

हॉबल के अनुसार, "संस्कृति सीखे हुए व्यवहार प्रतिमानों का कुल योग है जो किसी समाज के सदस्यों की विशेषता है जो कि प्राणीशास्त्रीय विरासत का परिणाम नहीं है।" हॉबल की इस परिभाषा से स्पष्ट है कि संस्कृति सीखी जाती है। अत: वह एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित की जाती है।

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि संस्कृति की कोई भी एक सर्वमान्य परिभाषा नहीं है। संस्कृति शब्द इतना जटिल और विस्तृत है कि उसकी एक सर्वमान्य परिभाषा देना एक कठिन कार्य है। फिर भी हम संस्कृति को सार रूप में इस प्रकार समझा सकते हैं : **वास्तव में एक समाज-विशेष के सम्पूर्ण व्यवहार-प्रतिमानों अथवा समग्र जीवन-विधि को संस्कृति के नाम से पुकारा जा सकता है। संस्कृति के अन्तर्गत विचार तथा व्यवहार**

नोट

के सभी प्रकार आ जाते हैं जो संचारात्मक अन्तःक्रिया के द्वारा व्यक्तियों को प्राप्त होते हैं अर्थात् मानव बोलने, हाव-भाव से तथा उदाहरण से इन्हें प्राप्त करता है, न कि वंशानुक्रमण द्वारा। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु मनुष्य ने जिन भौतिक एवं अभौतिक वस्तुओं का निर्माण अथवा विकास किया है, वे सब संस्कृति के अन्तर्गत आती हैं।

1.15 सांस्कृतिक कारक और सामाजिक परिवर्तन (Cultural Factors and Social Change)

संस्कृति या सांस्कृतिक कारकों और सामाजिक परिवर्तनों के बीच गहरा सम्बन्ध पाया जाता है। संस्कृति जिसके अन्तर्गत धर्म, प्रथा, संस्थाएं, रूढ़ियां, मूल्य, आदर्श, विश्वास, आदि आते हैं, लोगों के बीच होने वाली अन्तःक्रिया और सामाजिक सम्बन्धों को अनेक रूपों में प्रभावित करती है। संस्कृति के आधार पर ही यह निर्धारित होता है कि कौन किसके साथ कैसे सम्बन्ध स्थापित करेगा और इस सम्बन्ध के आधार पर कैसा व्यवहार करेगा। परिवार के विभिन्न सदस्यों के बीच किस प्रकार के सम्बन्ध होंगे और वे एक-दूसरे के साथ कैसा व्यवहार करेंगे। यह संस्कृति द्वारा ही तो निश्चित होता है। संस्कृति के अन्तर्गत आने वाला धर्म सामाजिक परिवर्तन की दिशा निश्चित करता है। संस्कृति का भौतिक पक्ष आदतों के परिवर्तन में और अभौतिक पक्ष व्यवहार के परिवर्तन में योग देता है। जब किसी समूह के लोगों की आदतें और व्यवहार बदलते हैं तो सामाजिक परिवर्तन आता है। संस्कृति आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक और प्रौद्योगिकीय क्षेत्र में परिवर्तन लाकर सामाजिक परिवर्तन में योग देती है।

(1) **आर्थिक जीवन में होने वाले अनेक परिवर्तनों के लिए संस्कृति उत्तरदायी है।** भारतीय संस्कृति में आध्यात्मवाद पर विशेष जोर दिया गया है जिसके परिणामस्वरूप बहुत-से लोग आर्थिक प्रगति के प्रति कुछ उदासीन रहे हैं। यहां उतनी आर्थिक प्रगति नहीं हो पायी जितनी अमरीका में हो सकी है। इसका एक प्रमुख कारण यह है कि वहां की संस्कृति में भौतिक उन्नति को काफी महत्व दिया जाता है। मैक्स वेबर ने धर्म, जो कि संस्कृति का एक अंग है और आर्थिक जीवन के बीच गहरा सम्बन्ध दर्शाया है। आपने बताया कि जिन देशों में प्रोटेस्टेण्ट धर्म के अनुयायी हैं, वहां पूंजीवाद का विकास हो सका; जैसे, हॉलैण्ड, इंग्लैण्ड, अमेरिका, आदि में। इसका कारण यह है कि प्रोटेस्टेण्ट धर्म की आचार-संहिता ही कुछ इस प्रकार की है कि उसके अनुरूप आचरण या व्यवहार करने पर पूंजीवाद का विकास स्वाभाविक है। इसके विपरीत, इटली, स्पेन, आदि देशों में पूंजीवाद का विकास नहीं होने का प्रमुख कारण वहां कैथोलिक धर्म के अनुयायियों का होना है। इस धर्म की आचार-संहिता में कुछ ऐसी बातें हैं जो पूंजीवादी व्यवस्था के विकास में सहायक नहीं हैं। इससे ज्ञात होता है कि सांस्कृतिक कारक आर्थिक जीवन को काफी कुछ प्रभावित करता है।

(2) **सांस्कृतिक कारकों का समाज-विशेष के राजनीतिक संगठन पर भी काफी प्रभाव पड़ता है।** किस समाज में प्रजातन्त्र होगा, किस में कुलीनतन्त्र या राजतन्त्र होगा, कहां समाजवादी या साम्यवादी व्यवस्था को बढ़ावा मिलेगा, यह बहुत-कुछ समाज-विशेष के सांस्कृतिक पर्यावरण पर निर्भर करेगा। जैसे-जैसे किसी समाज का सांस्कृतिक पर्यावरण बदलता है, उसके साथ-ही-साथ लोगों के मूल्यों, विश्वासों और विचारों में भी परिवर्तन आता है जो राजनीतिक संगठन के स्वरूप को निर्धारित करता है। साथ ही किसी देश में कैसे कानून बनाये हैं, किस प्रकार की समाज सुधार योजनाएं हाथ में ली जायेंगी, समाज के कमजोर वर्गों के लिए क्या कुछ किया जायेगा, यह बहुत कुछ सांस्कृतिक पर्यावरण पर निर्भर करता है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् भारतीयों के मूल्यों और विश्वासों में अनेक कारणों से कई परिवर्तन आये हैं और इनका प्रभाव लोकसभा द्वारा समय-समय पर पारित किये गये विवाह और परिवार से सम्बन्धित अधिनियमों पर स्पष्टतः दिखायी पड़ता है।

(3) **समाज-विशेष के सांस्कृतिक पर्यावरण और सामाजिक संगठन एवं सामाजिक संरचना के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध पाया जाता है।** हिन्दुओं और मुसलमानों तथा ईसाइयों की सामाजिक संरचना में काफी भिन्नता पायी जाती है और इस भिन्नता का एक मुख्य कारण इन समाजों के सांस्कृतिक पर्यावरण का

नोट

अन्तर है। जहां हिन्दुओं में गोत्र और सप्रवर बहिर्विवाह की प्रथा पायी जाती है, वहां मुसलमानों के कुछ अति निकट के रक्त-सम्बन्धियों को छोड़कर शेष के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किये जा सकते हैं। इसी प्रकार हिन्दुओं में विवाह को एक धार्मिक संस्कार और मुसलमानों में सामाजिक समझौता माना जाता है। परिवार के क्षेत्र में भी विभिन्न सांस्कृतिक समूहों में भिन्नता देखने को मिलती है। उदाहरण के रूप में, हिन्दुओं में विशेषत: संयुक्त परिवार का तो ईसाइयों में नाभिक परिवार का प्रचलन रहा है। किसी सांस्कृतिक समूह में मातृसत्तात्मक तो किसी में पितृसत्तात्मक परिवार पाये जाते हैं। कहीं पुरुषों की सामाजिक स्थिति स्त्रियों से ऊंची है तो कहीं इसके विपरीत स्त्रियों की स्थिति पुरुषों से ऊंची है। हिन्दुओं में पायी जाने वाली जाति-प्रथा का एक प्रमुख कारण हिन्दू संस्कृति है, हिन्दुओं की धार्मिक मान्यताएं हैं। यहां जाति-प्रथा के पाये जाने का और इतने लम्बे समय तक अनेक रूपों में लोगों के जीवन को प्रभावित करने का एक प्रमुख कारण यहाँ की संस्कृति है। वर्तमान में पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति के प्रभाव और बढ़ती हुई शिक्षा, मानवतावादी और उदारवादी मूल्यों के प्रसार तथा विज्ञान के व्यापक प्रभाव से यहां कि सांस्कृतिक विशेषताओं में कुछ अन्तर आया है। अब स्वतन्त्रता, समानता और बन्धुत्व के भाव पनपने लगे हैं, प्रजातान्त्रिक मूल्यों का प्रभाव बढ़ा है, लोग तार्किक दृष्टिकोण अपनाने लगे हैं। सांस्कृतिक पर्यावरण में होने वाले इस परिवर्तन का प्रभाव भारतीय जाति-व्यवस्था और सम्पूर्ण सामाजिक जीवन पर स्पष्टत: दिखायी पड़ता है।

(4) **सांस्कृतिक कारकों का प्रौद्योगिकीय क्षेत्र में होने वाले परिवर्तनों पर भी काफी प्रभाव पड़ता है।** संस्कृति ही यह निर्धारित करती है कि प्रौद्योगिकी (Technology) का प्रयोग किस प्रकार किया जायेगा। कारखानों में वे ही वस्तुएं बनती है जिनका लोग प्रयोग करते हैं और वे कौन-सी वस्तुओं का प्रयोग करते हैं, यह बहुत कुछ संस्कृति पर निर्भर करता है। प्रौद्योगिक क्षेत्र में होने वाले अनेक अविष्कार-मशीन, उपकरण, प्रौद्योगिक कौशल या समग्र रूप में प्रौद्योगिक परिवर्तन लोगों के मूल्यों, विश्वासों व आदर्शों या अन्य शब्दों में संस्कृति पर निर्भर करते हैं। किसी प्रौद्योगिकी का किस प्रकार प्रयोग किया जायेगा, इसका निर्धारण संस्कृति के द्वारा ही होता है। मैकाइवर एवं पेज ने इस बात को एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया है। इन्होंने बताया है कि एक जहाज का विभिन्न तरीकों से प्रयोग किया जा सकता है, उसकी सहायता से अनेक बंदरगाह तक पहुँचा जा सकता है, व्यापारिक उद्देश्य से, धार्मिक या सांस्कृतिक उद्देश्य से, यात्रा के उद्देश्य से और किसी देश पर आक्रमण के उद्देश्य से। जहाज का प्रयोग किस उद्देश्य से किया जायेगा, यह बहुत कुछ संस्कृति पर निर्भर करता है। इसी प्रकार कारखानों में जीवन के लिए उपयोगी वस्तुएँ तैयार की जायेंगी, आरामदायक वस्तुएँ या भोगविलास की सामग्री अथवा युद्ध के लिए अस्त्र-शस्त्र आदि में से किसका निर्माण किया जायेगा, यह बहुत कुछ संस्कृति पर ही निर्भर करता है।

मानव समाज या जीवन पर संस्कृति का प्रभाव निम्नलिखित रूपों में पड़ता है।

1.16 संस्कृति का समाज एवं मानव जीवन पर प्रभाव (Culture's Impact on Society and Human Life)

(1) **संस्कृति मानव आवश्यकताओं की पूर्ति करती है**–संस्कृति का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष यह है कि यह मानव की विभिन्न शारीरिक, सामाजिक एवं मानसिक आवश्यकताओं की पूर्ति करती है। मानव की आवश्यकता पूर्ति के लिए ही समय-समय पर अनेक आविष्कार होते रहे और वे संस्कृति के अंग बनते गये।

(2) **संस्कृति व्यक्तित्व निर्माण में मौलिक है**–प्रत्येक मनुष्य किसी-न-किसी संस्कृति में जन्म लेता है। उसका पालन-पोषण किसी सांस्कृतिक पर्यावरण में ही होता है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी संस्कृति को ग्रहण करता है और अपने व्यक्तित्व में उसको आत्मसात कर लेता है। इसीलिए यह कहा जाता है कि व्यक्ति संस्कृति का आत्म-वैषयिक (Subjective) पक्ष है। व्यक्तियों में भिन्नता सांस्कृतिक भिन्नता के कारण ही होती है।

नोट

(3) **संस्कृति मानव को मूल्य एवं आदर्श प्रदान करती है**–प्रत्येक व्यक्ति अपनी संस्कृति के आदर्शों एवं मूल्यों के अनुरूप ही समाज में व्यवहार करता है। आदर्शों एवं मूल्यों की अवहेलना करने पर व्यक्ति को सामाजिक तिरस्कार का सामना करना पड़ता है।

(4) **संस्कृति मानव की आदतों का निर्धारण करती है**–चूंकि प्रत्येक मनुष्य किसी-न-किसी पूर्व-प्रचलित संस्कृति में ही जन्म लेता है, अत: संस्कृति ही व्यक्ति के खान-पान और वेशभूषा से सम्बन्धित तथा आदतों का निर्धारण करती है।

(5) **संस्कृति नैतिकता का निर्धारण करती है**–समाज में उचित एवं अनुचित का निर्धारण संस्कृति के प्रतिमानों के आधार पर ही होता है। संस्कृति ही व्यक्ति में नैतिकता एवं उचित और अनुचित के भाव उत्पन्न करती है।

(6) **संस्कृति व्यवहारों में एकरूपता लाती है**–एक संस्कृति से सम्बन्धित सभी व्यक्तियों के व्यवहारों, रीति-रिवाजों, प्रथाओं, लोकाचारों, मूल्यों, आदर्शों एवं नैतिकता में समानता पायी जाती है। सभी व्यक्ति उनको समान रूप से मानते हैं और उनके अनुरूप आचरण करते हैं, इससे समाज में समानता एवं एकरूपता पैदा होती है।

(7) **संस्कृति अनुभव एवं कार्यकुशलता को बढ़ाती है**–संस्कृति का पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरण होता है। अत: नयी पीढ़ी को पुरानी पीढ़ी का अनुभव एवं कौशल प्राप्त होता है।

(8) **संस्कृति व्यक्ति को सुरक्षा प्रदान करती है**–संस्कृति में मानव व्यवहार से सम्बन्धित सभी पक्ष पूर्व-निर्धारित होते हैं जिनके पीछे पूर्वजों का अनुभव होता है। अत: उसे हर बार अपने आचरणों को तय करने के बारे में सोचना नहीं पड़ता वरन् वह स्वत: ही समाज सम्मत आचरणों को सीखता जाता है और उनके अनुसार व्यवहार करता रहता है। इससे व्यक्ति को मानसिक एवं सामाजिक सुरक्षा महसूस होती है।

(9) **संस्कृति समस्याओं का समाधान करती है**–जब भी व्यक्ति के सम्मुख कोई समस्या या संकट आता है तो वह उसका हल अपनी संस्कृति से प्राप्त अनुभवों, ज्ञान एवं नियमों के अनुसार ढूंढता है।

(10) **संस्कृति मानव की संज्ञा प्रदान करती है**–मानव जन्म से ही एक जैविकीय इकाई होता है। समाजीकरण की प्रक्रिया के द्वारा वह अपनी संस्कृति को सीखता है। संस्कृति को आत्मसात करना ही समाजीकरण है। इस प्रकार संस्कृति मानव को पशु-स्तर से उठाकर मानव की संज्ञा प्रदान करती है।

(11) **संस्कृति ही प्रस्थिति एवं भूमिका का निर्धारण करती है**–एक व्यक्ति अपने समाज में कौन-से पद एवं प्रस्थितियां प्राप्त कर सकता है। अर्जित एवं प्रदत्त प्रस्थितियों को प्राप्त करने के नियम एवं उनसे सम्बन्धित व्यक्ति की भूमिका, शक्ति, अधिकार, कर्तव्य एवं दायित्व का निर्धारण संस्कृति ही करती है।

(12) **संस्कृति सामाजिक नियन्त्रण में सहायक होती है**–प्रत्येक संस्कृति में प्रथाएं, रीति-रिवाज, लोकाचार, परम्पराएं, आदि होते हैं। ये ही व्यक्ति के आचरण एवं व्यवहार को तय करते हैं तथा व्यक्ति पर नियन्त्रण बनाये रखते हैं। वैयक्तिक नियन्त्रण से ही सामाजिक नियन्त्रण बना रहता है।

इस प्रकार संस्कृति ही समाज की निर्धारक नहीं है, वरन् समाज भी संस्कृति के विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। समाज के बिना संस्कृति अर्थहीन है, उसके निर्माण के लिए समाज ही उत्तरदायी है। संस्कृति के विकास में समाज की भूमिका को हम इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं–

(1) **संस्कृति का हस्तान्तरण**–संस्कृति को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में, एक समाज से दूसरे समाज और समूहों में फैलाने, प्रसार और हस्तान्तरण में समाज महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। वर्तमान में यातायात और संचार के विकसित साधनों, जैसे रेल, मोटर, हवाई जहाज, रेडियो, टी. वी., सिनेमा एवं पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से विश्व के विभिन्न समाजों की संस्कृतियों का बहुत आदान-प्रदान, प्रचार व प्रसार हुआ है। इससे संस्कृति अजर-अमर तो बनती ही है, साथ ही हम एक 'विश्व-संस्कृति' की भी कल्पना करने लगे हैं।

(2) **संस्कृति शिक्षण**–संस्कृति की एक विशेषता यह है कि वह सीखी जाती है। विभिन्न व्यक्तियों, समूहों एवं पीढ़ियों के लोगों को समाज ही संस्कृति की शिक्षा देता है। समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा व्यक्ति को अपनी संस्कृति का ज्ञान कराया जाता है।

नोट

(3) **संस्कृति में सन्तुलन**–परिवर्तन प्रकृति का नियम है। कई बार परिवर्तन की गति इतनी तीव्र गति होती है कि वह सम्पूर्ण संस्कृति को ही अस्त-व्यस्त कर देती है, किन्तु समाज में कुछ ऐसी विशिष्टताएँ भी होती हैं जो ऐसे संकट के क्षणों में भी संस्कृति की आत्मा को जीवित रखती हैं। वही प्राचीनता और नवीनता के बीच सन्तुलन बनाये रखती हैं। भारतीय संस्कृति आज भी सदियों से जीवित और सन्तुलित है। इसके जीवनकाल में कई उतार-चढ़ाव आए, परिवर्तन की आँधियाँ आयीं, किन्तु इसकी मूल आत्मा आज भी वही है जिसकी रक्षा यहाँ के समाज ने की है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि समाज और संस्कृति का घनिष्ठ सम्बन्ध है और ये परस्पर एक-दूसरे के रक्षण, विकास, परिमार्जन एवं सम्वर्द्धन में सहयोग प्रदान करते रहते हैं। समाज ही संस्कृति का निर्माता है।

1.17 सांस्कृतिक विलम्बना या पिछड़न का सिद्धान्त (Theory of Cultural Lag)

ऑगबर्न ने सांस्कृतिक विलम्बना या सांस्कृतिक पिछड़न की उपकल्पना के माध्यम से सामाजिक परिवर्तन में सांस्कृतिक कारकों की भूमिका को समझाने का प्रयत्न किया है। अंग्रेजी के 'Lag' शब्द का अर्थ है-लंगड़ाना या एक वस्तु का दूसरी से पीछे रह जाना अथवा एक वस्तु का दूसरी वस्तु के साथ आगे बढ़ने में विलम्ब या देर करना। ऑगबर्न ने सांस्कृतिक विलम्बना की अवधारणा का प्रयोग लगभग इन्हीं अर्थों में किया है। ऑगबर्न ने अपनी पुस्तक *'Social Change'* में 1992 में सामाजिक परिवर्तन के 'सांस्कृतिक विलम्बना' नामक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उन्होंने संस्कृति को दो भागों में बांटा–**भौतिक एवं अभौतिक संस्कृति।** भौतिक संस्कृति के अन्तर्गत हजारों भौतिक वस्तुएं जैसे, वायुयान, रेल, पंखा, घड़ी, बर्तन, फर्नीचर, वस्त्र, पुस्तकें आदि आते हैं। अभौतिक संस्कृति में प्रथाएं, परम्पराएं, धर्म, दर्शन, ज्ञान, विज्ञान, कानून, संस्थाएं, कला, विश्वास आदि आते हैं। **ऑगबर्न** की मान्यता है कि पिछले कुछ वर्षों में दोनों ही संस्कृतियों में बहुत विकास हुआ है। उनका मत है कि अभौतिक संस्कृति की तुलना में भौतिक संस्कृति तीव्र गति से बदलती है। पिछले कुछ वर्षों में आविष्कारों के कारण भौतिक संस्कृति में बहुत परिवर्तन हुए हैं। इस कारण भौतिक संस्कृति आगे बढ़ गयी और उससे सम्बन्धित या उस पर निर्भर अभौतिक संस्कृति में परिवर्तन की गति मन्द रही, इस स्थिति को ही ऑगबर्न सांस्कृतिक पिछड़न कहते हैं। अभौतिक संस्कृति में परिवर्तन होने में पर्याप्त समय लगता है। यह समय कितना लगेगा और अभौतिक संस्कृति भौतिक संस्कृति से कितना पिछड़ जायेगी, यह अभौतिक संस्कृति की प्रकृति पर निर्भर करता है। यह पिछड़न कई वर्षों तक भी रह सकती है जिससे संस्कृति में अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है।

सांस्कृतिक विलम्बना को स्पष्ट करते हुए **फेयरचाइल्ड** लिखते हैं, "संस्कृति के अन्त:सम्बन्धित अथवा अन्योन्याश्रित दो भागों के परिवर्तन की गति में समकालीनता के अभाव को 'सांस्कृतिक पिछड़न' कहा जायेगा जिससे संस्कृति में अव्यवस्था या कुसमायोजन (Maladjustment) उत्पन्न हो जाता है। भौतिक संस्कृति का आगे बढ़ जाना व अभौतिक का पीछे रह जाना ही 'सांस्कृतिक पिछड़न या सांस्कृतिक विलम्बना कहलाता है।

इ रिभाषा से स्पष्ट है कि यह दशा संस्कृति में असन्तुलन की दशा है। इस असन्तुलन को समाप्त करने के लिए मंजस्य तथा अनुकूलन का प्रयत्न किया जाता है, इस दौरान समाज में भी परिवर्तन होते हैं। इस प्रकार से जब इन दो संस्कृतियों में असन्तुलन पैदा होता है तो समाज पर भी उसका प्रभाव पड़ता है, उसमें भी परिवर्तन आते हैं। **ऑगबर्च** लिखते हैं, "आधुनिक संस्कृति के विभिन्न भाग समान गति से परिवर्तित नहीं हो रहे हैं। कुछ भागों में दूसरों की अपेक्षा अधिक तीव्र गति से परिवर्तन हो रहे हैं और चूंकि संस्कृति के सभी भाग एक-दूसरे पर निर्भर और एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं, अत: संस्कृति के भाग में होने वाले तीव्र परिवर्तन से दूसरे भागों में भी अभियोजन **(readjustment)** की आवश्यकता होती है।" स्पष्ट है कि भौतिक संस्कृति अभौतिक संस्कृति की तुलना में शीघ्र परिवर्तित होती है। इससे एक संस्कृति (भौतिक) आगे बढ़ जाती है तथा दूसरी (अभौतिक) पिछड़ जाती है। उदाहरण के रूप में, वर्तमान समय में मशीनों एवं कल-पूर्जों का विकास खूब हुआ, किन्तु उसी गति से अभौतिक संस्कृति के तत्वों जैसे–धर्म, साहित्य, दर्शन व कला का विकास नहीं हुआ है। परिणामस्वरूप अभौतिक संस्कृति पिछड़ गयी है।

सांस्कृतिक पिछड़न को स्पष्ट करने के लिए **ऑगबर्न** ने कई उदाहरण दिये हैं, जैसे वर्तमान समय में वैज्ञानिक प्रगति के कारण मशीनीकरण एवं औद्योगीकरण में प्रगति हुई है, अनेक नये व्यवसाय पनपे हैं, किन्तु उनकी तुलना में श्रम-कल्याण के नियमों एवं संस्थाओं का विकास धीमी गति से हुआ है। इसी प्रकार से सड़क यातायात तो बढ़ा हैं, किन्तु सड़क के नियम बाद में बने, कृषि करने के नवीन यन्त्रों एवं साधनों का विकास तो हुआ है पर भूमि सुधार के कानून तो देर से बने हैं। इस प्रकार भौतिक और अभौतिक संस्कृति में असन्तुलन पैदा हो गया है और उनमें अनुकूलन नहीं हो पाया है।

लम्ले ने सांस्कृतिक पिछड़न को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि ऐसा मालूम पड़ता है कि बहुत-से पैदल चलने वाले व्यक्ति या सेना की एक टुकड़ी कदम मिलाकर नहीं चल रही हो या एक संगीत समूह में कुछ लोग पिछले वर्ष का और कुछ पिछली शताब्दी का अथवा और अधिक प्राचीन काल का सांस्कृतिक संगीत बजा रहे हों। इस प्रकार ऑगबर्न ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि सांस्कृतिक परिवर्तन सामजिक परिवर्तन को जन्म देते हैं।

सांस्कृतिक विलम्बना सिद्धान्त की आलोचना (Criticism of Cultural Lag Theory) ऑगबर्न का सिद्धान्त सामाजिक परिवर्तन को स्पष्ट करने में बहुत-कुछ उपयुक्त साबित हुआ है, फिर भी उसकी कुछ कमियां हैं। विभिन्न विद्वानों ने इसकी आलोचना इस प्रकार की है :

(1) **सदरलैण्ड** एवं **वुडवर्ड** का मत है कि ऑगबर्न ने सामाजिक परिवर्तन को बहुत ही सरल तरीके से प्रस्तुत किया है। फिर भी यह कहना कि सदा भौतिक संस्कृति में ही पहले परिवर्तन होता है और अभौतिक में बाद में, त्रुटिपूर्ण है।

(2) **सोरोकिन** का मत है कि यह जरूरी नहीं कि संस्कृति में परिवर्तन समाज में भी परिवर्तन लाये। कभी-कभी इसका उलटा भी होता है। भौतिक संस्कृति में परिवर्तन आविष्कारों के कारण होता है और आविष्कार विचार, ज्ञान तथा विज्ञान पर निर्भर करते हैं जो अभौतिक संस्कृति है। जहाज, वायुयान या रॉकेट बनाने का विचार पहले आता है और इनका निर्माण बाद में होता है। इस प्रकार भौतिक संस्कृति के सन्दर्भ में विचार पहले बदलते हैं और उनका मूर्त रूप बाद में प्रकट होता है।

(3) भौतिक संस्कृति के परिवर्तन में कम समय लगता है, यह कहना भी सही नहीं है। पूंजीपति अपने हितों की रक्षा के लिए प्राय: ऐसे भौतिक परिवर्तनों का विरोध करते हैं जिनसे उनके आर्थिक हितों को चोट लगती हो।

(4) भौतिक व अभौतिक संस्कृतियाँ जब भिन्न-भिन्न हैं तो उनके परिवर्तन की गति भी भिन्न-भिन्न ही होगी, अत: उनकी तुलना उचित प्रतीत नहीं होती।

(5) भौतिक व अभौतिक संस्कृति में होने वाले परिवर्तनों को मापने के लिए हमारे पास कोई सर्वमान्य पैमाना नहीं है जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि एक संस्कृति आगे बढ़ गयी है और दूसरी पीछे रह गयी है।

(6) **मैकाइवर** का मत है कि पिछड़न भौतिक संस्कृति में ही नहीं होती वरन् एक ही प्रकार की संस्कृति के विभिन्न पक्षों में भी होती है। मैकाइवर ने इन स्थितियों को प्रकट करने के लिए 'प्रौद्योगिक विलम्बना', 'प्रौद्योगिक विरोध' तथा 'सांस्कृतिक संघर्ष' जैसी अवधारणाओं का प्रयोग किया है।

(7) **ऑगबर्न** के इस सिद्धान्त का आधार पश्चिमी समाजों में औद्योगीकरण के कारण उत्पन्न परिवर्तन रहे हैं। अत: अप्रत्यक्ष रूप से वे औद्योगीकरण को ही सामाजिक परिवर्तन का एकमात्र कारण मानते हैं, जो कि अस्पष्ट एवं त्रुटिपूर्ण है।

(8) **ऑगबर्न** द्वारा भौतिक और अभौतिक संस्कृति के बीच किये गये भेद से भी कई विद्वान संतुष्ट नहीं हैं। उनके अनुसार यह भेद अस्पष्ट एवं त्रुटिपूर्ण है।

1.18 मनोवैज्ञानिक कारक (Psychological Factors)

चूंकि समस्त मानव समाज एवं संस्कृति मानव के मस्तिष्क की उपज है, अत: सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन भी मानव मस्तिष्क में परिवर्तन के कारण होते हैं। मानव में जिज्ञासा की प्रवृत्ति पायी जाती है। इस प्रवृत्ति ने ही

मानव को आविष्कार करने एवं अज्ञात को खोजने की प्रेरणा दी। मानव ने अनेक ऐसे आविष्कार किये जिन्होंने उसके जीवन को ही बदल दिया। जिज्ञासा के कारण ही वह चन्द्रमा पर पहुंचा, समुद्र की गहराई तक गया और दूर देशों की यात्रा की। मानव मस्तिष्क नवीनता चाहता है, एक ही स्थिति से उत्पन्न ऊब से मुक्ति पाने के लिए ही मानव ने नयी फैशन को जन्म दिया। मानसिक असन्तोष एवं संघर्ष सामाजिक सम्बन्धों को प्रभावित करते हैं। पारिवारिक विघटन एवं विवाह-विच्छेद का कारण परिवार के सदस्यों तथा पति-पत्नी का मानसिक अनुकूलन न हो पाना भी है। मानसिक एवं सामाजिक तनाव, सम्बन्धों को तोड़ देते हैं तथा लोगों में नैराश्य पैदा करते हैं। ये हत्या, आत्महत्या तथा अपराध के लिए भी उत्तरदायी हैं।

1.19 राजनीतिक तथा सैनिक कारक (Political and Military Factors)

बीरस्टीड कहते हैं कि "कई लेखकों के अनुसार सामाजिक पविरर्तन युद्धों, छुटपुट लड़ाइयों तथा राजवंशों की विजय और पराजय और महायुद्धों की कहानी है।" वास्तव में, कुछ समय पूर्व तक इतिहास का लेखन कार्य सैन्य शक्ति के आधार पर किया जाता था, इसी प्रकार से समाज एवं सामाजिक परिवर्तन के बारे में भी सैन्य सिद्धान्त (Military Theory) पाया जाता है। इस सिद्धान्त वालों का मत है कि राजनीतिक, दार्शनिक एवं धार्मिक नेता आदि सामाजिक मंच पर छोटे नेता हैं; परिवर्तन रूपी नाटक के असली अभिनेता तो सैन्य शक्ति धारण करने वाले व्यक्ति हैं। इस दृष्टि से इतिहास को युद्धों के सन्दर्भ में ही समझा जाना चाहिए और इन युद्धों की कहानियाँ ही सामाजिक परिवर्तन की कहानी है। यदि मैराथन (Marathon) की लड़ाई में स्पार्टा ने एथेन्सवासियों को हरा दिया होता, यदि नेपोलियन का मास्को पर आक्रमण सफल हो गया होता, यदि हिटलर इंगलिश चैनल को पार करने में सफल हो गया होता तो सैनिक सिद्धान्त के अनुसार सभ्यता का क्रम कुछ और ही होता। यदि हम परिवर्तन की इस व्याख्या को स्वीकार करें तो इतिहास थल और जल सेनाओं के संघर्षों और उनके उतार-चढ़ाव की कहानी है। युद्ध भी समाज में अनेक परिवर्तन लाते हैं। युद्ध के कारण कई लोग शरणार्थी बन जाते हैं और उन्हें नये स्थान पर जाकर बसना तथा वहाँ की संस्कृति के अनुरूप ढलना होता है। युद्ध के कारण सामाजिक एवं राजनीतिक व्यवस्था तहस-नहस हो जाती है, कई स्त्रियाँ विधवा एवं बच्चे अनाथ हो जाते हैं तथा परिवार नष्ट हो जाते हैं, वेश्यावृत्ति एवं अपराध पनपते हैं। इस प्रकार युद्ध एवं सैनिक शक्ति सामाजिक परिवर्तन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

राजनीतिक कारक भी सामाजिक परिवर्तन लाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। यद्यपि सैनिक व राजनीतिक कारकों को पृथक् करना कठिन है क्योंकि क्रान्तियाँ और युद्ध राजनीतिक तथ्य हैं जिनसे इतिहास भरा पड़ा है। ऐसा माना जाता है कि इतिहास भूतकालीन राजनीति है और राजनीति वर्तमान इतिहास है (History is past politics, Politics is present history), इतिहास को कभी शासक वंशों एवं शासकों की कहानी माना जाता था। इन राजवंशों में होने वाले परिवर्तनों का प्रभाव उनके द्वारा शासित समाजों पर भी पड़ता था। सत्ता एवं सरकार के बदलने पर समाज में भी अनेक परिवर्तन आते हैं। राजनीतिक दलों की अपनी-अपनी सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं राजनीतिक नीतियाँ होती हैं। एक दल के स्थान पर दूसरा दल सत्ता में आता है तो समाज में भी परिवर्तन आता है। भारत में ही अंग्रेजों के सत्ता छोड़कर जाने के बाद भारत सरकार ने अनेक सुधार किये हैं। बैंकों का राष्ट्रीकरण किया गया, छुआछूत की समाप्ति व ग्रामीण विकास के लिए प्रयत्न हुए, जागीरदारी प्रथा एवं दास-प्रथा को समाप्त किया गया, राजाओं के प्रीवीपर्स एवं विशेषाधिकार समाप्त कर दिये गये।

इस प्रकार राजनीतिक कारक भी सामाजिक परिवर्तन लाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

1.20 वैचारिक कारक (The Ideological Factors)

विचार एवं विचारधाराएँ भी सामाजिक परिवर्तन लाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। किसी समस्या के हल के लिए समाजशास्त्री नवीन विचार प्रस्तुत करते हैं। मार्क्स ने यह विचार दिया कि सांस्कृतिक पिरामिड के मूल में आर्थिक कारक ही हैं तथा सामाजिक व राजनीतिक संगठन, कला, साहित्य, विज्ञान, दर्शन, धर्म सभी ऊपरी संरचनाएँ इस पिरामिड की मूल संरचना (आर्थिक) पर ही निर्भर हैं। **मैक्स वेबर** ने भी आर्थिक कारकों के महत्त्व को स्वीकार किया, किन्तु उन्हें अधिक महत्त्व नहीं दिया। वे सामाजिक परिवर्तन के लिए धर्म को अधिक महत्त्व देते हैं। मार्क्स

नोट

एवं वेबर के विचार परस्पर विरोधी हैं। मार्क्स के विचारों से प्रभावित होकर ही आज विश्व दो खेमों में बंटा हुआ है–एक तरफ पूंजीवाद राष्ट्र हैं तो दूसरी तरफ साम्यवादी राष्ट्र। वैचारिक परिवर्तन प्रथाओं, संस्थाओं, रीति-रिवाजों एवं कानूनों में भी परिवर्तन लाता है। एक विचारधारा को मानने वाले राजनीतिक दल के स्थान पर जब दूसरी विचारधारा को मानने वाला राजनीतिक दल सरकार बनाता है तो समाज में कई नये परिवर्तन दृष्टिगोचर होते हैं।

1.21 महान लोगों की भूमिका (The Role of Greatmen)

इतिहास में सामाजिक परिवर्तन की राजनीतिक व्याख्या महान लोगों के सन्दर्भ में की गयी है। ऐसा कहा जाता है कि इतिहास कभी भी महान लोगों के प्रभाव से विमुक्त नहीं रहा है। **पैरेटो** का भी मत है कि **इतिहास अभिजन वर्ग की कब्र है** (History is the grave-yard of elites)। कारलाइल (Carlyle) तथा नित्शे (Nietzsche) ने भी महापुरुषों के योगदान को नकारा नहीं है। इतिहास महापुरुषों की जीवनी ही तो है और समाज में जितने भी आन्दोलन हुए हैं, उनके पीछे कोई-न-कोई प्रतिभा आवश्य रही है। हिटलर, मुसोलिनी, च्यांग-काई-शेक, चर्चिल, रूजवेल्ट, गांधी आदि महापुरुषों ने समाज को परिवर्तित करने में अपनी-अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है। यह सच है कि महान व्यक्तियों का सामाजिक घटनाओं को नया मोड़ देने, नयी दिशा देने, आन्दोलनों को जन्म देने, समाज को नये विचार देने तथा सामाजिक बुराइयों एवं कुप्रथाओं को समाप्त करने में महत्त्वपूर्ण योगदान होता है। अछूतोद्धार के लिए तथा आजादी के संघर्ष के लिए महात्मा गांधी की भूमिका अविस्मरणीय है। भारत की विदेश नीति में तटस्थता पं. नेहरू की देन है। राजा राममोहन राय, ईश्वरचन्द विद्यासागर, केशवचन्द्र सेन, स्वामी विवेकानन्द, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी दयानन्द सरस्वती आदि महापुरुषों ने भारतीय समाज में सुधार के अनेक प्रयत्न किये। श्रीमति गांधी का नेतृत्व भी चमत्कारिक रहा है, आपने भी अपने 'बीस-सूत्रीय कार्यक्रम एवं गरीबी हटाओ' कार्यक्रमों के द्वारा भारतीय समाज में परिवर्तन एवं सुधार के प्रयास किये।

वास्वत में, सामाजिक परिवर्तन एक जटिल तथ्य है। इसकी व्याख्या किसी एक ही कारक के आधार पर नहीं की जा सकती। अनेक कारकों के योग से ही समाज में परिवर्तन घटित होते हैं। किसी एक समाज में कुछ विशिष्ट कारक परिवर्तन लाते हैं तो दूसरे समाज में परिवर्तन के भिन्न कारक हो सकते हैं। कभी कोई कारक विशेष मुख्य हो सकता है तो अन्य कारक सहायक। पैरेटो के अनुसार, इतिहास अभिजन वर्ग की कब्र है।

1.22 सामाजिक परिवर्तन के अन्तर्जात और बहिर्जात स्त्रोत (Indogenous and Exogenous Sources to Social Change)

परिवर्तन प्रकृति का एक शाश्वत नियम है। 190 वर्षों के अंग्रेजी शासनकाल के दौरान भारतीय समाज में अनेक सांस्कृतिक एवं सामाजिक परिवर्तन हुए। इन परिवर्तनों को समझाने के लिए समाजशास्त्रियों ने अनेक अवधारणाओं का भी उपयोग किया, जैसे प्रो. एम.एन. श्रीनिवास ने संस्कृतीकरण व पश्चिमीकरण नामक अवधारणाओं का प्रयोग किया। रॉबर्ट रेडफील्ड ने लघु व वृहद् परम्पराओं की अवधारणा प्रस्तुत की। अनेक अन्य विद्वानों ने आधुनिकीकरण की प्रक्रिया का उल्लेख किया। इन प्रक्रियाओं के माध्यम से सांस्कृतिक परिवर्तन तो हुए ही, साथ ही इन्होंने संरचनात्मक परिवर्तनों की ओर भी समाज को आगे बढ़ाया। जहाँ संस्कृतीकरण की प्रक्रिया ने निम्न जातीय समूहों को अपनी सामाजिक प्रस्थिति को ऊंचा उठाने के लिए उच्च जातीय समूहों की जीवन विधि अपनाने के लिए प्रेरित किया, वहीं पश्चिमीकरण की प्रक्रिया के फलस्वरूप कुछ ऐसे परिणाम सामने आए जिनकी वजह से संरचनात्मक परिवर्तन भी होने लगे। डॉ. योगेन्द्र सिंह ने लिखा है कि मानवतावाद तथा बुद्धिवाद पर जोर पश्चिमीकरण का एक अंग है जिसने भारत में संस्थागत और सामाजिक सुधारों का सिलसिला प्रारम्भ कर दिया। वैज्ञानिक औद्योगिक एवं शिक्षण संस्थाओं की स्थापना, राष्ट्रीयता का उदय; देश में नवीन राजनैतिक संस्कृति और नेतृत्व सब के सब पश्चिमीकरण के परिणाम हैं। पश्चिमीकरण के अनेक आदर्श हो सकते हैं, उनमें यूरोपीय देश, अमेरिका तथा रूसी आदर्श भी हैं। भारत में सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन के विश्लेषण में पश्चिमीकरण का पश्चिमी आदर्श सबसे महत्त्वपूर्ण है यद्यपि 1947 से अमेरिकी और रूसी आदर्श भी काफी सार्थक होते जा रहे हैं। अंग्रेजों ने ही भारत को नई प्रौद्योगिकी, औद्योगीकरण, मशीनीकरण, यातायात और संचार

नोट

के नवीन साधनों, उदारवादी शिक्षा, प्रेस नई न्याय व्यवस्था, फौज तथा पुलिस, नगरीकरण, नवीन विज्ञान एवं आविष्कार, मानवतावाद, व्यक्तिवाद, लौकिकीकरण, आधुनिकीकरण, समानता तथा स्वतन्त्रता और आधुनिक प्रजातन्त्र से अवगत कराया। परिवर्तन की इन शक्तियों के कारण भारतीयों के खान-पान, रहन-सहन, प्रथाओं, रीति-रिवाजों, संस्थाओं, धर्म, कला, संगीत, साहित्य, शिक्षा, आदर्शों, मूल्यों, विश्वासों आदि में अनेक परिवर्तन आए। वर्तमान में भारत तेजी से आधुनिकीकरण की दिशा में आगे बढ़ रहा है। विश्व का इतिहास उठाकर देखें, तो हमें ज्ञात होगा कि सभी सभ्यताएं सांस्कृतिक संगठन के प्राथमिक स्तर से प्रारम्भ होती हैं तथा समय बीतने के साथ न केवल अपनी आन्तरिक शक्ति के कारण फलती-फूलती हैं बल्कि अन्य सभ्यताओं के साथ सम्पर्क से अर्थात् बहिर्जात प्रक्रिया से विभेदीकृत होती हैं। इस परिवर्तन की दिशा लोक या कृषक सांस्कृतिक संरचना से नगरीय सांस्कृतिक संरचना की ओर होती हैं। अन्तिम अवस्था में संस्कृति का सार्वभौमिक प्रतिमान निर्मित होता है और ऐसा विभिन्न संस्कृतियों के बीच सम्पर्क के कारण सम्भव होता है।

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि सामाजिक परिवर्तन के लिए प्रमुखत: दो प्रकार के कारक या स्रोत उत्तरदायी हैं–(1) अन्तर्जात स्रोत (2) बहिर्जात स्रोत। संस्कृतीकरण की प्रक्रिया तथा लघु एवं वृहद् परम्पराओं के बीच अन्त:क्रिया, शिक्षा का प्रचार-प्रसार तथा भूमि सुधार आदि परिवर्तन सामाजिक परिवर्तन के स्रोत के अन्तर्गत आते हैं। पश्चिम का प्रभाव भारतीय समाज के विभिन्न घटकों पर स्पष्टतया नजर आता है जिसका उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है। इससे न केवल रहन-सहन या जीवन की विधि में परिवर्तन आया, बल्कि मूल्यों, विश्वासों और विचारधाराओं में भी परिवर्तन आया। राजनैतिक दृष्टि से प्रजातन्त्रीकरण हुआ, वयस्क मताधिकार का अधिकार मिला, औद्योगीकरण, नगरीकरण की प्रक्रियाएँ तीव्र हुईं। बढ़ती हुई शिक्षा और आरक्षण की नीति के कारण समाज के निम्न वर्ग के लोगों को ऊपर उठने का मौका मिला तथा सामाजिक गतिशीलता में वृद्धि हुई। लोगों को शक्ति, सत्ता और धन अर्जित कर अपनी प्रस्थिति को ऊंचा उठाने का मौका मिला। मूलत: ये सब कुछ पश्चिम यूरोपीय देशों और रूसी आदर्शों से प्रेरित होने से ही सम्भव हो सका। इस्लाम ने भी भारतीय समाज पर अपना प्रभाव डाला। निम्न जाति के बहुत से लोगों ने अपनी प्रस्थिति को ऊंचा उठाने की आकांक्षा में तथा कुछ अन्य कारणों के परिणामस्वरूप अपना धर्म परिवर्तन कर लिया। वे हिन्दू से मुसलमान बन गए। इन सब कारणों से भारतीय समाज में अनेक परिवर्तन हुए। अन्य सभ्यताओं और संस्कृतियों विशेषत: पश्चिमी व इस्लाम का प्रभाव सामाजिक परिवर्तन के बहिर्जात स्रोत के रूप में प्रमुख हैं।

1.23 सामाजिक परिवर्तन के अवरोधक कारक (Resistance Factor of Social Change)

कुछ कारक सामाजिक परिवर्तन को उत्पन्न करते है तो दूसरी ओर कुछ परिस्थितियाँ एवं कारक ऐसे हैं जो परिवर्तन के मार्ग में बाधा उपस्थित करते हैं। परिवर्तन के बाधक तत्वों का हम यहाँ उल्लेख करेंगे :

(1) **जड़ता** (Inertia)–जब लोग यथास्थिति (Statusquo) बनाये रखना चाहते हैं एवं परिवर्तन के प्रति उदासीन होते हैं तो परिवर्तन का कार्य रुक जाता है। परिवर्तन उसी स्थिति में तीव्रता से होते हैं जब लोग स्वयं परिवर्तन की इच्छा रखते हों।

(2) **सन्देहात्मक दृष्टिकोण** (Suspicious Outlook)–व्यक्ति की यह एक सामान्य प्रकृति है कि वह नवीनता का खतरा मोल लेना नहीं चाहता और जिस मार्ग पर चल रहा है, उसी पर चलते रहना ठीक समझता है। नयी परिस्थितियां उसके लिए लाभदायक व सुखकर ही होंगी, इस बात में उसे सन्देह होता है। अत: वह परिवर्तन को शंका व सन्देह की दृष्टि से देखता है। भारतीय किसानों को ही जब कृषि के नवीन यन्त्रों, उन्नत खाद एवं बीजों से परिचित कराया गया तो उन्होंने इन्हें शीघ्र स्वीकार नहीं किया, वरन् इन नवीनताओं के प्रति उनके मन में सन्देह बना रहा। जब तक उनके सन्देह का निवारण नहीं हो गया तब तब उन्होंने परिवर्तन को स्वीकार नहीं किया।

(3) **परम्परा के प्रति स्वामिभक्ति** (Loyalty to Tradition)–समाज के लोग परम्पराओं का पालन करना अपना नैतिक दायित्व समझते हैं। परम्पराएँ चूंकि एक लम्बे समय के अनुभव का परिणाम होती हैं तथा उनकी उपयोगिता सिद्ध हो चुकी होती है, अत: लोग परम्पराओं को छोड़ना नहीं चाहते। परम्पराओं के पालन करने का

नोट

अर्थ पूर्वजों का सम्मान करना भी है। यही कारण है कि अनेक दोष होने के बावजूद भी भारतीय लोग जाति, संयुक्त परिवार एवं अनेक धार्मिक परम्पराओं का पालन आज भी कर रहे हैं और नवीनता के प्रति कुछ उदासीन हैं।

(4) **निहित स्वार्थ** (Vested Interests)–जिन लोगों का पुरानी व्यवस्था में हित सुरक्षित होता है, वे भी परिवर्तन का विरोध करते हैं। उदाहरण के लिए, मजदूर लोग कारखाने में अभिनवकरण (Rationalization) एवं कम्प्यूटर लगाने का विरोध करते हैं क्योंकि अभिनवकरण में ऐसी मशीनों का प्रयोग किया जाता है जिसमें कम श्रम से अधिक उत्पादन होता है। अभिनवकरण एवं कम्प्यूटर के कारण श्रमिकों की छंटनी होती है और उनमें बेकारी फैलती है, अतः वे इसका विरोध करते हैं। उद्योगपति अपने हितों की पूर्ति के कारण ही श्रम-कल्याण कानूनों का विरोध करते हैं। जागीरदारों ने जागीरदारी उन्मूलन अधिनियम का विरोध भी इसलिए ही किया था कि इससे उनके हितों को चोट पहुंचती थी।

(5) **अज्ञान** (Ignorance)–नवीन परिवर्तनों के लाभों से अपरिचित होने तथा अशिक्षा के कारण भी परिवर्तनों का विरोध किया जाता है। ग्रमीण लोगों के सामने जब सामुदायिक विकास योजना रखी गयीं तो अज्ञानता के कारण उन्होंने नवीन परिवर्तनों के प्रति कोई रूचि नहीं दिखयी।

(6) **आर्थिक लगत** (Economic Cost) जब नवीन परिवर्तन को अपनाना आर्थिक दृष्टि से बड़ा मंहगा होता है, तब भी उसका विरोध किया जाता है। कृषि के वैज्ञानिक साधनों एवं उत्पादन में औद्योगिक प्रणाली एवं मशीनीकरण न अपनाने का कारण यह है कि नवीन यन्त्रों एवं मशीनों को खरीदने के लिए लोगों के पास धन का अभाव है। इस प्रकार परिवर्तन की लागत अधिक होने पर भी उसके मार्ग में बाधा पैदा होती है।

उपर्युक्त कारकों के अतिरिक्त जब लोगों में **नवीन मूल्यों एवं मनोवृत्तियों का विकास न हो पाये** तथा परिवर्तन के लिए **आवश्यक संरक्षण एवं उचित पुरस्कार का अभाव** हो तब भी सामाजिक परिवर्तन रुक जाता है। **आदत एवं नवीनता के प्रति भय तथा भूतकाल के प्रति सम्मान** आदि के कारण भी सामाजिक परिवर्तन का विरोध किया जाता है।

1.24 तकनीकी (प्रौद्योगिकी) (Technology)

आज के युग में प्रौद्योगिकी सामाजिक परिवर्तन का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कारक है। यदि यह कहा जाए कि पिछले करीब पांच सौ वर्षों में जितने परिवर्तन हुए हैं, उनके पीछे सबसे प्रमुख कारक प्रौद्योगिकी (Technology) है तो इसमें किसी प्रकार की कोई अतिशयोक्ति नहीं है। यह वास्तविकता है विज्ञान के क्षेत्र में होने वाली प्रगति ने अनेक आविष्कारों को जन्म दिया है। आविष्कारों से यन्त्रीकरण (Mechanisation) बढ़ा है और यन्त्रीकरण के फलस्वरूप उत्पादन की प्रणाली में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए हैं। जैसे ही उत्पादन की प्रणाली बदलती है, उसके साथ-ही-साथ सामाजिक सम्बन्धों, प्रस्थितियों और भूमिकाओं, सामाजिक व्यवस्था और सामाजिक संरचना में बदलाव आता है। यही तो सामाजिक परिवर्तन है। रेडियो, टेलीविजन, सिनेमा, यातायात और संचार के नवीन साधनों तथा बिजली, पहिये, अणुशक्ति, आदि के आविष्कार ने जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन लाने में योग दिया है।

सामाजिक परिवर्तन में प्रौद्योगिकीय कारकों की भूमिका को सविस्तार समझने के लिए वहां सर्वप्रथम प्रौद्योगिकी के अर्थ को जान लेना आवश्यक है।

तकनीकी (प्रौद्योगिकी) क्या है? (What is Technology?)

प्रौद्योगिक के अन्तर्गत उन प्रविधियों को लिया जाता है जो हमें भौतिक लक्ष्यों को प्राप्त करने में सहायता प्रदान करती हैं। प्रविधि में विभिन्न प्रकार के उपकरण तथा मानवीय ज्ञान आता है। प्रौद्योगिकी का तात्पर्य आधुनिक युग में तीव्र गति से होने वाले यन्त्रीकरण से नहीं है। प्रौद्योगिकी तो प्रत्येक युग और समाज में रही है। चाहे कोई समाज सरल हो या जटिल, चाहे वह सभ्य समाज हो या असभ्य, चाहे वह परम्परागत समाज हो या आधुनिक, प्रत्येक की अपनी एक प्रौद्योगिकी होती है जो लोगों की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति में योग देती है।

नोट

कार्ल मार्क्स ने प्रौद्योगिकी का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है, "प्रौद्योगिकी प्रकृति के साथ मनुष्य के व्यवहार करने के ढंग एवं उत्पादन की उस प्रक्रिया को बतलाती है जिसके द्वारा मनुष्य जीवित रहता है तथा अपने सामाजिक सम्बन्धों और मानसिक धारणाओं के स्वरूप को निर्धारित करता है।" इस परिभाषा से ज्ञात होता है कि प्रौद्योगिकी एक प्रविधि है जो मनुष्य के विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति में योग देती है और इसी के आधार पर सामाजिक सम्बन्धों का स्वरूप निश्चित होता है।

लेपियर के अनुसार, "प्रौद्योगिकी का अर्थ उन विधियों, ज्ञानों तथा दक्षताओं से है जिनकी सहायता से मनुष्य भौतिक और जैविकीय तथ्यों को नियन्त्रित करता और उपयोग में लाता है।" इस परिभाषा से पता चलता है कि प्रौद्योगिकी की सहायता से भौतिक और जैविकीय तथ्यों को नियन्त्रित किया जाता है और आवश्यकताओं की पूर्ति की जाती है। अन्य शब्दों में, प्रौद्योगिकी वह प्रविधि है जो मानवीय उद्देश्य की पूर्ति में योग देती है। **ऑगबर्न** ने लिखा है कि प्रौद्योगिकी का तात्पर्य किसी भी प्रविधि से है। इसके अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के उपकरण एवं ज्ञान की शाखाएं आती हैं जिनके आधार पर निर्माण-कला विकसित होती है। प्रौद्योगिकी का सम्बन्ध भौतिक संस्कृति और औद्योगिक कलाओं से है।

1.25 तकनीकी (प्रौद्योगिकी) एवं सामाजिक परिवर्तन (Technology and Social Change)

प्रौद्योगिक या प्रौद्योगिकीय कारक और सामाजिक परिवर्तन के बीच गहरा सम्बन्ध पाया जाता है। वर्तमान में विभिन्न समाजों में तेजी से होने वाले परिवर्तनों का मूल कारण नवीन प्रविधियों, नवीन आविष्कारों तथा उत्पादन के नये तरीकों का विकास है। स्वयं **मैकाइवर और पेज** ने कहा है कि हमारे युग की सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना पूंजीवाद नहीं है बल्कि यन्त्रीकरण (Mechanisation) है, जिसका आधुनिक पूंजीवाद केवल एक उपफल या गौण उत्पादन है। अब हमें अनुभव हो रहा है कि इस यन्त्रीकरण ने हमारे जीवन के तरीकों और यहां तक कि विचारों तक को भी काफी कुछ बदल दिया है। आज नवीन प्रौद्योगिकी ने सामाजिक सम्बन्धों, प्रस्थितियों और भूमिकाओं तथा समग्र रूप में सामाजिक संरचना को बदलने में महत्त्वपूर्ण योग दिया है। यहाँ हम प्रौद्योगिकीय कारकों और सामाजिक परिवर्तन के सम्बन्ध पर विचार करेंगे तथा यह जानने का प्रयत्न करेंगे कि प्रौद्योगिकीय कारक किस प्रकार जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में परिवर्तन लाने में योग देते हैं।

(1) **यन्त्रीकरण एवं सामाजिक परिवर्तन**—आज के विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के इस युग में आविष्कारों व खोजों का विशेष महत्व है। वर्तमान में प्रेस, पहिया, भाप इंजन, जहाज, मोटर कार, वायुयान, ट्रैक्टर, टेलीफोन, रेडियो, टेलीविजन, बिजली, टाइपराइटर, कम्प्यूटर, गनपाउडर, अणु बम, आदि के आविष्कार ने जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में आमूल परिवर्तन ला दिये हैं। **मैकाइवर** का कहना है कि **भाप के इंजन के आविष्कार ने मानव के सामाजिक व राजनीतिक जीवन को इतना प्रभावित किया है जितनी स्वयं उसके आविष्कारक ने भी कल्पना नहीं की होगी।** ऑगबर्न ने रेडियो के आविष्कार के कारण उत्पन्न 150 परिवर्तनों का उल्लेख किया है **स्पाइसर** (Spicer) ने अनेक ऐसे अध्ययनों का उल्लेख किया है जिनसे यह पता चलता है कि छोटे यन्त्रों के प्रयोग से ही मानवीय सम्बन्धों में विस्तृत एवं अनपेक्षित परिवर्तन हुए हैं। कार में स्वचालित यन्त्र (Self-Starter) के लग जाने से ही कई सामाजिक परिवर्तन हुए हैं। इससे स्त्रियों की स्वतन्त्रता बढ़ी, अब उनके लिए कार चलाना आसान हो गया, वे क्लब जाने लगीं, उनकी गतिशीलता में वृद्धि हुई और इसका प्रभाव उनके पारिवारिक जीवन पर भी पड़ा। भारत में नये कारखानों के खुलने और मशीनों की सहायता से उत्पादन होने से लोगों को विभिन्न स्थानों पर काम करने हेतु जाना पड़ा, विभिन्न जातियों के लोगों को साथ-साथ काम करना पड़ा। इससे जाति-प्रथा एवं संयुक्त परिवार प्रणाली का विघटन हुआ, छुआछूत कम हुई, वर्ग-व्यवस्था पनपी तथा स्त्रियों की स्वतन्त्रता में वृद्धि हुई। **ममफोर्ड** ने आधुनिक युग के निर्माण में यन्त्रीकरण को महत्त्वपूर्ण माना है। यन्त्रीकरण ने मानव की जीवन-विधि एवं विचार-पद्धति को ही बदल दिया है। आधुनिक पूंजीवादी व्यवस्था तथा औद्योगीकरण व नगरीकरण के लिए प्रौद्योगिकी ही उत्तरदायी है। औद्योगीकरण एवं पूंजीवादी व्यवस्था के कारण ग्रामीण समुदायों में परिवर्तन हुआ, नगरों में घनी एवं गन्दी बस्तियों का विस्तार हुआ तथा जीवन यन्त्रवत् हो गया। सामाजिक सम्बन्धों में औपचारिकता

नोट

पनपी, अपराधों में वृद्धि हुई, श्रम-विभाजन एवं विशेषीकरण बढ़ा। श्रम-समस्याएं एवं संघर्ष बढ़े, दुर्घटनाओं तथा बीमारियों में वृद्धि हुई तथा जीवन के प्रति भौतिक दृष्टिकोण पनपा।

यन्त्रीकरण के परिणामस्वरूप अनेक सामाजिक परिवर्तन हुए हैं। मनुष्य ने मशीनों के साथ अनुकूलन करने का प्रयत्न किया है और इस प्रयत्न के फलस्वरूप जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में कई प्रकार के परिवर्तन आये हैं। सभी प्रकार के कामों में विशेषीकरण बढ़ा है, काम करने का समय निश्चित हुआ है, जीवन के सामान्य सुख में वृद्धि हुई है, रहन-सहन का स्तर ऊंचा उठा है, प्रतिस्पर्द्धा बढ़ी है, पुराने ढंग से काम करने एवं उत्पादन करने के तरीकों का महत्व घटा है, पुराने ढंग की कारीगरी के स्थान पर नयी कारीगरी या शिल्प का विकास हुआ है। साथ ही जटिल प्रकार के आर्थिक सम्बन्ध बने और राजनीतिक नियन्त्रण बढ़ा है। इन सब परिवर्तनों के अतिरिक्त अनेक नवीन वर्गों का उदय हुआ है, जनरीतियों, प्रथाओं एवं पड़ोस का महत्व घटा है। संयुक्त परिवार और जाति का अब उतना महत्त्व नहीं रहा है जितना कुछ समय पहले तक था। वर्तमान में यन्त्रीकरण के कारण समान व्यवसाय में लगे लोगों को संगठित होने का अवसर मिला है, अनेक संघ और समितियां बनी हैं जिनके माध्यम से लोग अपने हितों की सुरक्षा चाहते हैं। लोगों में धन या शक्ति प्राप्त करने की होड़ लगी है। पूंजीवाद का प्रसार हुआ है। नगरीय जीवन के तौर-तरीकों का ग्रामीण जीवन पर प्रभाव एवं प्रभुत्व बढ़ा है।

(2) **यन्त्रीकरण तथा सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन**–यन्त्रीकरण ने सामाजिक मूल्यों को परिवर्तित करने में योग दिया है। सामाजिक मूल्यों का हमारे जीवन में विशेष महत्व होता है और हम अपने व्यवहार को उन्हीं के अनुरूप ढालने का प्रयत्न करते हैं। वर्तमान में व्यक्तिगत सम्पत्ति एवं शक्ति का महत्व बढ़ा है एवं सामूहिकता के मूल्य कमजोर पड़े हैं। अब धन और राजनीतिक शक्ति के बढ़ते हुए प्रभाव एवं महत्व के कारण उन लोगों को समाज में ज्यादा सम्मान या प्रतिष्ठा दी जाती है जो धनी हैं, बड़े व्यापारी या उद्योगपति हैं, राजनेता या प्रशासक हैं। अब चारित्रिक गुणों को पहले जितना महत्व नहीं दिया जाता है। अब सुशिक्षित गुणी, चरित्रवान और समाज-सेवा तथा धार्मिक कार्यों में लगे लोगों का उतना महत्व नहीं रहा जितना उन व्यक्तियों का जो काफी धन कमा लेते हैं या किसी भी प्रकार से सत्ता में आ जाते हैं। यन्त्रीकरण ने प्रदत्त के बजाय अर्जित गुणों के महत्व को बढ़ाने में योग दिया है। यन्त्रीकरण ने विभिन्न व्यक्तियों और समूहों की पारस्परिक निर्भरता को कम करके व्यक्तिवादिता और संकुचित दृष्टिकोण को पनपने में मदद दी है। अब व्यक्ति दूसरों की उतनी चिन्ता नहीं करता जितनी स्वयं की करता है। वह न तो परम्परावादी ही रहा है और न ही प्रगतिशील बल्कि अवसरवादी बन गया है जो किसी-न-किसी प्रकार अपनी स्वार्थ-सिद्धि को ही अपने जीवन का परम धर्म मान बैठा है। इस प्रकार यन्त्रीकरण ने सामाजिक मूल्यों को बदलकर सामाजिक परिवर्तन के लिए मार्ग तैयार किया है।

(3) **संचार के उन्नत साधन एवं सामाजिक परिवर्तन**–संचार जो कि एक प्रभावशाली प्रौद्योगिकीय कारक है, के नवीन उन्नत साधनों के विकास ने अनेक जटिल सामाजिक परिवर्तनों को जन्म दिया है। संचार की अनेक प्रविधियाँ हैं जिनमें से तार, टेलीफोन, मोबाइल, फेक्स, ई-मेल, रेडियो, टेलीविजन, आदि प्रमुख हैं। संचार ही तो सामाजिक सम्बन्धों का आधार है। जब तक व्यक्तियों के बीच संचार नहीं होगा, सामाजिक सम्बन्धों की स्थापना सम्भव नहीं है। सिनेमा या चलचित्रों ने लोगों के विचारों, विश्वासों एवं मनोवृत्तियों को बदलने में काफी योग दिया है। साथ ही इसने पारिवारिक, सामाजिक एवं जातिगत सम्बन्धों को भी प्रभावित किया है। अब रेडियो की सहायता से कोई भी बात, सूचना या विचार कुछ ही क्षणों में लाखों-करोड़ों व्यक्तियों तक पहुंचाये जा सकते हैं। रेडियो मनोरंजन का स्वस्थ साधन भी है। रेडियो और टेलीविजन ने परिवार के सदस्यों को साथ बैठकर अवकाश का समय बिताने को प्रेरित किया है। इससे सदस्यों को अपने मनोरंजन के लिए इधर-उधर भटकना नहीं पड़ता और साथ ही उनके पारिवारिक सम्बन्धों में दृढ़ता आयी है। संचार के नवीन एवं उन्नत साधनों के विकास ने जीवन को काफी गतिशील बना दिया है। अब इन उन्नत साधनों के फलस्वरूप स्थानीय दूरी कम हुई है तथा साथ ही ग्रामीण और नगरीय जीवन का भेद कुछ कम हुआ है। संचार के विभिन्न साधनों के माध्यम से भिन्न-भिन्न सांस्कृतिक समूह के लोगों को एक-दूसरे को समझने का मौका मिला है जिसके परिणामस्वरूप उनमें सांस्कृतिक दूरी कम हुई है, सात्मीकरण हुआ है। संचार के विकसित साधनों के फलस्वरूप ही बड़े आकार के राजनीतिक दल बनने लगे और प्रजातान्त्रिक विचारों का प्रचार होने लगा है।

नोट

(4) **कृषि क्षेत्र में नवीन प्रविधियां एवं सामाजिक परिवर्तन**–कृषि क्षेत्र में नवीन प्रविधियों का प्रयोग एक ऐसा प्रौद्योगिकीय कारक है जिसने जीवन में अनेक परिवर्तन लाने में योग दिया है। पशुओं की नस्ल, उर्वरकों के प्रयोग, बीजों की किस्म तथा श्रम बचाने की मशीनों सम्बन्धी मामलों में सुधार हो जाने से कृषि-उत्पादन में मात्रा एवं गुण दोनों ही दृष्टि से वृद्धि हुई है। सिंचाई के उन्नत साधनों ने भी कृषि-उत्पादन बढ़ाने में काफी योग दिया है। इसका प्रभाव न केवल आर्थिक जीवन पर बल्कि सामाजिक जीवन पर भी पड़ा है। पहले कृषि-कार्यों के ठीक से संचालन के लिए अन्य व्यक्तियों से सहयोग की आवश्यकता पड़ती थी जिससे ग्रामीणों में सामूहिकता का महत्व बना हुआ था। अब श्रम की बचत करने वाली मशीनों के प्रयोग से व्यक्ति को कृषि कार्यों में अन्य व्यक्तियों के सहयोग की आवश्यकता नहीं पड़ती। इससे सामूहिकता की बजाय व्यक्तिवाद का महत्व बढ़ा है। साथ ही मशीनों के प्रयोग से कृषि कार्यों में कम व्यक्तियों की आवश्यकता ने संयुक्त के बजाय नाभिक परिवारों के महत्व को बढ़ाया है। खेतों पर व्यक्तियों की आवश्यकता ने लोगों को काम की तलाश में नगरों की ओर बढ़ने के लिए प्रेरित किया है। अब कृषि क्षेत्र में अनेक देशों में उत्पादन इतना बढ़ गया है कि उनके सामने नये-नये बाजार खोजने की समस्या उत्पन्न हो गयी। अब नवीन प्रविधियों ने सामाजिक सम्बन्धों लोगों के दृष्टिकोणों और मनोवृत्तियों को काफी कुछ बदल दिया है। अब ग्रामीण क्षेत्रों में सम्बन्धों में घनिष्ठता और आत्मीयता के बजाय औपचारिकता और कृत्रिमता बढ़ती जा रही है। कृषि-उत्पादन के बढ़ने से ग्रामीण क्षेत्रों में लोगों की आय में वृद्धि हुई है और उनके रहन-सहन का स्तर ऊंचा उठा है। इस प्रकार कृषि की नवीन प्रविधियों ने ग्रामीणों के जीवन को अनेक रूपों में प्रभावित किया है।

(5) **उत्पादन प्रणाली और सामाजिक परिवर्तन**–उत्पादन प्रणाली भी एक प्रमुख प्रौद्योगिकीय कारक है जिसने समय-समय पर सामाजिक सम्बन्धों और सामाजिक संरचना को काफी कुछ बदला है। पहले जब मशीनों का आविष्कार नहीं हुआ था तब लोग अपने हाथ से काम करते थे और परिवार ही उत्पादन की इकाई था। ऐसी स्थिति में परिवार के सभी सदस्यों के हित एवं रुचियां समान थीं और सम्बन्धों में घनिष्ठता थी। उस समय छोटे पैमाने पर उत्पादन होने से औद्योगिक समस्याएं नहीं थीं, श्रम समस्याएं नहीं थीं। लोग अपने घरों पर उत्पादित वस्तुओं को अन्य व्यक्तियों को उनके द्वारा उत्पादित वस्तुओं के बदले में देकर अपनी आवश्यकता की पूर्ति करते थे। इसी प्रकार वे अपनी सेवाओं का भी आदान-प्रदान करते थे। इससे ग्रामीण समुदायों में एकता और दृढ़ता बनी हुई थीं, लेकिन अब उत्पादन प्रणाली बदल गयी है। वर्तमान में नगरीय क्षेत्रों में बड़े पैमाने पर फैक्टरियों में मशीनों की सहायता से उत्पादन होने लगा है। अब हाथ से काम करने का महत्त्व कम हुआ है और मशीनें चलाने वाले प्रशिक्षित व्यक्तियों का महत्त्व बढ़ा है। श्रम-विभाजन और विशेषीकरण अधिक हुआ है। बैंकों और बड़ी-बड़ी व्यापारिक संस्थाओं की स्थापना हुई है। प्रतिस्पर्द्धा और प्रचार का महत्त्व बढ़ा है। विशाल नगरों की स्थापना हुई है और श्रम समस्याएँ और नगरीकरण से सम्बन्धित समस्याएं उत्पन्न हुई हैं। मशीनों के इस युग में लोगों का जीवन भी यन्त्रवत् हो गया है और सामाजिक सम्बन्धों में औपचारिकता बढ़ी है। प्राथमिक सम्बन्धों और समूहों के बजाय द्वैतीयक सम्बन्धों और समूहों का महत्त्व बढ़ा है। उत्पादन की नवीन-प्रणाली ने सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और यहां तक कि सांस्कृतिक जीवन तक को भी बहुत कुछ बदल दिया है। इस नयी प्रणाली ने विभिन्न सामाजिक संस्थाओं, विवाह, परिवार एवं जाति, आदि को अनेक रूपों में प्रभावित किया है और सामाजिक परिवर्तन की गति को तेज किया है।

(6) **अणु-शक्ति पर नियन्त्रण एवं सामाजिक पविर्तन** (Control over Atomic Energy and Social Change)–मानव के उद्देश्यों अथवा विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति में अणु-शक्ति का प्रयोग एक युग-प्रवर्तक खोज (Epochmaking discovery) है। आधुनिक विज्ञान की अन्य खोजों के समान अणु-शक्ति का प्रयोग भी रचनात्मक एवं विनाशक दोनों ही प्रकार के कार्यों के लिए किया जा सकता है। **मैकाइवर** और **पेज** ने बताया है कि युद्ध के अभिकर्ता के रूप में वह मानव की सभी रचनाओं या कृतियों की समाप्ति की पूर्व-सूचना देता है। शान्ति के अभिकर्ता के रूप में वह समृद्धि का अभूतपूर्व युग ला सकता है। जहाँ अणु-शक्ति का प्रयोग मानव की सुख-समृद्ध को बढ़ाने और जीवन-स्तर को ऊंचा उठाने में किया जा सकता है, वहीं इसका प्रयोग मानव और उसकी कृतियों को नष्ट करने के लिए भी किया जा सकता है। जैसे-जैसे जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में अणु-शक्ति का उपयोग बढ़ता जायेगा उसके साथ ही सामाजिक परिवर्तन की गति भी तीव्र होती जायेगी।

नोट

1.26 तकनीकी (प्रौद्योगिकी) के प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष प्रभाव (Direct and Indirect Effects of Technology)

प्रौद्योगिकी या प्रौद्योगिकीय परिवर्तन के परिणामस्वरूप विभिन्न क्षेत्रों में अनेक परिवर्तन आते हैं जिनमें से कुछ इसके प्रत्यक्ष प्रभाव या परिणाम और कुछ अप्रत्यक्ष प्रभाव या परिणाम कहे जा सकते हैं। प्रत्यक्ष प्रभाव वे हैं जो प्रौद्योगिकीय परिवर्तन के परिणामस्वरूप अनिवार्यत: और शीघ्र ही समाज में परिवर्तन लाते हैं। ये परिवर्तन स्पष्टत: मालूम पड़ते हैं। अप्रत्यक्ष प्रभाव वे हैं जो समाज में प्रौद्योगिकीय परिवर्तन के फलस्वरूप अप्रत्यक्ष तरीके से परिवर्तन लाते हैं। ये परिवर्तन प्रौद्योगिकीय परिवर्तन के फलस्वरूप उत्पन्न परिवर्तनों के माध्यम से आते हैं।

प्रौद्योगिकीय परिवर्तन के प्रत्यक्ष प्रभाव निम्नलिखित हैं–

(1) **श्रम-विभाजन एवं कार्यों का विशेषीकरण**–प्रौद्योगिकीय परिवर्तन के फलस्वरूप अब उत्पादन बड़े पैमाने पर विशालकाय कारखानों में होने लगा है। इन कारखानों में अलग-अलग व्यक्तियों में अलग-अलग प्रकार के कार्य बांटे गये क्योंकि विभिन्न कार्यों के ठीक प्रकार से सम्पादन के लिए भिन्न-भिन्न योग्यता और प्रशिक्षण वाले व्यक्तियों की आवश्यकता होती है। एक ही प्रकार का कार्य लम्बे समय तक करते रहने के कारण व्यक्तियों को उस कार्य से सम्बन्धित विशेष ज्ञान प्राप्त करने में सहायता मिली। इस प्रकार श्रम-विभाजन के साथ-साथ विशेषीकरण भी बढ़ा। अब विभिन्न कार्यों को ठीक से पूरा करने के लिए विशेष प्रशिक्षण की व्यवस्था भी की गयी।

(2) **श्रमिक संगठनों का निर्माण**–उत्पादन के क्षेत्र में नवीन प्रविधियों के काम में लिये जाने के पहले तक सामान्यत: किसी प्रकार की कोई श्रम-समस्याएं नहीं थीं। लोग अपने घरों पर हाथ से काम करते और वस्तुओं का निर्माण करते थे। अब कारखानों में मशीनों की सहायता से काम किया जाने लगा। इसके परिणामस्वरूप कारीगर मजदूरों के रूप में बदल गये। अब कार्य के घण्टे, तनख्वाह, कार्य की दशाएं, आदि निश्चित किये गये। मिल मालिक अपने मुनाफे को बढ़ाने के लिए मजदूरों से अधिक काम लेने और कम-से-कम वेतन देने का प्रयत्न करने लगे। परिणामस्वरूप शोषण के विरुद्ध मजदूर संगठित होने लगे और अनेक श्रमिक-संघों के माध्यम से मजदूरों ने मिल मालिकों और सरकार के सम्मुख समय-समय पर अनेक मांगें रखीं जिनके परिणामस्वरूप धीरे-धीरे इनकी आर्थिक स्थिति में सुधार होता गया। इनमें वर्ग चेतना का विकास हुआ जिसके परिणामस्वरूप समाज-व्यवस्था में क्रान्तिकारी परिवर्तन तक हुए।

(3) **नगरीकरण**–जब उत्पादन फैक्टरी प्रणाली द्वारा होने लगा तो ग्रामों से बहुत-से लोग कार्य की तलाश में नगरों में आने लगे। अनेक कारणों से कारखानों के नगरीय क्षेत्रों में स्थापित होने से अनेक ग्रामवासी इन कारखानों में काम करने के लिए नगरों में आकर बसने लगे। परिणामस्वरूप नगरों की जनसंख्या तेजी के साथ बढ़ती गयी। जनसंख्या के तीव्र गति से बढ़ने के कारण अनेक नगरीय समस्याएं उत्पन्न हुईं, जैसे, गन्दी बस्तियों की समस्या। नगरों के भीड़-भाड़युक्त वातावरण में व्यक्ति अकेलापन महसूस करने लगा। यहां यह कहा जा सकता है कि औद्योगीकरण के फलस्वरूप नगरीकरण की प्रक्रिया तेज हुई और इन दोनों ने सामाजिक जीवन को अगणित रूपों से प्रभावित कर सामाजिक परिवर्तन लाने में योग दिया है।

(4) **गतिशीलता का बढ़ना**–प्रौद्योगिकीय परिवर्तन ने स्थानीय और सामाजिक दोनों ही प्रकार की गतिशीलता को बढ़ाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। स्थानीय गतिशीलता का अर्थ एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने की प्रवृत्ति का बढ़ना है। सामाजिक गतिशीलता का अर्थ एक सामाजिक स्थिति से दूसरी सामाजिक स्थिति प्राप्त कर लेना है, एक समूह या वर्ग से दूसरे समूह या वर्ग में पहुंच जाना है। वर्तमान में नवीन प्रौद्योगिकी के कारण आवागमन और संचार के साधनों का बड़ी तेजी के साथ विकास हुआ है। लोग विभिन्न स्थानों, समूहों, वर्गों, व्यवसायों, आदि के सम्बन्ध में जानने लगे हैं। वे विभिन्न लोगों और भिन्न-भिन्न संस्कृतियों से परिचित होने लगे हैं। परिणामस्वरूप अपने समूह और संस्कृति को ही सर्वश्रेष्ठ मानने की प्रवृत्ति कम हुई है। अब अपनी योग्यता और साधनों को बढ़ाकर अपनी वर्गीय स्थिति को बदलने के अवसर भी लोगों को मिले हैं। स्पष्ट है कि प्रौद्योगिकी ने गतिशीलता को बढ़ाने में योग दिया है।

(5) **सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन**–प्रौद्योगिकी के परिणामस्वरूप सामाजिक सम्बन्धों का रूप काफी कुछ बदल गया है। अब पारिवारिक, सामाजिक एवं आर्थिक सम्बन्धों की दृष्टि से बहुत कुछ परिवर्तन आये हैं और

नोट

सम्बन्धों में जटिलता बढ़ी है। पहले व्यक्ति प्रमुखत: अपने परिवार के वयस्कों, कुछ रिश्तेदारों और ग्रामीण समुदाय के कुछ अन्य लोगों से ही सम्बन्धित था, परन्तु अब व्यक्ति के सम्बन्धों का काफी विस्तार हुआ है। अब उसे शिक्षा के लिए स्कूल पर, आजीविका के लिए किसी कारखाने, दफ्तर या व्यापारिक संस्थान पर निर्भर रहना पड़ता है। अपने मनोरंजन के लिए भी वह किसी क्लब, सोसायटी या मण्डल का सदस्य बनता है। आज के विशेषीकरण के इस युग में सभी समितियों या वैकल्पिक समूहों की संख्या काफी बढ़ गयी है और व्यक्ति अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए इनमें से कुछ का सदस्य बन जाता है। परिणामस्वरूप उसके सम्बन्धों का क्षेत्र विस्तृत हो जाता है। वर्तमान में घनिष्ठ, आमने-सामने के और अनौपचारिक सम्बन्धों के बजाय कार्यात्मक, अप्रत्यक्ष तथा औपचारिक सम्बन्ध अधिक बनते जा रहे हैं।

(6) **ग्रामीण क्षेत्रों में नगरीय विशेषताओं का फैलाव**–अधिकांशत: मानव दो प्रकार के समुदायों में निवास करता है, या तो नगरीय समुदायों में या ग्रामीण समुदायों में। ये दोनों ही प्रकार के समुदाय सामाजिक जीवन के दो भिन्न-भिन्न रूप प्रस्तुत करते हैं। आज प्रौद्योगिकी के कारण नगरीय क्षेत्रों में सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया तीव्र है। इसका प्रभाव ग्रामीण क्षेत्रों और जीवन पर भी पड़ता है। वर्तमान में बहुत-से मजदूर काम करने ग्रामों से नगरों में आते हैं जहां नवीन पर्यावरण से अनुकूलन करने के प्रयत्न-स्वरूप उनके विश्वासों, मूल्यों, आदतों एवं आचरणों में काफी परिवर्तन आता है। वे इन नवीनताओं को ग्रामीण क्षेत्रों में पहुंचाते हैं। यातायात और संचार के साधनों के बढ़ने से नगरीय विशेषताओं का ग्रामों में प्रचार और प्रसार होता जा रहा है। अब ग्रामों के लोग भी उन भौतिक उपकरणों का प्रयोग करने लगे हैं जो जीवन की सुख-सुविधाओं को बढ़ाने में योग देते हैं, जैसे, बिजली, पंखा, हीटर, रेडियो, ट्रांजिस्टर, टेपरिकार्डर, टेलीविजन आदि का। स्पष्ट है कि ग्रामीण और नगरीय जीवन का अन्तर धीरे-धीरे कम होता जा रहा है।

प्रौद्योगिक परिवर्तन के अप्रत्यक्ष प्रभाव इस प्रकार हैं–

(1) **प्रतिस्पर्द्धा का बढ़ना**–नवीन प्रौद्योगिकी ने जहां श्रम-विभाजन और विशेषीकरण बढ़ाया है वहां साथ ही प्रतिस्पर्द्धा में भी अभूतपूर्व वृद्धि की है। आज के औद्योगिकरण के इस युग में प्रतिस्पर्द्धा का महत्व सर्वत्र बढ़ा है। आज शिक्षा, नौकरियों और व्यापार के विभिन्न क्षेत्रों में प्रतिस्पर्द्धा दिखायी पड़ती है। एक उद्योगपति और दूसरे उद्योगपति में आज गला-काट प्रतिस्पर्द्धा (Cut-Throat Competition) पायी जाती है। प्रतिस्पर्द्धा के बढ़ने से जहां अनेक लाभ हैं वहां इसके कुछ दुष्परिणाम भी हैं। इसके परिणामस्वरूप कई बार उत्पादन आवश्यकता से अधिक हो जाता है, व्यापार में बाधा पड़ती है और लोग आर्थिक अपराध तक करने लगते हैं। बढ़ती हुई प्रतिस्पर्द्धा ने आर्थिक सम्बन्धों के साथ-साथ सामाजिक सम्बन्धों के क्षेत्र को अन्तर्राष्ट्रीय बना दिया है। बढ़ती हुई प्रतिस्पर्द्धा ने सामूहिक महत्व को कम करने और व्यक्तिवादिता को बढ़ाने में योग दिया है।

(2) **विभिन्न वर्गों का उदय**–प्रौद्योगिकी ने नवीन आर्थिक वर्गों के निर्माण द्वारा सामाजिक संरचना को बदलने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है। नवीन प्रौद्योगिकी ने कुछ साधन-सम्पन्न लोगों को बड़े-बड़े कारखानों का मालिक बनाकर अधिक धन कमाने और पूंजीपति बनने के अवसर प्रदान किये हैं। दूसरी ओर इसी प्रौद्योगिकी ने लाखों-करोड़ों लोगों को इन्हीं कारखानों में मजदूरों के रूप में कार्य करने को बाध्य किया है। परिणामस्वरूप पूंजीपति और मजदूर वर्गों का निर्माण हुआ। साथ ही इन दोनों के मध्य एक और वर्ग का उदय हुआ है जिसे मध्यम वर्ग कहा जाता है जिसकी आय के स्रोत श्रमिक वर्ग से कुछ अधिक हैं और जो व्यापार, व्यवसाय, पेशों और विभिन्न नौकरियों में लगे हुए हैं। इस वर्ग के लोगों की सामाजिक प्रतिष्ठा श्रमिक वर्ग से ऊंची होती है। नवीन प्रौद्योगिकी ने भारतीय समाज में जाति-व्यवस्था के प्रभाव को कम करने और वर्गों के महत्व को बढ़ाने में योग दिया है।

(3) **बेकारी का बढ़ना**–नवीन प्रौद्योगिकी के अन्तर्गत श्रम की बचत करने वाली मशीनों का आविष्कार हुआ है। एक मशीन कुछ ही घण्टों में इतना काम कर सकती है, जितना एक व्यक्ति महीनों तक काम करके भी नहीं करता। परिणामस्वरूप नवीन प्रौद्योगिकी ने कुटीर उद्योग-धन्धों को चौपट कर बेकारी को बढ़ाने में योग दिया है, बेकारी अपने आप में एक ऐसी आर्थिक और सामाजिक समस्या है जो व्यक्ति और परिवार के जीवन को विघटित कर देती है। जब समाज में विघटित व्यक्तियों और परिवारों की संख्या बढ़ती है तो इसका प्रभाव सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था पर पड़ता है और समाज का जीवन अस्त-व्यस्त हो जाता है, लेकिन हमें यहां इतना अवश्य ध्यान रखना है कि नवीन प्रौद्योगिकी सदैव ही बेकारी को बढ़ाने में योग नहीं देती।

नोट

(4) **पारिवारिक जीवन में परिवर्तन**–प्रौद्योगिकीय परिवर्तन ने विवाह और परिवार के क्षेत्र में अनेक महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों का सूत्रपात किया है। नवीन प्रौद्योगिकी ने व्यक्तिवादिता को बढ़ाया है और सामूहिकता के महत्व को कम किया है। अब व्यक्ति स्वयं के स्वार्थ के दृष्टिकोण से अधिक सोचने लगा है। साथ ही लोग ग्रामों में अपने संयुक्त परिवार को छोड़कर नगरों में आकर बसने लगे हैं। वहां मकानों की कमी तथा व्यक्तिवादी और स्वार्थी मनोवृत्ति ने उन्हें नाभिक परिवारों में रहने के लिए प्रेरित किया है। परिवारों का आकार भी पहले से कुछ छोटा हुआ है। परिवार नियोजन की नवीन प्रविधियों ने परिवार के आकार को छोटा करने में योग दिया है। वर्तमान में परिवार के बहुत-से कार्य परिवार से छिनकर अन्य समितियों में चले गये हैं। नवीन प्रौद्योगिकी ने स्त्रियों के कार्यों का हल्का किया है। अब वे प्रेशर-कुकर, गैस, बिजली और अनेक श्रम-बचत उपकरणों को काम में लेकर अपने समय को बचाने लगी हैं। स्त्री-शिक्षा और रोजगार के अवसर भी बढ़े हैं। अब वे फैक्टरियों, दफ्तरों, स्कूलों और विभिन्न व्यवसायों में पुरुषों के समान काम करने और आर्थिक रूप से स्वतन्त्र होने लगी हैं। वे अब अपने अधिकारों के प्रति जागरूक हैं। इस सारी स्थिति ने स्त्रियों की सामाजिक स्थिति को सुधारने में योग दिया है। प्रौद्योगिकीय परिवर्तनों का प्रभाव विवाह संस्था पर भी पड़ा है। अब प्रेम-विवाह, विलम्ब-विवाह, अन्तर्जातीय विवाह भी होने लगे हैं। इसके अलावा, नवीन प्रौद्योगिकी ने पारिवारिक सम्बन्धों में परिवर्तन लाकर तनाव और विवाह-विच्छेदों की संख्या बढ़ाने में योग दिया है।

(5) **सामाजिक जीवन में परिवर्तन**–नवीन प्रौद्योगिकी ने व्यक्ति के मूल्यों, विश्वासों, आदर्शों, आदि को परिवर्तित कर उसे जीवन के प्रति नवीन दृष्टिकोण अपनाने के लिए बाध्य किया है। अब व्यक्ति सामुदायिक के बजाय व्यक्तिवादी जीवन में अधिक रुचि लेने लगा है। नगरों में बसने वाले बहुत-से व्यक्तियों को अपने स्त्री-बच्चों को गांव में ही छोड़कर नगरों में गन्दी बस्तियों में अकेले रहने को विवश होना पड़ता है। यह स्थिति कई बार यौन-अनैतिकता पनपने में योग देती है। ऐसे लोगों में मद्यपान, वैश्यावृत्ति और जुआखोरी की आदत भी पनप जाती है। नवीन प्रौद्योगिकी ने जाति-व्यवस्था पर आधारित परम्परागत स्थिर भारतीय समाज को आधुनिकीकरण की ओर बढ़ने के लिए प्रेरित किया है। अब लोग जाति-पांति की अधिक चिन्ता नहीं करते। स्पष्ट है कि प्रौद्योगिकी ने स्थिर समाज को गतिशील समाज में परम्परागत समाज को आधुनिक समाज में बदलने में योग दिया है।

(6) **धार्मिक जीवन में परिवर्तन**–नवीन प्रौद्योगिकी ने ज्ञान-विज्ञान, तर्क और विवेक के महत्व को बढ़ाकर धर्म के रूढ़िवादी पक्ष को कमजोर करने में योग दिया है। अब आज का व्यक्ति धार्मिक अन्धविश्वासों को अधिक महत्त्व नहीं देता है। आज धर्म के उदारतावादी और मानवतावादी पक्ष पर अधिक जोर दिया जाने लगा है। अब व्यक्ति धार्मिक कर्मकाण्डों में उतना विश्वास नहीं करता जितना पहले करता था। नवीन प्रौद्योगिकी ने विभिन्न धर्मों के लोगों को एक-दूसरे के सम्पर्क में आने का अवसर दिया है। परिणामस्वरूप लोगों की विभिन्न धर्मों में रुचि बढ़ी है। आज धर्म के क्षेत्र में संकीर्णताएं कुछ कम हुई हैं और सहिष्णुता बढ़ी है।

स्पष्ट है कि प्रौद्योगिक कारकों ने सामाजिक परिवर्तन लाने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है।

1.27 सारांश (Summary)

- सामाजिक परिवर्तन समाज की संरचना एवं उसके प्रकार्यों में परिवर्तन को कहते हैं।
- प्रक्रिया, उद्विकास, प्रगति, विकास, अनुकूलन, क्रान्ति, वृद्धि को सामाजिक परिवर्तन के प्रकार के रूप में जाना जाता है।
- मैकाइवर एवं पेज ने समाज को सामाजिक संबंधों का जाल कहा है।
- स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत में उत्पादन के क्षेत्र में औद्योगीकरण तेजी से हो रहा है। ऊर्जा के नए-नए स्रोतों का प्रयोग तेजी से हो रहा है।
- भारत में दिन-प्रतिदिन ग्रामीण जनसंख्या शहर की ओर आ रही है। ग्रामीण कृषि कार्य को छोड़कर अकृषि कार्य को अपना रहे हैं।
- धर्मनिरपेक्षीकरण या लौकिकीकरण की प्रक्रिया द्वारा लोगों के विचार, व्यवहार, आदर्श, परंपरा, विश्वास आदि में अनेक परिवर्तन देखने में आ रहे हैं।

नोट

- सोरोकिन के अनुसार, "जनसंख्या कारक का तात्पर्य जनसंख्या के आकार तथा घनत्व में वृद्धि तथा ह्रास से है।"
- आर्थिक कारकों के अंतर्गत उपभोग, उत्पत्ति, विनिमय वितरण तथा आर्थिक नीति को सम्मिलित किया जाता है।
- यदि समाज में अधिकांश व्यक्तियों का जीवन-स्तर उच्च है और व्यक्तियों की आवश्यक आवश्यकताओं की पूर्ति आसानी से हो जाती है तो ऐसे समाज में सन्तानोत्पत्ति व जन्म-दर बढ़ जाती है क्योंकि सन्तानों का पालन-पोषण करना सरल हो जाता है।
- मानव जीवन का सामाजिक चरित्र और व्यवहार की मानवीकृत प्रणाली का अस्तित्व समाजशास्त्र के अध्ययन के लिए बुनियाद का काम करते हैं।
- सामाजिक परिवर्तन के विभिन्न कारकों में सांस्कृतिक कारकों का विशेष महत्त्व है। इसका प्रमुख कारण यह है कि संस्कृति व्यक्ति के विश्वासों, मूल्यों, विचारों, आदतों एवं व्यवहारों को बहुत कुछ सीमा तक प्रभावित करती है।
- संस्कृति या सांस्कृतिक कारकों और सामाजिक परिवर्तनों के बीच गहरा सम्बन्ध पाया जाता है।
- प्रौद्योगिकी के अंतर्गत उन प्रविधियों को लिया जाता है जो हमें भौतिक लक्ष्य प्राप्त करने में सहायता प्रदान करती हैं।
- संचार की अनेक प्रविधियाँ हैं जिनमें से तार, टेलिफोन, मोबाइल, फैक्स, टेलिविजन आदि प्रमुख हैं।
- कृषि क्षेत्र में नवीन प्रविधियों ने ग्रामीण जीवन को अनेक प्रकार से प्रभावित किया है।

1.28 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. सामाजिक परिवर्तन का क्या अर्थ है?
2. सामाजिक परिवर्तन के कौन-कौन से प्रकार है?
3. समकालीन भारतीय समाज में होने वाले परिवर्तन को बताएँ।
4. स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारतीय समाज में नगरीकरण तथा औद्योगिकीकरण किस प्रकार हुआ है?
5. सामाजिक परिवर्तन के जनसंख्यात्मक कारक का विवेचन करें।
6. सामाजिक परिवर्तन के आर्थिक कारक का विवेचन करें।
7. धर्म किस प्रकार सामाजिक परिवर्तन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं?
8. सांस्कृतिक कारक और सामाजिक परिवर्तन क्या है? वर्णन करें।
9. संस्कृति का समाज/मानव जीवन पर पड़ने वाले प्रभाव का उल्लेख करें।
10. प्रौद्योगिकी सामाजिक परिवर्तन लाने में किस तरह भूमिका निभाता है?
11. संचार के साधन समाज में परिवर्तन किस प्रकार लाते हैं?
12. नवीन प्रविधियों ने ग्रामीण जीवन को किस प्रकार प्रभावित किया है?

1.29 सन्दर्भ पुस्तकें (Further Readings)

1. विकास का समाजशास्त्र– *दूबे श्यामाचरन, वानी पब्लिकेशन।*
2. विकास का समाजशास्त्र– *कैलाश प्यास, पेनक्राफ्ट इन्टरनेशनल।*
3. विकास का समाजशास्त्र– *एम. अहमद, न्यू एज इन्टरनेशनल।*
4. विकास का समाजशास्त्र – *कैलाश प्यास, पेनक्राफ्ट इन्टरनेशनल।*
5. विकास का समाजशास्त्र – *राव राममेहर सिंह, अर्जुन पब्लिकेशन।*
6. भारतीय समाज – *राम आहुजा*
7. विकास का समाजशास्त्र – *कैलाश प्यास, पेनक्राफ्ट इन्टरनेशनल।*
8. विकास का समाजशास्त्र – *एम. अहमद, न्यू एज इन्टरनेशनल।*

नोट

इकाई–2: सामाजिक परिवर्तन के सिद्धांत (Theories of Social Change)

संरचना (STRUCTURE)

2.1 उद्देश्य (Objectives)
2.2 प्रस्तावना (Introduction)
2.3 सामाजिक परिवर्तन के रेखीय सिद्धांत (Linear Theory of Social Change)
2.4 सामाजिक परिवर्तन के चक्रीय सिद्धांत (Cyclical Theories of Social Change)
2.5 उद्विकास का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Evolution)
2.6 उद्विकास की विशेषताएँ (Characteristics of Evolution)
2.7 डार्विन का उद्विकासीय सिद्धांत (Darwin's Theory of Evolution)
2.8 सामाजिक उद्विकास (Social Evolution)
2.9 समाज और संस्कृति का उद्विकास (Evolution of Society and Culture)
2.10 आर्थिक जीवन का उद्विकास (Evolution of Economic Life)
2.11 पारिवारिक जीवन का उद्विकास (Evolution of Family Life)
2.12 सामाजिक उद्विकास की वास्तविकता (समालोचना) (Reality (Criticism) of Social Evolution)
2.13 सामाजिक उद्विकास के कारक (Factors of Social Evolution)
2.14 उद्विकास के स्वरूप (Forms of Evolution)
2.15 सामाजिक उद्विकास एवं सामाजिक परिवर्तन (Social Evolution and Social Change)
2.16 सामाजिक प्रगति का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Social Progress)
2.17 सामाजिक प्रगति की विशेषताएँ एवं मापदंड (Characteristics and Criteria of Social Progress)
2.18 सामाजिक प्रगति में सहायक दशाएँ (Conditions Helpful to Social Progress)
2.19 रूपान्तरण या परिवर्तन (Transformation)
2.20 विकास (Development)
2.21 क्रान्ति (Revolution)
2.22 क्रान्ति के कारण एवं परिणाम (Causes and Consequences of Revolution)
2.23 सारांश (Summary)
2.24 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)
2.25 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

2.1 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- सामाजिक परिवर्तन के रेखीय सिद्धांत की जानकारी।
- सामाजिक परिवर्तन के चक्रीय सिद्धांत की व्यवस्था।
- सामाजिक परिवर्तन के उद्विकासीय सिद्धांत का वर्णन।

2.2 प्रस्तावना (Introduction)

समाज में सामाजिक परिवर्तन किन कारणों से तथा किन नियमों के अन्तर्गत होता है, उसकी गति एवं दिशा क्या होती है, इन प्रश्नों को लेकर प्राचीन समय से ही विद्वान् अपने-अपने मत व्यक्त करते रहे हैं। प्रारम्भ में दार्शनिकों ने सामाजिक परिवर्तन के सिद्धांत प्रस्तुत किये, बाद में समाजशास्त्रियों ने भी अपना योग दिया। समाजिक परिवर्तन की व्याख्या कुछ विद्वानों ने सिद्धान्तों के प्रतिपादन द्वारा की है। उनका विश्वास है कि समाज में परिवर्तन इन्हीं नियमों एवं सिद्धान्तों के अनुसार होते हैं।

19वीं सदी में काम्टे, हीगल एवं कार्ल मानहीम जैसे विचारकों ने सामाजिक परिवर्तन में विचारों की भूमिका को बहुत महत्व दिया। सामाजिक परिवर्तन के सन्दर्भ में उन विद्वानों ने भी सिद्धान्त प्रस्तुत किये जो समाज के उद्विकास एवं प्रगति को समझने में रुचि रखते थे। काम्टे, स्पेन्सर, हॉबहाउस, आदि विद्वानों ने कहा कि सामाजिक परिवर्तन एक सीधी रेखा में कुछ निश्चित स्तरों से होकर गुजरता है और प्रत्येक समाज को इन स्तरों से गुजरना होता है। ये स्तर कौन-से होंगे, इस बारे में उनमें मत-भिन्नता है। यह मत बाद में आने वाले सामाजिक-वैज्ञानिकों जैसे मॉर्गन, टायलर, हेनरीमैन, वेस्टरमार्क, हेड्डन एवं लेविब्रुहल आदि ने भी स्वीकार किया और इस आधार पर परिवार, विवाह, धर्म, कला, तर्क एवं संस्कृति में परिवर्तन की उद्विकासीय प्रवृत्ति का उल्लेख किया। उस समय यह धारणा बनी कि परिवर्तन सदैव सरलता से जटिलता, समानता से असमानता तथा बुराई से अच्छाई की ओर होता है।

2.3 सामाजिक परिवर्तन के रेखीय सिद्धांत (Linear Theory of Social Change)

सामाजिक परिवर्तन के रेखीय सिद्धान्तकार उद्विकासवादियों से प्रभावित थे। वे इस मत को नहीं मानते कि परिवर्तन चक्रीय गति से होता है वरन् उनका मत है कि परिवर्तन सदैव एक सीधी रेखा में नीचे से ऊपर की ओर विभिन्न चरणों में होता है। उद्विकासीय एवं रेखीय सिद्धान्तकारों में काम्टे, **स्पेन्सर, हॉबहाउस** आदि प्रमुख हैं। कॉम्टे समाज के उद्विकासीय रूप को तीन स्तरों (धार्मिक से वैज्ञानिक तक), स्पेन्सर चार स्तरों (शिकारी से औद्योगिक तक) तथा मार्क्स पाँच स्तरों (आदिम साम्यवादी से आधुनिक साम्यवादी तक) के रूप में मानते हैं। **मार्क्स** एवं **वेबलिन** सामाजिक परिवर्तन के रेखीय क्रम को तो प्रस्तुत करते ही हैं, किन्तु ये दोनों ही आर्थिक एवं प्रौद्योगिक कारकों को अधिक महत्त्व देते हैं, अतः इनके सिद्धान्तों को निर्धारणवादी सिद्धान्त (Deterministic Theories) भी कहते हैं। हम यहाँ रेखीय सिद्धान्तों का उल्लेख करेंगे :

1. काम्टे का सिद्धान्त (Theory of Comte)

कॉम्टे ने सामाजिक परिवर्तन का सम्बन्ध मानव के बौद्धिक विकास से जोड़ा है। उन्होंने बौद्धिक विकास एवं सामाजिक परिवर्तन के तीन स्तर माने हैं :

(*i*) धार्मिक स्तर (Theological Stage); (*ii*) तात्विक स्तर (Metaphysical Stage); (*iii*) वैज्ञानिक स्तर (Positive stage)।

धार्मिक स्तर समाज की प्राथमिक अवस्था थी जिसमें मानव प्रत्येक घटना को ईश्वर एवं धर्म के सन्दर्भ में समझने का प्रयत्न करता था। विश्व की सभी क्रियाओं का आधार धर्म और ईश्वर को ही माना गया। उस समय अलग-अलग स्थानों पर धर्म के विभिन्न रूप; जैसे बहुदेववाद, एकदेववाद अथवा प्रकृति-पूजा प्रचलित थे। सामाजिक विकास का **द्वितीय स्तर तात्विक स्तर** है जिसमें मानव घटनाओं की व्याख्या उनके गुणों के आधार पर करता था। इस

अवस्था में मानव का अलौकिक शक्ति में विश्वास कम हुआ और प्राणियों में विद्यमान अमूर्त शक्ति को ही समस्त घटनाओं के लिए उत्तरदायी माना गया। सामाजिक विकास का तीसरा स्तर वैज्ञानिक स्तर है जो कि वर्तमान में विद्यमान है। **वैज्ञानिक स्तर** में मानव सांसारिक घटनाओं की व्याख्या धर्म, ईश्वर एवं अलौकिक शक्ति के आधार पर नहीं करता वरन् वैज्ञानिक नियमों एवं तर्क के आधार पर करता है। वह कार्य और कारण के सह-सम्बन्धों को ज्ञात कर नियमों एवं सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है, मानव घटनाओं का अवलोकन कर उनकी तार्किक एवं वैज्ञानिक व्याख्या करके सत्य तक पहुँचने का प्रयास करता है। इस प्रकार चिन्तन के विकास के साथ-साथ सामाजिक संरचना, संगठन एवं व्यवस्थाओं का भी विकास एवं परिवर्तन हुआ है।

समालोचना—निःसन्देह समाज में होने वाले परिवर्तनों में एक योजनाबद्ध एवं क्रमबद्ध व्याख्या काम्टे का सराहनीय प्रयास है, किन्तु उनके इस सिद्धान्त को पूरी तरह सही नहीं माना जा सकता। उन्होंने मानव चिन्तन और सामाजिक विकास के तीन स्तरों का उल्लेख किया है उन स्तरों से विश्व के सभी समाज गुजरे हों, यह आवश्यक नहीं है। ये स्तर किसी समाज में पहले व किसी में बाद में अथवा दो स्तर साथ-साथ भी चल सकते हैं।

2. स्पेन्सर का सिद्धान्त (Spencer's Theory)

स्पेन्सर ने भी सामाजिक परिवर्तन का उद्विकासीय सिद्धान्त प्रस्तुत किया। आपने सामाजिक परिवर्तन को प्राकृतिक प्रवरण (Natural selection) के आधार पर प्रकट किया है। स्पेन्सर डार्विन के उद्विकास से प्रभावित थे। डार्विन ने जीवों के उद्विकास का सिद्धान्त प्रतिपादित किया जिसे स्पेन्सर ने समाज पर भी लागू किया। डार्विन का मत था कि जीवों में अस्तित्व के लिए संघर्ष (Struggle for existence) पाया जाता है। इस संघर्ष में वे ही प्राणी बचे रहते हैं जो शक्तिशाली होते हैं और प्रकृति से अनुकूलन कर लेते हैं, कमजोर इस संघर्ष में समाप्त हो जाते हैं (Survival of the fittest and elimination of the unfit)। चूँकि प्रकृति भी ऐसे जीवों का वरण करती है जो योग्य एवं सक्षम होते हैं, अतः इस सिद्धान्त को **'प्राकृतिक प्रवरण का सिद्धान्त'** कहते हैं। चूँकि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, अतः उसके प्रवरण अथवा जन्म और मृत्यु-दर पर सामाजिक कारकों; जैसे- प्रथाओं, मूल्यों एवं आदर्शों का भी प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। इस प्रवरण में श्रेष्ठ मनुष्य ही बचे रहते हैं जो समाज का निर्माण करते हैं और उसमें परिवर्तन लाते हैं। प्रत्येक नयी पीढ़ी पुरानी पीढ़ी से ज्ञान और विज्ञान के क्षेत्र में अधिक उन्नत होती है और समाज को आगे की ओर बढ़ाती है, इस प्रकार समाज क्रमशः आगे बढ़ता और परिवर्तित होता जाता है। इस प्रकार **स्पेन्सर** सामाजिक परिवर्तन के लिए अप्राकृतिक एवं सामाजिक प्रवरण को आधार मानते हैं।

स्पेन्सर के अतिरिक्त जैविकीय कारकों को सामाजिक परिवर्तन के लिए उत्तरदायी मानने वालों में **गोबिन्यू** व **लापोज** आदि भी प्रमुख हैं। इन विद्वानों की मान्यता है कि समाज का निर्माण और प्रगति उन लोगों द्वारा सम्भव है जो प्रजातीय दृष्टि से श्रेष्ठ होते हैं। जब किसी समाज में प्रजातीय दृष्टि से हीन व्यक्ति होते हैं तो वह समाज पतन की ओर जाता है और जब उसमें शारीरिक व मानसिक दृष्टि से श्रेष्ठ व्यक्ति होते हैं तो वह समाज प्रगति करता है। स्पेन्सर व जीववादियों के सिद्धान्तों की अनेक विद्वानों ने यह कहकर आलोचना की कि मानव समाज पर प्राकृतिक प्रवरण को लागू नहीं किया जा सकता। इन्होंने परिवर्तन के अन्य सिद्धान्तों की अवहेलना की है।

3. कार्ल मार्क्स का सिद्धान्त (Theory of Karl Marx)

कार्ल मार्क्स ने सामाजिक परिवर्तन को प्रौद्योगिक एवं आर्थिक कारकों से जनित माना है। अतः उनके सिद्धान्त को **आर्थिक निर्धारणवाद** (Economic Determinism) अथवा सामाजिक परिवर्तन का प्रौद्योगिक सिद्धान्त (Technological Theory of Social Change) कहा जाता है। मार्क्स का सिद्धान्त वर्तमान समय में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं क्रांतिकारी सिद्धांत माना जाता है। उन्होंने इतिहास की भौतिक व्याख्या की और कहा कि मानव इतिहास में अब तक जो परिवर्तन हुए हैं, वे उत्पादन प्रणाली (Mode of production) में परिवर्तन के कारण ही हुए हैं। उनका मत है कि जनसंख्या, भौगोलिक परिस्थितियों एवं अन्य कारणों का मानव के जीवन पर प्रभाव तो पड़ता है, किन्तु वे परिवर्तन के निर्णायक कारक नहीं हैं। निर्णायक कारक तो आर्थिक कारक अर्थात् उत्पादन प्रणाली ही है।

नोट

मार्क्स ने अपने सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि मनुष्य को जीवित रहने के लिए कुछ भौतिक मूल्यों (जैसे–रोटी, कपड़ा, निवास आदि) की आवश्यकता होती है। इन मूल्यों या आवश्यकताओं को जुटाने के लिए मानव को उत्पादन करना होता है। उत्पादन करने के लिए उत्पादन के साधनों (Means of production) की आवश्यकता होती है। जिन साधनों के द्वारा व्यक्ति उत्पादन करता है, उन्हें प्रौद्योगिकी कहते हैं। प्रौद्योगिकी में छोटे-छोटे औजार तथा बड़ी-बड़ी मशीनें सम्मिलित हैं।

प्रौद्योगिकी में जब परिवर्तन आता है तो उत्पादन प्रणाली में भी परिवर्तन आता है। मार्क्स का मत है कि मानव अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए किसी-न-किसी उत्पादन प्रणाली (Mode of production) को अपनाता है। उत्पादन प्रणाली दो पक्षों से मिलकर बनी होती है, **एक**, उत्पादन के उपकरण या प्रौद्योगिकी, श्रमिक, उत्पादन का अनुभव एवं श्रम-कौशल और **दूसरा**, उत्पादन के सम्बन्ध। किसी भी वस्तु के उत्पादन के लिए हमें औजार, श्रम, अनुभव एवं कुशलता की आवश्यकता होती है। साथ ही जो लोग उत्पादन के कार्य में लगे होते हैं, उनके बीच कुछ आर्थिक सम्बन्ध भी पैदा हो जाते हैं; जैसे–किसान कृषि क्षेत्र में उत्पादन करने के दौरान मजदूरों, सुनार, लुहार एवं उसके द्वारा उत्पादित वस्तु के खरीदारों से सम्बन्ध बनाता है। जब उत्पादन प्रणाली में परिवर्तन होता है तो समाज में भी परिवर्तन आता है। उत्पादन प्रणाली की यह विशेषता है कि यह किसी भी अवस्था में स्थिर नहीं रहती, सदैव बदलती रहती है। उत्पादन प्रणाली समाज का मूल है और उसी पर समाज की सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक-राजनीतिक संरचनाएँ, विश्वास, कला, साहित्य, प्रथाएँ, विज्ञान एवं दर्शन टिके हुए हैं। जिस प्रकार की उत्पादन प्रणाली होती है समाज की **'अधिसंरचना'** (Super-structure) अर्थात् ऊपरी संरचना जिसमें धर्म, प्रथाएँ, राजनीति, साहित्य, कला, विज्ञान एवं संस्कृति आदि आते हैं, भी उसी प्रकार की बन जाती है। जब उत्पादन प्रणाली बदलती है तो समाज

चित्र 1 उत्पादन प्रणाली

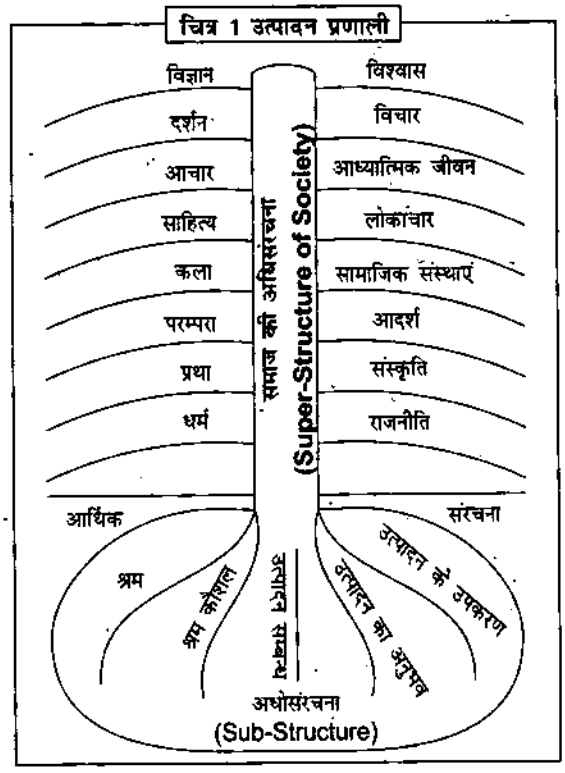

की ऊपरी संरचना में भी परिवर्तन आता है और समाज की संस्थाएँ बदलती हैं तथा सामाजिक परिवर्तन घटित होता है। मार्क्स का कहना है कि जब हाथ की चक्की से उत्पादन किया जाता था तो एक विशेष प्रकार का समाज था और आज जब बिजली की चक्की है तो दूसरे प्रकार का समाज है जो पहले प्रकार के समाज से भिन्न है। इसी प्रकार कृषि का कार्य जब हल एवं बैलों की सहायता से तथा उत्पादन का कार्य कुटीर उद्योगों में छोटे-छोटे औजारों से किया जाता था तो एक विशेष प्रकार का समाज, संस्कृति, धर्म एवं राजनीति थी और आज जबकि

नोट

कृषि में ट्रैक्टर एवं वैज्ञानिक साधनों का प्रयोग तथा बड़ी-बड़ी मशीनों एवं कारखानों द्वारा औद्योगिक उत्पादन हो रहा है तो एक भिन्न प्रकार का समाज पाया जाता है। इन दोनों अवस्थाओं की राजनीति, धर्म, संस्कृति, कला, साहित्य, दर्शन, प्रथा, नैतिकता एवं लोकाचारों में बहुत अन्तर है। अत: स्पष्ट है कि उत्पादन प्रणाली में परिवर्तन होने पर ही समाज में परिवर्तन आता है। उत्पादन में लगे लोगों के पारस्परिक सम्बन्धों में भी परिवर्तन आता है। आज के युग में पूँजीपति व श्रमिकों में जो सम्बन्ध पाये जाते हैं वे कृषि युग के भूस्वामियों एवं मजदूरों के सम्बन्धों से इसीलिए भिन्न हैं।

मार्क्स का मत है कि उत्पादन के सम्बन्धों के सम्पूर्ण योग से ही समाज की आर्थिक संरचना (Economic structure) का निर्माण होता है। उदाहरण के लिए, कृषि युग में जमींदारों, कृषकों एवं कृषि-श्रमिकों के बीच पाये जाने वाले सम्बन्धों से एक विशेष प्रकार की आर्थिक संरचना का निर्माण हुआ जिसे हम कृषि अर्थव्यवस्था कहते हैं। वर्तमान समय में पूँजीपतियों, कारखाने के स्वामियों एवं श्रमिकों के सम्बन्धों से मिलकर बनने वाली आर्थिक संरचना कृषि युग की आर्थिक संरचना से भिन्न है, इसे हम औद्योगिक आर्थिक संरचना या औद्योगिक अर्थव्यवस्था कहते हैं। संक्षेप में, **मार्क्स** के अनुसार उत्पादन प्रणाली में परिवर्तन ही सामाजिक परिवर्तन के लिए उत्तरदायी हैं जब उत्पादन के उपकरणों (प्रौद्योगिकी), उत्पादन के कौशल, ज्ञान, उत्पादन के सम्बन्ध आदि जो कि आर्थिक संरचना का निर्माण करते हैं, में परिवर्तन आता है तो सम्पूर्ण सामाजिक-सांस्कृतिक अधि-संरचना (Super-structure) में भी परिवर्तन आता है जिसे हम सामाजिक परिवर्तन कहते हैं।

मार्क्स का मत है कि इतिहास के प्रत्येक युग में दो वर्ग रहे हैं। मानव समाज का इतिहास इन दो वर्गों के संघर्ष का ही इतिहास है। आपने समाज के विकास को पाँच युगों में बाँटा और प्रत्येक युग में पाये जाने वाले दो वर्गों का उल्लेख किया। एक वह वर्ग जिसका उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व रहा है और दूसरा वह जो श्रम के द्वारा जीवनयापन करता है। इन दोनों वर्गों में अपने-अपने हितों को लेकर संघर्ष होता है। प्रत्येक वर्ग-संघर्ष का अन्त नये समाज एवं नये वर्गों के उदय के रूप में हुआ है। वर्तमान में भी पूँजीपति और श्रमिक दो वर्ग हैं जो अपने-अपने हितों को लेकर संघर्षरत हैं। मार्क्स कहते हैं कि वर्गों की रचना एवं प्रकृति ही समाज व्यवस्था का निर्धारण करती है। एक युग के वर्ग-संघर्ष के परिणामस्वरूप नये वर्गों का जन्म होता है जो नयी समाज व्यवस्था को जन्म देता है। इस प्रकार वर्ग-संघर्ष एवं उसके परिणामस्वरूप नये वर्गों के जन्म के कारण ही समाज में परिवर्तन होते हैं। इस तरह मार्क्स ने सामाजिक परिवर्तन में वर्ग-संघर्ष की भूमिका को भी महत्त्वपूर्ण माना है।

समालोचना

1. मार्क्स ने सामाजिक परिवर्तन के लिए केवल एक ही कारक–आर्थिक कारक (उत्पादन प्रणाली) को उत्तरदायी मानकर परिवर्तन के अन्य कारकों की अवहेलना की है। सामाजिक, धार्मिक, भौगोलिक एवं जनसंख्यात्मक कारकों का भी सामाजिक परिवर्तन में महत्त्वपूर्ण हाथ होता है और स्वयं आर्थिक कारक भी अन्य कारकों से प्रभावित होते हैं।
2. मार्क्स कहते हैं कि सामाजिक परिवर्तन प्रौद्योगिकी, आर्थिक सम्बन्ध एवं आर्थिक संरचना में परिवर्तन के कारण आते हैं, किन्तु वे यह स्पष्ट करने में असमर्थ रहे हैं कि प्रौद्योगिकी आदि में परिवर्तन क्यों होता है या उसे परिवर्तित करने वाले कौन से कारक हैं?
3. मार्क्स द्वारा प्रयुक्त शब्दों; जैसे आर्थिक कारक, उत्पादन की शक्तियाँ तथा सम्बन्ध, आर्थिक सुधार, प्रौद्योगिकी आदि की स्पष्टत: व्याख्या नहीं की गयी है। कुछ विद्वान इसमें केवल आर्थिक प्रविधियों को ही सम्मिलित करते हैं जबकि एन्जिल एवं सेलिगमैन आदि ने उत्पादन से सम्बन्धित सभी दशाओं को आर्थिक कारकों के अन्तर्गत सम्मिलित किया है।
4. मार्क्स ने वर्ग-संघर्ष पर अधिक जोर दिया है, किन्तु समाज की नींव संघर्ष पर नहीं वरन् सहयोग पर आधारित है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मार्क्स ने सामाजिक परिवर्तन के सिद्धान्त को वैज्ञानिक आधार प्रदान करने का पूरा प्रयास किया है फिर भी आपने आर्थिक कारकों पर आवश्यकता से अधिक बल दिया। मानव केवल अपनी आर्थिक

आवश्यकताओं को पूरा करने वाला पुतला मात्र ही नहीं है। **मैक्स वेबर** ने मार्क्स के सिद्धान्त की आलोचना की है। वे आर्थिक कारकों के स्थान पर धर्म को सामाजिक परिवर्तन का आधार मानते हैं।

नोट

4. थॉर्सटीन वेबलिन का सिद्धान्त (Theory of Thorstein Veblen)

वेबलिन सामाजिक परिवर्तन के लिए प्रौद्योगिक दशाओं को उत्तरदायी मानते हैं। उनका मत है कि प्रौद्योगिक दशाएँ प्रत्यक्ष रूप से सामाजिक परिवर्तन के लिए उत्तरदायी हैं। इसलिए उनके सिद्धान्त को 'प्रौद्योगिक निर्णयवाद' कहा जाता है। वेबलिन ने मानवीय विशेषताओं को दो भागों में विभाजित किया है: (*i*) **स्थिर विशेषताएँ**–जिनका सम्बन्ध मानव की मूलप्रवृत्तियों और प्रेरणाओं से है जिनमें बहुत कम परिवर्तन होता है। (*ii*) **परिवर्तनशील विशेषताएँ**, जैसे-आदतें, विचार, मनोवृत्तियाँ आदि। सामाजिक परिवर्तन का सम्बन्ध मानव की इन दूसरी विशेषताओं से है, विशेष रूप से मानव की विचार करने की आदतों से। वेबलिन का सिद्धान्त इस प्रकार है :

मनुष्य अपनी आदतों द्वारा नियन्त्रित होता है और वह उनका दास है। वे आदतें किस प्रकार की होंगी, यह मानव के भौतिक पर्यावरण पर निर्भर है, भौतिक पर्यावरण में भी विशेषकर प्रौद्योगिकी पर। जब भौतिक पर्यावरण अर्थात् प्रौद्योगिकी में परिवर्तन आता है तो मानव की आदतें भी बदलती हैं। मानव की आदतों का निर्माण कैसे होता है? इसका उत्तर देते हुए वेबलिन कहते हैं कि मानव जिस प्रकार के कार्य तथा प्रविधि द्वारा अपना जीवनयापन करता है, उसी प्रकार की उसकी आदतें एवं मनोवृत्तियाँ होती हैं। जीवनयापन के लिए मनुष्य जिस प्रकार की प्रविधि को अपनाता है, अपनी आदतों को भी वह उसके अनुकूल ढालता है। ये आदतें व्यक्ति को एक निश्चित प्रकार का जीवन व्यतीत करने को बाध्य करती हैं और उसके द्वारा किया जाने वाला कार्य उसके विचारों को प्रभावित करता है। मानव जिस प्रकार का कार्य करता है, वैसा ही सोचता भी है। उदाहरण के लिए, सैनिक, कृषक, डॉक्टर, इंजीनियर आदि जिस प्रकार का कार्य करते हैं उनके विचार एवं आदतें भी वैसी ही हो जाती हैं। मनुष्य जीवनयापन के लिए कौन-सा कार्य करेगा, यह उसके भौतिक पर्यावरण पर निर्भर है। भौतिक पर्यावरण मानव के कार्य को एवं कार्य मानव के विचारों एवं आदतों को निश्चित करता है। उदाहरण के लिए, कृषि युग में मानव जीवनयापन के लिए एक विशेष प्रौद्योगिकी को काम में लाता था, उसी के अनुसार उसका भौतिक पर्यावरण भी बना हुआ था। कृषि कार्य के आधार पर ही मानव की आदत एवं मनोवृत्तियाँ बनी हुई थीं, किन्तु जब मशीनों का आविष्कार हुआ तो मानव का भौतिक पर्यावरण बदला, प्रौद्योगिकी बदली, काम की प्रकृति बदली और उसके साथ-साथ मानव की आदतों एवं मनोवृत्तियों में भी परिवर्तन आया।

आदतें ही धीरे-धीरे स्थापित एवं सुदृढ़ होकर संस्थाओं का रूप ग्रहण करती हैं। संस्थाएँ ही सामाजिक ढाँचे का निर्माण करती हैं। अतः जब आदतों में परिवर्तन होता है तो सामाजिक संस्थाओं एवं ढाँचे में भी परिवर्तन आता है जिसे हम सामाजिक परिवर्तन कहते हैं। संक्षेप में, **वेबलिन** के विचारों को हम इस प्रकार प्रकट कर सकते हैं–मानव अपनी आदतों द्वारा नियन्त्रित होता है, आदतों का निर्माण भौतिक पर्यावरण एवं प्रौद्योगिक के अनुसार होता है, आदतें ही सामाजिक संस्थाओं का निर्माण करती हैं एवं सामाजिक संस्थाएँ सामाजिक ढाँचे का। अतः जब प्रौद्योगिक एवं भौतिक पर्यावरण में परिवर्तन होता है तो मानव की आदतों, संस्थाओं एवं सामाजिक ढाँचे में भी परिवर्तन आता है। सामाजिक संरचना में परिवर्तन ही सामाजिक परिवर्तन है। इस प्रकार वेबलिन सामाजिक परिवर्तन को नवीन प्रविधियों एवं प्रौद्योगिकीय कारकों से जनित मानते हैं। इसलिए ही उन्हें प्रौद्योगिक निश्चयवादी कहा जाता है। वेबलिन भौतिक पर्यावरण में परिवर्तन को एक स्वाभाविक घटना मानते हैं।

समालोचना–वेबलिन के सिद्धान्त में भी लगभग वही कमियाँ हैं जो मार्क्स के सिद्धान्त में हैं क्योंकि उन्होंने भी मार्क्स की तरह प्रौद्योगिकी को ही सामाजिक परिवर्तन का कारक माना है।

(1) वेबलिन ने मानव को अपनी आदतों द्वारा नियन्त्रित प्राणी माना है, लेकिन यह सही नहीं है। मानव आदत के बजाय अपने विवेक से अधिक नियन्त्रित होता है। (2) प्रौद्योगिक परिवर्तन से ही सामाजिक परिवर्तन आता है, यह कहना उचित नहीं है क्योंकि कभी-कभी भौतिक पर्यावरण बिल्कुल नहीं बदलता फिर भी नैतिक, धार्मिक एवं अन्य कारकों के कारण समाज में परिवर्तन आ जाता है। (3) वेबलिन का सिद्धान्त भी उसी प्रकार से एकपक्षीय है जिस

प्रकार से अन्य कारकवादियों या निर्धारणवादियों के सिद्धान्त। सामाजिक परिवर्तन किसी एक कारक का प्रतिफल न होकर कई कारकों का परिणाम है। यह एक जटिल प्रक्रिया है जिसे वेबलिन ने अति सरल रूप में प्रस्तुत किया है।

नोट

मार्क्स एवं वेबलिन के सिद्धान्तों की तुलना (Comparison of Marx and Veblen's Theories)

कई बार ऐसा प्रतीत होता है कि मार्क्स एवं वेबलिन के सिद्धान्तों में कोई अन्तर नहीं है, वे समान ही प्रतीत होते हैं। फिर भी उनमें स्पष्ट अन्तर पाये जाते हैं, जो इस प्रकार हैं :

1. मार्क्स ने सामाजिक परिवर्तन के सिद्धान्त का प्रतिपादन एक विशेष उद्देश्य को लेकर किया। वे पूँजीवादी व्यवस्था को समाप्त करके उसके स्थान पर समाजवादी एवं वर्ग-विहीन समाज की स्थापना करना चाहते थे। इस कारण उनका सिद्धान्त पक्षपातपूर्ण एवं अवैज्ञानिक भी बन गया। इनके विपरीत, वेबलिन का कोई लक्ष्य नहीं था; वे तो परिवर्तन को एक निरन्तर प्रक्रिया के रूप में प्रकट करना चाहते थे। साथ ही वे सामाजिक उद्विकास तथा प्रौद्योगिकी के प्रभाव को भी बताना चाहते थे।
2. मार्क्स ने सामाजिक परिवर्तन के लिए वर्ग-संघर्ष को आवश्यक माना है जबकि वेबलिन ने नहीं।
3. मार्क्स ने प्रौद्योगिकी को सामाजिक परिवर्तन का अप्रत्यक्ष कारक माना है जबकि वेबलिन इसे एक प्रत्यक्ष कारक मानते हैं। मार्क्स आर्थिक संरचना को सामाजिक-सांस्कृतिक संरचना का आधार मानते हैं जबकि वेबलिन भौतिक पर्यावरण एवं प्रौद्योगिकी दशाओं को आदतों एवं संस्थाओं को निर्धारित करने वाला कारक।
4. वेबलिन सामाजिक परिवर्तन के लिए आदतों में परिवर्तनों को महत्त्वपूर्ण मानते हैं जबकि मार्क्स ने इस मनोवैज्ञानिक तथ्य की अवहेलना की है।

2.4 सामाजिक परिवर्तन के चक्रीय सिद्धांत (Cyclical Theories of Social Changes)

चक्रीय सिद्धान्तकारों का मत है कि समाज में परिवर्तन का एक चक्र चलता है। हम जहाँ से प्रारम्भ होते हैं, घूम-फिरकर पुनः वहीं पहुँच जाते हैं। इस प्रकार के विचारों की प्रेरणा विद्वानों को सम्भवतः प्रकृति से मिली होगी। प्रकृति में हम देखते हैं कि ऋतु का एक चक्र चलता है और सर्दी, गर्मी एवं वर्षा की ऋतुएँ एक के बाद एक पुनः-पुनः आती हैं। इसी प्रकार से रात के बाद दिन एवं दिन के बाद रात का चक्र भी चलता रहता है। प्राणी भी जन्म और मृत्यु के दौर से गुजरते हैं। हम जन्म लेते हैं, युवा होते हैं, वृद्ध होते हैं और मर जाते हैं। मरकर फिर जन्म लेते हैं, और पुनः वही क्रम दोहराते हैं। परिवर्तन के इस चक्र को कई विद्वानों ने समाज पर भी लागू किया और कहा कि परिवार, समाज और सभ्यताएँ उत्थान और पतन के चक्र से गुजरते हैं। इसकी पुष्टि के लिए उन्होंने विश्व की अनेक सभ्यताओं का उल्लेख किया और कहा कि इतिहास इस बात का साक्षी है कि जो सभ्यताएँ आज फल-फूल रही हैं और प्रगति के उच्च शिखर पर हैं, वे कभी आदिम और पिछड़ी अवस्था में थीं और आज जो सभ्यताएँ नष्टप्राय दिखायी दे रही हैं, भूतकाल में वे विश्व की श्रेष्ठ सभ्यताएँ रह चुकी हैं। इस प्रकार चक्रीय सिद्धान्तकार सामाजिक परिवर्तन को जीवन-चक्र के रूप में देखते हैं। चक्रीय सिद्धान्तकारों में स्पेंग्लर, टॉयनबी, पैरटो एवं सोरोकिन प्रमुख हैं। हम यहाँ उनके सिद्धान्तों का उल्लेख करेंगे–

(1) स्पेंग्लर का सिद्धान्त (Theory of Oswald Spengler)

सामाजिक परिवर्तन के बारे में जर्मन विद्वान **ओस्वाल्ड स्पेंग्लर** ने 1918 में अपनी पुस्तक 'The Decline of the West' में अपना चक्रीय सिद्धान्त प्रस्तुत किया। इस पुस्तक में उन्होंने सामाजिक परिवर्तन के उद्विकासीय सिद्धान्तों की आलोचना की और कहा कि परिवर्तन कभी भी एक **सीधी रेखा (straight line)** में नहीं होता है। स्पेंग्लर का मत है कि समाजिक परिवर्तन का एक चक्र चलता है, हम जहाँ से प्रारम्भ होते हैं, घूम-फिरकर पुनः वहीं पहुँच जाते हैं। जैसे– मनुष्य जन्म लेता है, युवा होता है, वृद्ध होता है और मर जाता है तथा फिर जन्म लेता है। यही चक्र मानव समाज एवं सभ्यताओं में भी पाया जाता है। मानव की सभ्यता एवं संस्कृति भी उत्थान और पतन, निर्माण और विनाश के चक्र से गुजरती हैं। वे भी मानव शरीर की तरह जन्म, विकास और मृत्यु को

प्राप्त होती हैं। अपनी बात को सिद्ध करने के लिए उसने विश्व की आठ सभ्यताओं (अरब, मिस्र, मेजियन, माया, रूसी एवं पश्चिमी संस्कृतियों, आदि) का उल्लेख किया और उनके उत्थान एवं पतन को दर्शाया। स्पेंग्लर ने पश्चिमी सभ्यता के बारे में कहा कि यह अपने विकास की चरम सीमा पर पहुँच गयी है। उद्योग एवं विज्ञान के क्षेत्र में उसने अभूतपूर्व प्रगति की है, किन्तु अब वह धीर-धीरे क्षीणता एवं स्थिरता की स्थिति में पहुँच रही है, अतः इसका विनाश अवश्यम्भावी है। उन्होंने जर्मन संस्कृति के बारे में भी ऐसे ही विचार प्रकट किये और कहा कि यह भी अपनी चरम सीमा पर पहुँच गयी है और अब इसका पतन निकट है। स्पेंग्लर की भविष्यवाणी उस समय सत्य प्रतीत हुई जब द्वितीय विश्व-युद्ध के समय जर्मनी का पतन हुआ। स्पेंग्लर ने कहा कि युद्ध एवं शस्त्रों का निर्माण सभ्यता के पतन के सूचक हैं। उनका मत है कि भविष्य में, पश्चिमी समाजों का आज जो दबदबा है, समाप्त हो जायेगा और उनकी सम्पन्नता एवं शक्ति नष्ट हो जायेगी। आपने कहा कि दूसरी ओर एशिया के देश जो अब तक पिछड़े हुए थे, कमजोर एवं सुस्त थे, अपनी आर्थिक एवं सैनिक शक्ति के कारण प्रगति एवं निर्माण के पथ पर बढ़ेंगे। वे पश्चिमी समाजों के लिए एक चुनौती बन जायेंगे। इस प्रकार पश्चिम एवं एशिया के समाजों के उदाहरणों द्वारा स्पेंग्लर ने सामाजिक परिवर्तन की चक्रीय प्रवृति को स्पष्ट किया है।

समालोचना–स्पेंग्लर के इस सिद्धान्त ने बहुत समय तक लोगों को अपनी ओर आकर्षित किया, किन्तु इसे पूरी तरह स्वीकार नहीं किया जा सकता। स्पेंग्लर ने संस्कृति एवं सभ्यता की तुलना सावयव से की है जिसे आज कोई स्वीकार नहीं करता। आपने ऐतिहासिक तथ्यों को तोड़-मरोड़कर अपने पक्ष की पुष्टि की तथा काल्पनिक आधार पर युद्धों से पश्चिमी समाज के विनाश की घोषणा की। स्पेंग्लर ने यह भी नहीं बताया कि किसी सभ्यता, समाज व संस्कृति का अन्तिम बिन्दु कौन-सा है जिसके बाद ह्रास प्रारम्भ हो जाता है। आपका यह कहना भी कि पश्चिमी समाज विकास के चरम स्वरूप को प्राप्त कर चुका है, त्रुटिपूर्ण है क्योंकि अब भी उसके विकास का कार्य जारी है। स्पेंग्लर के सिद्धान्तों को हम पूर्णतः वैज्ञानिक नहीं मान सकते। उनके सिद्धान्त से उनका निराशावाद प्रकट होता है।

(2) टॉयनबी का सिद्धान्त (Theory of Toynbee)

अर्नाल्ड जे. टॉयनबी एक अँग्रेज इतिहासकार थे। उन्होंने विश्व की 21 सभ्यताओं का अध्ययन किया तथा अपनी पुस्तक 'A Study of history' में सामाजिक परिवर्तन का अपना सिद्धान्त प्रस्तुत किया। विभिन्न सभ्यताओं का अध्ययन करके आपने सभ्यताओं के विकास का एक सामन्य प्रतिमान ढूँढ़ा और सिद्धान्त का निर्माण किया। टॉयनबी के सिद्धान्त को **'चुनौती एवं प्रत्युत्तर का सिद्धान्त'** (Challenge and Response Theory of Social Change) भी कहते हैं। वे कहते हैं कि प्रत्येक सभ्यता को प्रारम्भ में प्रकृति एवं मानव द्वारा चुनौती दी जाती है। इस चुनौती का सामना करने के लिए व्यक्ति को अनुकूलन की आवश्यकता होती है, व्यक्ति इस चुनौती के प्रत्युत्तर में भी सभ्यता व संस्कृति का निर्माण करता है। इसके बाद भौगोलिक चुनौतियों के स्थान पर सामाजिक चुनौतियाँ दी जाती हैं। ये चुनौतियाँ समाज की भीतरी समस्याओं के रूप में अथवा बाहरी समाजों द्वारा दी जाती हैं। जो समाज इन चुनौतियों का सामना सफलतापूर्वक कर लेता है, वह जीवित रहता है और जो ऐसा नहीं कर सकता, नष्ट हो जाता है। इस प्रकार एक समाज निर्माण एवं विनाश तथा संगठन एवं विघटन के दौर से गुजरता है। सिन्धु व नील नदी की घाटियों में ऐसा ही हुआ है। प्राकृतिक पर्यावरण ने वहाँ के लोगों को चुनौती दी जिसका प्रत्युत्तर उन्होंने निर्माण के द्वारा दिया। सिन्धु व मिस्र की सभ्यताएँ भी इसी प्रकार विकसित हुईं। गंगा व वोल्गा नदी ने भी ऐसी चुनौती दी, किन्तु इसका समुचित प्रत्युत्तर वहाँ के लोगों ने नहीं दिया। अतः वहाँ सभ्यताएँ नहीं पनपीं।

समालोचना–टॉयनबी का सिद्धान्त वैज्ञानिकता से दूर एक दार्शनिक सिद्धान्त प्रतीत होता है, किन्तु टॉयनबी स्पेंग्लर की तुलना में अधिक आशावादी हैं। उन्होंने परिवर्तन की समाजशास्त्रीय व्याख्या करने का प्रयास किया।

(3) पैरेटो का सिद्धान्त (Theory of Pareto)

विल्फ्रेड पैरेटो ने सामाजिक परिवर्तन का चक्रीय सिद्धान्त जिसे **अभिजात वर्ग के परिभ्रमण का सिद्धान्त** (Theory of Circulation of Elites) कहते हैं का प्रतिपादन अपनी पुस्तक *'Mind and Society'* में किया। उन्होंने सामाजिक परिवर्तन को वर्ग व्यवस्था में होने वाले चक्रीय परिवर्तनों के आधार पर समझाया है। उनका मत है कि प्रत्येक समाज में हमें दो वर्ग दिखायी देते हैं : उच्च या अभिजात वर्ग तथा निम्न वर्ग। ये दोनों वर्ग स्थिर

नहीं हैं वरन् इनमें परिवर्तन का चक्रीय क्रम पाया जाता है। निम्न वर्ग के व्यक्ति अपने गुणों एवं कुशलता में वृद्धि करके अभिजात वर्ग (Elite class) में सम्मिलित हो जाते हैं। अभिजात वर्ग के लोगों की कुशलता एवं योग्यता में धीरे-धीरे ह्रास होने लगता है और वे अपने गुणों को खो देते हैं तथा भ्रष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार वे निम्न वर्ग की ओर बढ़ते हैं। उच्च या अभिजात वर्ग में उनके रिक्त स्थान को भरने के लिए निम्न वर्ग में जो व्यक्ति बुद्धिमान, चरित्रवान, कुशल, योग्य एवं साहसी होते हैं, ऊपर की ओर जाते हैं। इस प्रकार उच्च वर्ग से निम्न वर्ग में तथा निम्न वर्ग से उच्च वर्ग में जाने की प्रक्रिया चलती रहती है। इस चक्रीय गति के कारण सामाजिक संरचना में भी परिवर्तन आ सकता है। चूँकि यह परिवर्तन एक चक्रीय गति में होता है, इसलिए इसे सामाजिक परिवर्तन का 'चक्रीय' अथवा 'अभिजात वर्ग के परिभ्रमण का सिद्धान्त' कहते हैं। पैरेटो ने सामाजिक परिवर्तन के चक्रीय सिद्धान्त का उल्लेख राजनीतिक, आर्थिक एवं आदर्शात्मक तीनों क्षेत्रों में किया है।

राजनीतिक क्षेत्र में हमें दो प्रकार के व्यक्ति दिखायी देते हैं--शेर तथा लोमड़ियाँ। 'शेर' लोगों का आदर्शवादी लक्ष्यों में दृढ़ विश्वास होता है जिन्हें प्राप्त करने के लिए वे शक्ति का सहारा लेते हैं और 'शेर' वे लोग हैं जो सत्ता में होते हैं। चूँकि 'शेर' लोग शक्ति का प्रयोग करते हैं, अत: समाज में भयंकर प्रतिक्रिया हो सकती है, अत: वे कूटनीति का सहारा लेते हैं और शेर से अपने को 'लोमड़ियों' में बदल देते हैं तथा लोमड़ियों की तरह चालाकी से शासन चलाते हैं एवं सत्ता में बने रहते हैं, किन्तु निम्न वर्ग में भी कुछ लोमड़ियाँ होती हैं जो सत्ता को हथियाने की फिराक में होती हैं। एक समय ऐसा आता है कि उच्च वर्ग की लोमड़ियों से सत्ता निम्न वर्ग की लोमड़ियों के हाथ में आ जाती है। ऐसी स्थिति में सत्ता परिवर्तन के कारण राजनीतिक व्यवस्था एवं संगठन में भी परिवर्तन आता है। पैरेटो का मत है कि सभी समाजों में शासन के लिए तर्क के स्थान पर शक्ति का प्रयोग अधिक होता है। शासन करने वाले लोगों में जब बल का प्रयोग करने की इच्छा व शक्ति कमजोर हो जाती है तब वे शक्ति के स्थान पर लोमड़ियों की तरह चालाकी से काम लेते हैं। शासित वर्ग की लोमड़ियाँ उनसे अधिक चतुर होती हैं, अत: वे उच्च वर्ग की लोमड़ियों से सत्ता छीन लेती हैं। अत: जब शासक बदलते हैं एवं सत्ता परिवर्तन होती है तो समाज में भी परिवर्तन आता है।

आर्थिक क्षेत्र में पैरेटो ने दो वर्गों–सट्टेबाज (Speculators) तथा निश्चित आय वर्ग (Rentiers) का उल्लेख किया है। पहले वर्ग के लोगों की आय अनिश्चित होती है–कभी कम तथा कभी ज्यादा। इस वर्ग के लोग बुद्धि के द्वारा धन कमाते हैं। इसके विपरीत, दूसरे वर्ग की आय निश्चित होती है। प्रथम वर्ग के लोग आविष्कारक, उद्योगपति एवं कुशल व्यवसायी होते हैं, किन्तु इस वर्ग के लोग अपने हितों की रक्षा के लिए शक्ति एवं चालाकी का प्रयोग करते हैं, भ्रष्ट तरीके अपनाते हैं। इस कारण उनका पतन हो जाता है और उनका स्थान दूसरे वर्ग के ऐसे लोग ले लेते हैं जो ईमानदार होते हैं। इस वर्ग में परिवर्तन के साथ-साथ समाज की अर्थव्यवस्था में भी परिवर्तन आता है।

आदर्शात्मक क्षेत्र में भी दो प्रकार के व्यक्ति पाये जाते हैं–विश्वासवादी एवं अविश्वासी। कभी समाज में विश्वासवादियों का प्रभुत्व होता है, किन्तु जब वे रूढ़िवादी हो जाते हैं तो उनका पतन हो जाता है और उनका स्थान दूसरे वर्ग के लोग ले लेते हैं।

समालोचना–पैरेटो ने अपने चक्रीय सिद्धान्त को व्यवस्थित एवं बुद्धिमत्तापूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया है फिर भी आप उन कारणों को स्पष्ट करने में असमर्थ रहे हैं जो वर्गों की स्थिति को परिवर्तित करते हैं।

(4) सोरोकिन का सांस्कृतिक गतिशीलता का सिद्धान्त (Sorokin's Theory of Cultural Dynamics)

सोरोकिन ने अपनी पुस्तक **'Social and Cultural Dynamics'** में सामाजिक परिवर्तन के सांस्कृतिक गतिशीलता का सिद्धान्त प्रस्तुत किया। उन्होंने मार्क्स, पैरेटो एवं वेबलिन के परिवर्तन सम्बन्धी सिद्धान्तों की आलोचना की। उनका मत है कि सामाजिक परिवर्तन उतार-चढ़ाव के रूप में घड़ी के पेण्डुलम की भाँति एक स्थिति से दूसरी स्थिति के बीच होता रहता है। उन्होंने प्रमुख रूप से दो संस्कृतियों–भावात्मक एवं चेतनात्मक–का उल्लेख किया। प्रत्येक समाज संस्कृति की इन दो धुरियों के बीच घूमता रहता है अर्थात् चेतनात्मक से भावात्मक की ओर तथा भावात्मक से चेतनात्मक की ओर आता-जाता रहता है। एक स्थिति से दूसरी स्थिति में जाने के दौरान

मध्य में एक स्थिति ऐसी भी होती है जिसमें चेतनात्मक एवं भावात्मक संस्कृति का मिश्रण होता है। इसे सोरोकिन आदर्शात्मक संस्कृति कहते हैं। विभिन्न संस्कृतियों के दौर से गुजरने पर समाज में भी परिवर्तन आता है। इन तीनों प्रकार की संस्कृतियों की विशेषताओं का हम यहाँ संक्षेप में उल्लेख करेंगे :

नोट

(*i*) **चेतनात्मक संस्कृति (Sensate culture)**–चेतनात्मक संस्कृति को हम भौतिक संस्कृति भी कहते हैं। इस संस्कृति का सम्बन्ध मानव चेतना अथवा इन्द्रियों से होता है अर्थात् इसका ज्ञान हम देखकर, सूँघकर एवं छूकर कर सकते हैं। ऐसी संस्कृति में ऐन्द्रिक आवश्यकताओं व इच्छाओं की पूर्ति पर अधिक जोर दिया जाता है। इस संस्कृति में वैज्ञानिक आविष्कारों, प्रौद्योगिकी, भौतिक वस्तुओं एवं विलास की वस्तुओं का अधिक महत्त्व होता है। इसमें धर्म, नैतिकता, प्रथा, परम्परा एवं ईश्वर आदि को अधिक महत्त्व नहीं दिया जाता है। व्यक्ति एवं सामूहिक पक्ष भी चेतनात्मक संस्कृति के रंग में रंगे होते हैं। पश्चिमी समाज संस्कृति का उदाहरण है।

(*ii*) **भावात्मक संस्कृति (Ideational Culture)**–यह चेतनात्मक संस्कृति के बिल्कुल विपरीत होती है। इसका सम्बन्ध भावना, ईश्वर, धर्म, आत्मा व नैतिकता से होता है। यह संस्कृति आध्यात्मवादी संस्कृति कही जा सकती है। इसमें इन्द्रिय सुख के स्थान पर आध्यात्मिक उन्नति, मोक्ष एवं ईश्वर प्राप्ति को अधिक महत्त्व दिया जाता है। सभी वस्तुओं को ईश्वर कृपा का फल माना जाता है। विचार, आदर्श, कला, साहित्य, दर्शन एवं कानून सभी में धर्म एवं ईश्वर की प्रमुखता पायी जाती है, प्रथा और परम्परा पर अधिक बल दिया जाता है। इस संस्कृति में प्रौद्योगिकी एवं विज्ञान पिछड़ जाते हैं।

(*iii*) **आदर्शात्मक संस्कृति (Ideal Culture)**–यह संस्कृति चेतनात्मक एवं भावात्मक दोनों का मिश्रण होती है, अतः इसमें दोनों की विशेषताएँ पायी जाती हैं। इसमे धर्म एवं विज्ञान, भौतिक एवं आध्यात्मिक सुख दोनों का सन्तुलित रूप पाया जाता है। सोरोकिन इस प्रकार की संस्कृति को ही उत्तम मानते हैं। इसलिए इसे वे आदर्शात्मक संस्कृति कहते हैं।

सोरोकिन का मत है कि विश्व की सभी संस्कृतियाँ चेतनात्मक से भावात्मक के झूले में झूलती रहती हैं प्रत्येक संस्कृति अपनी चरम सीमा पर पहुँचकर पुनः दूसरे प्रकार की संस्कृति की ओर लौट जाती हैं। जैसा कि चित्र से प्रकट होता है कि चेतनात्मक एवं भावात्मक संस्कृतियाँ परिवर्तन की केवल सीमाएँ हैं, समाज में अधिकांश समय तो आदर्शवादी संस्कृति ही प्रचलित रहती हैं। संस्कृति में यह परिवर्तन क्यों होता है? इसका कारण सोरोकिन ने प्राकृतिक नियम एवं संस्कृति के आन्तरिक कारण माने हैं क्योंकि परिवर्तन प्रकृति का नियम है, अतः संस्कृति भी इसी नियम के कारण परिवर्तित होती है। इसके अतिरिक्त, संस्कृति की आन्तरिक परिस्थितियाँ भी उसमें परिवर्तन के लिए उत्तरदायी हैं। सोरोकिन ने कहा है कि बीसवीं सदी की पश्चिमी सभ्यता चेतनात्मक संस्कृति की चरम सीमा पर पहुँच गयी है अब वह पुनः भावात्मक संस्कृति की ओर लौट जायेगी। चूँकि संस्कृति का समाज से घनिष्ठ सम्बन्ध है, अतः जब संस्कृति में परिवर्तन होता है तो समाज में भी परिवर्तन आता है।

चित्र 2 सोरोकिन द्वारा प्रस्तुत सामाजिक परिवर्तन का क्रम

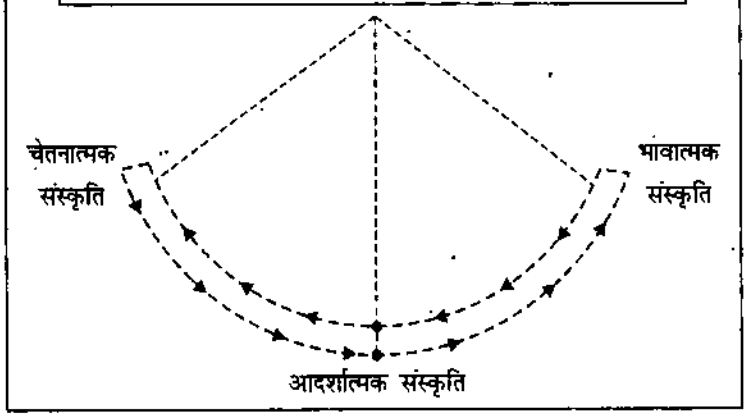

नोट

समालोचना–सोरोकिन ने अपने सिद्धान्त को वैज्ञानिक बनाने का प्रयत्न किया है, फिर भी उसमें कई कमियाँ हैं, जैसे– (*i*) संस्कृति को एक अवस्था से दूसरी अवस्था तक पहुँचने में इतना लम्बा समय लग जाता है कि इस आधार पर सामाजिक परिवर्तन की प्रकृति को प्रकट करना मुश्किल है (*ii*) ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर इस बात को सिद्ध करना सम्भव नहीं है कि सभी समाज एक प्रकार की संस्कृति से दूसरे प्रकार की संस्कृति के बीच परिवर्तन के दौर से गुजरते हैं। (*iii*) सोरोकिन सांस्कृतिक परिवर्तन के कारकों को भी स्पष्ट करने में असमर्थ रहे हैं। यह कह देना कि परिवर्तन प्राकृतिक कारणों से होते हैं एक वैज्ञानिक के लिए पर्याप्त नहीं है।

चक्रीय तथा रेखीय सिद्धान्तों में भेद (Distinction Between Cyclic and Linear Theories)

चक्रीय एवं रेखीय सिद्धान्तों के बीच पाये जाने वाले भेदों को हम इस प्रकार प्रकट कर सकते हैं :

1. चक्रीय सिद्धान्त के अनुसार परिवर्तन का एक चक्र चलता है। हम जहाँ से प्रारम्भ होते हैं, घूम-फिरकर पुनः उसी स्थिति में आ जाते हैं जबकि रेखीय सिद्धान्त यह विश्वास करता है कि परिवर्तन एक सीधी रेखा में होता है। हम क्रमशः आगे बढ़ते जाते हैं और जिस चरण को हम त्याग चुके होते हैं, पुनः वहाँ कभी नहीं लौटते हैं।
2. चक्रीय सिद्धान्त में परिवर्तन उच्चता से निम्नता और निम्नता से उच्चता की ओर होता है, किन्तु रेखीय सिद्धान्त यह विश्वास करता है कि परिवर्तन सदैव निम्नता से उच्चता की ओर तथा अपूर्णता से पूर्णता की ओर होता है।
3. चक्रीय सिद्धान्त के अनुसार परिवर्तन का चक्र तेज व मन्द दोनों ही हो सकता है जबकि रेखीय सिद्धान्त परिवर्तन की मन्द गति में विश्वास करता है।
4. रेखीय सिद्धान्त चक्रीय सिद्धान्त की अपेक्षा उद्विकासवादियों से अधिक प्रभावित है।
5. चक्रीय सिद्धान्तकारों ने परिवर्तन के चक्र को ऐतिहासिक एवं अनुभवसिद्ध प्रमाणों के आधार पर प्रकट करने का प्रयास किया है, जबकि रेखीय सिद्धान्तकारों ने रेखीय परिवर्तन को एक सैद्धान्तिक जामा पहनाया है।
6. रेखीय सिद्धान्तकार यह मानते हैं कि सामाजिक परिवर्तन मानवीय प्रयत्न व इच्छा से स्वतन्त्र है तथा ऐसे परिवर्तन स्वतः उत्पन्न होते हैं जबकि चक्रीय सिद्धान्तकार यह मानते हैं कि परिवर्तन का चक्र मानवीय प्रयत्नों एवं प्राकृतिक प्रभावों का परिणाम है।
7. रेखीय सिद्धान्तकार परिवर्तन के किसी एक प्रमुख कारण पर अधिक बल देते हैं, इस अर्थ में वे निर्धारणवादियों के अधिक निकट हैं जबकि चक्रीय सिद्धान्तकार परिवर्तन को अनेक कारकों का प्रतिफल मानते हैं, साथ ही कहते हैं कि परिवर्तन प्रकृति का नियम है। अतः यह स्वतः ही घटित होता रहता है।
8. रेखीय सिद्धान्तकार यह मानते हैं कि परिवर्तन के चरण एवं क्रम विश्व के सभी समाजों में एक समान ही रहते हैं; जैसे शिकारी अवस्था, पशुचारण अवस्था, कृषि अवस्था और औद्योगिक अवस्था सभी समाजों में आती हैं। दूसरी ओर चक्रीय सिद्धान्तकारों की मान्यता है कि विभिन्न सामाजिक संगठनों व संरचनाओं की सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया एवं प्रकृति में अन्तर पाया जाता है।

उपर्युक्त सिद्धान्तों के अतिरिक्त सामाजिक परिवर्तन के कुछ अन्य सिद्धान्त भी हैं जिनका हम यहाँ संक्षेप में उल्लेख करेंगे। **माल्थस ने सामाजिक परिवर्तन के लिए जनसंख्या वृद्धि का सिद्धांत प्रस्तुत किया।** उनका मत है कि मानव समाज में खाद्य-पदार्थों के उत्पादन की तुलना में जनसंख्या वृद्धि तीव्र गति से होती है। जनसंख्या वृद्धि ज्यामितिक प्रकार से अर्थात् 1, 2, 4, 8, 16, 32, 64, आदि के क्रम में होती है। इसकी तुलना में खाद्य-सामग्री की वृद्धि अंकगणितीय प्रकार से अर्थात् 1, 2, 3, 4, 5, 6, 7, आदि के क्रम में होती है। फलस्वरूप एक समय ऐसा आता है जब जनसंख्या के लिए खाद्य-पदार्थों का अभाव हो जाता है यदि बढ़ती जनसंख्या पर रोक नहीं लगायी जाती है तो किसी भी देश की जनसंख्या 25 वर्षों में दुगनी हो जाती है जब जनसंख्या बढ़ती है या घटती है तो समाज में परिवर्तन घटित होते हैं।

सैडलर ने भी जनसंख्या सम्बन्धी सिद्धान्त का समर्थन किया और जनसंख्या वृद्धि का सम्बन्ध मानव की सुख-समृद्धि एवं पारस्परिक सम्बन्धों से जोड़ा है। वे यह मानते हैं कि मानव के विकास के साथ-साथ उसकी सन्तानोत्पत्ति की क्षमता में कमी आयी है और सुख-समृद्धि में वृद्धि हुई है। ये सभी बातें सामाजिक परिवर्तन के लिए भी उत्तरदायी हैं। थॉमस ने सामाजिक परिवर्तन के लिए विभिन्न संस्कृतियों के मिश्रण एवं सात्मीकरण को उत्तरदायी माना है।

मैक्स वेबर ने अपनी पुस्तक 'दी प्रोटेस्टैण्ट एथिक एण्ड दी स्पिरिट ऑफ कैपिटलिज्म' में धर्म को ही सामाजिक परिवर्तन के लिए उत्तरदायी माना। उनका मत है जब यूरोप में रोमन केथोलिक धर्म था तो एक दूसरे प्रकार का समाज था, किन्तु जब प्रोटेस्टैण्ट धर्म आया तो आधुनिक पूंजीवादी समाज की नींव पड़ी। उन्होंने विश्व के छः महान् धर्मों (हिन्दू, ईसाई, इस्लाम, चीनी आदि) का अध्ययन करके बताया कि केवल प्रोटेस्टैण्ट धर्म में ही वे बातें मौजूद थीं जो आधुनिक पूंजीवाद को जन्म दे सकती थीं। उनका मत है कि प्रत्येक धर्म के आचरण के नियम पाये जाते हैं जो लोगों के विचारों एवं व्यवहारों को तय करते हैं। अतः जब धर्म बदलता है तो समाज में भी परिवर्तन आता है। धर्म को वे परिवर्तन लाने वाला 'चल' (Variable) मानते हैं। प्रोटेस्टैण्ट धर्म की आर्थिक आचार-संहिता में कुछ तत्व इस प्रकार बताये गये हैं : ईमानदारी सबसे अच्छी नीति है, एक पैसा बचाना एक पैसा कमाना है, समय ही धन है, पैसा पैसे को पैदा करता है, जल्दी सोना और जल्दी जागना मनुष्य को स्वस्थ, अमीर और बुद्धिमान बनाता है, कार्य ही पूजा है इत्यादि। इन सभी आचार नियमों ने प्रोटेस्टैण्ट मतावलम्बियों के जीवन एवं व्यवहार को प्रभावित किया और आधुनिक पूंजीवाद को जन्म दिया जिससे कि समाज-व्यवस्था ही बदल गयी। वेबर के सिद्धान्त की भी कई आलोचनाएं की जाती हैं। वे यह स्पष्ट नहीं कर सके कि स्वयं धर्म में परिवर्तन क्यों आता है।

ऑगबर्न ने अपनी पुस्तक 'Social Change' में 1922 **में सामाजिक परिवर्तन के 'सांस्कृतिक विलम्बना' नामक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।** उन्होंने संस्कृति को दो भागों में बांटा—भौतिक एवं अभौतिक संस्कृति। भौतिक संस्कृति के अन्तर्गत हम हजारों भौतिक वस्तुओं, जैसे वायुयान, रेल, पंखा, घड़ी, बर्तन, फर्नीचर, वस्त्र, पुस्तकें आदि को ले सकते हैं। अभौतिक संस्कृति में धर्म, कला, दर्शन, ज्ञान, विज्ञान, विश्वास, साहित्य आदि को गिन सकते हैं। **ऑगबर्न** की मान्यता है कि पिछले कुछ वर्षों में दोनों ही संस्कृतियों में बहुत विकास हुआ है। उनका मत है कि अभौतिक संस्कृति की तुलना में भौतिक संस्कृति तीव्र गति से बदलती है। इस कारण भौतिक संस्कृति आगे बढ़ जाती है और अभौतिक संस्कृति उससे पिछड़ जाती है। **भौतिक संस्कृति का आगे बढ़ जाना व अभौतिक संस्कृति का पीछे रह जाना ही 'सांस्कृतिक पिछड़न या सांस्कृतिक विलम्बन' कहलाता है।** यह दशा संस्कृति में असन्तुलन की दशा है। इस असन्तुलन को समाप्त करने के लिए सामंजस्य तथा अनुकूलन का प्रयत्न किया जाता है, इस दौरान समाज में भी परिवर्तन होते हैं। इसी प्रकार से जब इन दो संस्कृतियों में असन्तुलन पैदा होता है तो समाज पर भी उसका प्रभाव पड़ता है, उसमें भी परिवर्तन आते हैं। ऑगबर्न के इस सिद्धान्त की विस्तार में व्याख्या सामाजिक परिवर्तन के सांस्कृतिक कारकों के अन्तर्गत की गयी है।

2.5 उद्विकास का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Evolution)

सामाजिक परिवर्तन एक तटस्थ प्रक्रिया है। यह अच्छाई व बुराई को प्रकट नहीं करती। जब हम इसमें दिशा, परिवर्तन का क्रम, सामाजिक मूल्य, गुण एवं मात्रा, आदि का समावेश करते हैं तो परिवर्तन की अनेक प्रक्रियाओं की अवधारणाओं जैसे, वृद्धि, अनुकूलन, विकास, उद्विकास, प्रगति, अवनति, क्रान्ति आदि का बोध होता है। अनेक बार इन विभिन्न अवधारणाओं का प्रयोग समान अर्थों में किया जाता है। साधारण व्यक्ति ही नहीं, वरन् अनेक समाज-वैज्ञानिक भी इस प्रकार की भूल कर बैठे हैं और इनमें अन्तर करने में असमर्थ रहे हैं। समाजशास्त्र के जनक **ऑगस्ट कॉम्टे** भी उद्विकास, प्रगति और विकास में स्पष्ट भेद नहीं कर पाये थे। **हॉबहाउस** ने विकास और प्रगति का एक ही अर्थ में प्रयोग किया। हॉबहाउस जिस परिवर्तन को विकास की संज्ञा देते हैं, आधुनिक समाजशास्त्री उसे प्रगति कहते हैं। स्पेन्सर, लैस्टर वार्ड, मार्क्स तथा गिडिंग्स जैसे प्रसिद्ध समाजशास्त्रियों की रचनाओं

नोट

में भी इन शब्दों के प्रयोग में स्पष्टता नहीं आ पायी। इतना अवश्य है कि सामाजिक परिवर्तन की ये सभी प्रक्रियाएं तार्किक दृष्टि से एक-दूसरे से सम्बद्ध होते हुए भी भिन्न प्रकार की स्थिति की सूचक हैं।

समाजशास्त्र में उद्विकास की अवधारणा प्राणीशास्त्र से ग्रहण की गयी है। डार्विन ने जीवों की उत्पत्ति के बारे में अपना उद्विकासीय सिद्धान्त प्रतिपादित किया और कहा कि जीवों का उद्विकास सरलता से जटिलता तथा समानता से भिन्नता की ओर हुआ है। स्पेन्सर व मॉर्गन जैसे समाज-वैज्ञानिकों ने उद्विकासीय विचारों को समाज व संस्कृति पर भी लागू किया और कहा कि इनका जीवों की भांति उद्विकास हुआ है।

किसी भी वस्तु के बाहर की ओर फैलने को उद्विकास कहते हैं, किन्तु वैज्ञानिक दृष्टि से उद्विकास का यह अर्थ अपूर्ण है। वैज्ञानिक अर्थ में उद्विकास एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें एक सीधी-सादी सरल वस्तु या सावयव (organism) क्रमिक परिवर्तन के कारण जटिल रूप धारण कर लेता है। उदाहरण के लिए, एक बीज का अंकुरित होकर वृक्ष का रूप धारण कर लेना या एक कोष्ठ (cell) का मानव शिशु के रूप में परिवर्तित हो जाना उद्विकास है। इस प्रकार जब किसी वस्तु के गुण, ढांचे व कार्य में एक निश्चित दिशा की ओर निरन्तर परिवर्तन हो तो उसे हम उद्विकास कहेंगे। उद्विकास को हम एक सूत्र द्वारा इस प्रकार प्रकट कर सकते हैं :

उद्विकास = निरन्तर परिवर्तन + निश्चित दिशा + रूपात्मक अन्तर + ढांचे व कार्य में भिन्नता।

उद्विकास के अर्थ को स्पष्ट करते हुए स्पेन्सर लिखते हैं, "उद्विकास कुछ तत्वों का एकीकरण तथा उससे सम्बन्धित वह गति है जिसके दौरान कोई तत्व एक अनिश्चित तथा असम्बद्ध समानता से निश्चित और सम्बद्ध भिन्नता में बदल जाता है।" इस प्रकार उद्विकास में किसी वस्तु में परिवर्तन समता से विषमता की ओर होता है, इससे वस्तु की जटिलता में वृद्धि होती है।

मैकाइवर एवं **पेज** लिखते हैं, "जब परिवर्तन में निरन्तरता ही नहीं होती वरन् परिवर्तन की एक दिशा भी होती है, तो ऐसे परिवर्तन से हमारा तात्पर्य उद्विकास से होता है।" मैकाइवर ने उद्विकास को आन्तरिक शक्तियों द्वारा होने वाला परिवर्तन कहा है। **ऑगबर्न** एवं **निमकॉफ** ने भी उद्विकास को 'एक निश्चित दिशा में होने वाला परिवर्तन' माना है।

इन परिभाषाओं से स्पष्ट है कि **उद्विकास किसी एक विशेष दिशा में होने वाला वह परिवर्तन है जो वस्तु की आन्तरिक शक्तियों के परिणामस्वरूप पैदा होता है तथा इससे वस्तु की जटिलता में वृद्धि होती है।**

2.6 उद्विकास की विशेषताएँ (Characteristics of Evolution)

उद्विकास की अवधारणा को उसकी विशेषताओं के आधार पर और अधिक स्पष्ट किया जा सकता है :

(1) **उद्विकास सदैव सरलता से जटिलता की ओर होता है**—प्रारम्भ में किसी वस्तु या प्राणी के अंग घुले-मिले एवं धुंधले होते हैं, धीरे-धीरे उनमें अन्तर स्पष्ट होने लगता है, वे पृथक् हो जाते हैं तथा उनका स्वरूप भी निश्चित हो जाता है। उदाहरण के लिए, प्रारम्भ में भ्रूण एक मांस का पिण्ड होता है, धीरे-धीरे उसके हाथ, पांव, नाक, कान, आँख आदि दिखायी देने लगते हैं।

(2) **उद्विकास निरन्तर एवं धीमी गति से परिवर्तन की एक प्रक्रिया है**—उद्विकास में परिवर्तन निरन्तर होता है, किन्तु यह इतनी धीमी गति से होता है कि परिवर्तन को देख पाना सम्भव नहीं होता।

(3) **उद्विकास विभेदीकरण की एक प्रक्रिया है**—उद्विकास के दौरान जीव अथवा समाज के विभिन्न अंगों में विभिन्नता पैदा होती है। वस्तु के अंग या शाखाएं धीरे-धीरे स्पष्ट एवं पृथक् होती जाती हैं।

(4) **उद्विकास एक सार्वभौमिक प्रक्रिया है**, अर्थात् यह सभी स्थानों व कालों में पायी जाती है।

(5) **उद्विकास एक निश्चित दिशा में होने वाला परिवर्तन है**—यद्यपि यह निश्चित नहीं होता कि यह दिशा क्या होगी।

(6) **उद्विकास वस्तु की आन्तरिक वृद्धि के कारण होता है।**

(7) **उद्विकास के दौरान वस्तु अथवा समाज में गुणात्मक परिवर्तन होता है** न कि संख्यात्मक।

(8) **उद्विकास एक मूल्य-रहित प्रक्रिया है**, अर्थात् प्रगति की तरह इसका सम्बन्ध अच्छाई-बुराई से नहीं होता।

(9) **उद्विकास कुछ निश्चित चरणों एवं क्रम में होने वाला परिवर्तन है**–अर्थात् प्रथम चरण के बाद द्वितीय एवं द्वितीय के बाद तृतीय चरण आता है। ऐसा नहीं हो सकता कि प्रथम के बाद तृतीय और फिर द्वितीय चरण आये। उदाहरण के रूप में, एक बच्चा पहले युवा होगा फिर वृद्ध न कि पहले वृद्ध और फिर युवा।

(10) **उद्विकास के चरणों की पुनरावृत्ति नहीं होती है**–जिस चरण को छोड़ दिया गया है, पुन: उसे प्राप्त नहीं किया जा सकता, जैसे एक बालक युवा होने के बाद पुन: बालक की अवस्था प्राप्त नहीं कर सकता।

2.7 डार्विन का उद्विकासीय सिद्धांत (Darwin's Theory of Evolution)

सामाजिक उद्विकास का सिद्धांत डार्विन के उद्विकासवाद पर आधारित है। अत: डार्विन के उद्विकासीय विचारों को जान लेना आवश्यक है। अब तक यह धारणा चली आ रही थी कि पेड़, पौधों एवं जीव-जन्तुओं की सृष्टि ईश्वर ने की है, किन्तु डार्विन ने अपने लम्बे समय के अध्ययन के बाद यह निष्कर्ष दिया कि प्राणियों का उद्विकास सरलता से जटिलता एवं समानता से भिन्नता की ओर हुआ है। प्रारम्भ में पृथ्वी पर कोई जीव नहीं था। विभिन्न रासायनिक क्रियाओं के कारण जीव का जन्म हुआ। प्रारम्भ में जीव एककोशिय थे। धीरे-धीरे उनकी शरीर रचना में परिवर्तन हुआ, उनमें भिन्नता आती गयी और विभिन्न अंग पृथक् हुए।

डार्विन का मत है कि प्रारम्भ में जीव सरल कोटि का होता है, उसके विभिन्न अंग इतने घुले-मिले होते हैं कि उन्हें स्पष्टता से न तो पहचाना जा सकता है और न ही पृथक् किया जा सकता है। विभिन्न अंगों में अनश्चित सम्बद्धता होती है, किन्तु धीरे-धीरे इनमें परिवर्तन होने लगता है, उसके विभिन्न अंग स्पष्ट एवं अलग होने लगते हैं तथा उसके स्वरूप में भी स्पष्टता आने लगती है। उदाहरण के लिए, एक बीज प्रारम्भ में सरल व अस्पष्ट रूप लिये हुए होता है। धीरे-धीरे उसमें परिवर्तन होता है और जड़, तना तथा पत्तियां पृथक् व स्पष्ट होने लगते हैं। इसी प्रकार से प्रारम्भ में एक भ्रूण मांस का एक पिण्ड होता है, धीरे-धीरे उसमें हाथ, पांव, नाक, कान, आंख, सिर, आदि पृथक् व स्पष्ट दिखायी देने लगते हैं। उद्विकास का यह प्रथम चरण है जिसमें सरलता, अस्पष्टता एवं अभिन्नता धीरे-धीरे जटिलता, स्पष्टता एवं सम्बद्धता में बदल जाती हैं। जीव के उद्विकास के दूसरे चरण में विभिन्न अंग अलग-अलग कार्य करने लगते हैं, उनमें श्रम-विभाजन पैदा हो जाता है, जैसे, जड़ें भोजन प्राप्त करने, तना पेड़ को खड़ा रखने एवं पत्तियां हवा व धूप ग्रहण करने का कार्य करती हैं। प्राणियों के विभिन्न अंग जैसे, हाथ, पांव, नाक, कान, आंख अपने-अपने निर्धारित कार्य करने लगते हैं। अंगों के पृथक् व स्पष्ट होने पर भी उनमें परस्पर-निर्भरता एवं सम्बद्धता बनी रहती है। एक अंग पर पड़ने वाला प्रभाव दूसरे को भी प्रभावित करता है, जैसे–पेट खराब होने पर उसका असर दूसरे अंगों पर भी पड़ता है। उद्विकास की यह प्रक्रिया निरन्तर एवं धीमी गति से विभिन्न चरणों में होती है। अत: नया रूप सामने आने पर भी परिवर्तन ज्ञात हो पाता है। उद्विकास के दौरान वस्तु के आन्तरिक गुणों में भी परिवर्तन आ जाता है।

2.8 सामाजिक उद्विकास (Social Evolution)

डार्विन के उद्विकासीय सिद्धान्त को समाज पर लागू करने का श्रेय अंग्रेज समाजशास्त्री **हरबर्ट स्पेन्सर** को है। उन्होंने अपनी पुस्तक *"Principles of Sociology"* में समाज और सावयव में समानता स्थापित कर सामाजिक उद्विकास की अवधारणा का निरूपण किया। स्पेन्सर का मत है कि जिस प्रकार से जीवों का विकास समानता से भिन्नता व सरलता से जटिलता की ओर हुआ है, उसी प्रकार से समाज का विकास भी सरलता व समानता से जटिलता व भिन्नता की ओर हुआ है। प्रारम्भिक समाजों में विभिन्न अंग अस्पष्ट थे और उनके कार्य घुले-मिले हुए थे। यह स्थिति अनिश्चितता की थी, किन्तु धीरे-धीरे समाज में परिवर्तन हुआ, समाज के विभिन्न संगठन

नोट

एवं संस्थाएं पृथक्-पृथक् दिखायी देने लगीं, उनमें कार्य-विभाजन पैदा हुआ और विशेषीकरण पनपा। उदाहरण के लिए, प्रारम्भ में सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक कार्य किसी एक ही संगठन व संस्था से सम्बद्ध थे। धीरे-धीरे इन कार्यों को करने वाले अलग-अलग संगठन व संस्थाएं बनीं। इससे समाज में जटिलता व भिन्नता की वृद्धि हुई, साथ ही विभिन्न संस्थाओं की पारस्परिक-निर्भरता भी बढ़ी। **स्पेन्सर** लिखते हैं, "प्रारम्भ में कोई सामाजिक संगठन अस्पष्ट होता है। धीरे-धीरे उसमें विकास अधिक स्पष्ट होता चला जाता है। प्रथाओं में स्थायित्व आ जाने से वे कानून का रूप धारण कर लेती हैं। इसी प्रकार से समूह की सामाजिक संस्थाएं प्रारम्भ में एक-दूसरे से मिली हुई-सी लगती हैं, किन्तु कालान्तर में वे एक-दूसरे से अलग होकर स्पष्ट दिखायी देने लगती हैं।" आदिम समाजों में हमें विभिन्न संस्थाओं का अभाव दिखायी देता है और उनमें प्रकार्यात्मक विभेदीकरण भी नहीं होता है, किन्तु जब नवीन परिवर्तनों के कारण उनमें श्रम-विभाजन और विशेषीकरण पनपता है तो वह औद्योगिक एवं जटिल समाज में परिवर्तित हो-जाता है जिसमें अनेक भिन्नताएं पैदा हो जाती हैं, किन्तु जटिल समाज की विभिन्न संस्थाओं और संगठनों में पारस्परिक-निर्भरता भी पायी जाती हैं क्योंकि एक संगठन एक ही प्रकार का कार्य कर पाता है, अत: अन्य कार्यों के लिए दूसरे संगठनों पर निर्भर होना पड़ता है। उद्विकास की यह प्रक्रिया धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक, पारिवारिक एवं सामाजिक, सांस्कृतिक सभी क्षेत्रों में दिखायी देती है। हम यहां समाज व संस्कृति के क्षेत्र में सामाजिक उद्विकास का उल्लेख करेंगे।

2.9 समाज और संस्कृति का उद्विकास (Evolution of Society and Culture)

मार्गन (Morgan) ने मानव समाज के उद्विकास के तीन स्तर—जंगली अवस्था, बर्बर अवस्था तथा सभ्यता की अवस्था—मानते हैं तथा प्रत्येक स्तर को निम्न, मध्य एवं उच्च स्तरों में बांटा है। हम यहां मॉर्गन द्वारा बताये गये सामाजिक उद्विकास के विभिन्न स्तरों का उल्लेख करेंगे :

1. **जंगली अवस्था (Savage Stage)**—मानव के सामाजिक जीवन की यह प्रथम अवस्था थी। इस समय मानव का जीवन संघर्षपूर्ण एवं कष्टमय था। मानव इतिहास में यह काल सबसे लम्बा था। सामाजिक परिवर्तन एवं दशाओं की दृष्टि से इस काल को मॉर्गन ने निम्नांकित तीन उप-भागों में बांटा है :

   (अ) **जंगली अवस्था का निम्न स्तर**—इस अवस्था में मानव भोजन एवं निवास की खोज में घुमक्कड़ जीवन व्यतीत करता था। वह कन्दमूल-फल तथा कच्चा मांस खाता था और पत्तों व छालों से तन ढकता था। इस समय उसे यौन सम्बध स्थापित करने की पूर्ण स्वच्छन्दता थी, मानव पेड़ों पर व गुफाओं में रात्रि व्यतीत करता था। मानव का यह जीवन किसी भी दृष्टि से पशुओं से श्रेष्ठ नहीं कहा जा सकता।

   (ब) **जंगली अवस्था का मध्य स्तर**—इस अवस्था का आरम्भ आग जलाने व मछली मारने की कला के साथ प्रारम्भ हुआ। अब मानव मांस को भूनकर खाने लगा था। इसी समय मनुष्य ने सामूहिक जीवन प्रारम्भ किया और छोटे-छोटे झुण्ड बनाकर रहने लगा। मॉर्गन ने ऑस्ट्रेलिया व पोलेनिशिया की कुछ जनजातियों का उदाहरण देकर इस स्तर को स्पष्ट किया है।

   (स) **जंगली अवस्था का उच्च स्तर**—इस अवस्था का प्रारम्भ उस समय हुआ जब मानव ने तीर व धनुष का आविष्कार किया। इस अवस्था में मानव ने पारिवारिक जीवन की नींव रखी, किन्तु परिवार के सदस्यों में परस्पर यौन सम्बन्ध स्थापित करने के कोई निश्चित नियम नहीं थे। इस युग में मानव समूह परस्पर सामूहिक रूप से संघर्ष भी करने लगे। मानव ने पत्थर के हथियार एवं औजारों का भी इस अवस्था में निर्माण कर लिया था।

2. **बर्बर अवस्था (Barbarian Stage)**—इस अवस्था में मानव का सामाजिक जीवन पहले की अपेक्षा अधिक उन्नत था। इसके भी निम्नांकित तीन उप-स्तर हैं :

   (अ) **बर्बर अवस्था का निम्न स्तर**—इस अवस्था में मानव ने बर्तनों का निर्माण करना जान लिया था। अब मानव का जीवन पहले की अपेक्षा अधिक स्थिर था यद्यपि झुण्ड अब भी घुमन्तु जीवन ही व्यतीत करते थे। इस अवस्था में सम्पत्ति की अवधारणा का उदय हुआ। एक समूह हथियार, स्त्रियां

तथा बर्तन प्राप्त करने के लिए दूसरे समूह पर आक्रमण करता था। परिवार का स्वरूप कुछ स्पष्ट हुआ, किन्तु यौन सम्बन्धों की स्वतन्त्रता के कारण पितृत्व का निर्धारण अब भी कठिन था।

नोट

(ब) **बर्बर अवस्था का मध्य स्तर**–इस अवस्था में मानव ने पशुपालन एवं कृषि कार्य प्रारम्भ किया। पशुओं को लेकर चारे की खोज में मानव इधर-उधर भटकता फिरता था। कुछ लोगों ने बीज बोकर पेड़ उगाना भी सीख लिया था, वे अब स्थिर निवास बनाकर कृषि करने लगे थे। इस समय व्यक्तिगत सम्पत्ति की धारणा पनपी और सामाजिक स्थिति का निर्धारण सम्पत्ति के आधार पर भी होने लगा था। इसी समय वस्तु-विनिमय भी होने लगा। यौन सम्बन्धों में निश्चितता आने के कारण परिवार का स्वरूप भी स्पष्ट होने लगा था। परिवार में स्त्रियों की स्थिति महत्त्वपूर्ण हो गयी थी।

(स) **बर्बर अवस्था का उच्च स्तर**–इस अवस्था में मानव ने लोहे को गलाकर उससे औजार बनाना प्रारम्भ कर दिया था। उसने लोहे के अनेक नोंकदार एवं तीखे हथियार तथा औजारों का निर्माण किया। इस अवस्था में यौन भेद पर आधारित स्त्री-पुरुषों के बीच श्रम-विभाजन पनपा। स्त्रियां घरेलू कार्य एवं पुरुष बाह्य कार्य करते थे। इस समय स्त्रियों को सम्पत्ति मान लिया गया था। छोटे-छोटे गणराज्यों की स्थापना भी इसी युग में हुई। धातुओं के प्रयोग के कारण ही इस युग को 'धातु युग' के नाम से भी पुकारा जाता है।

3. **सभ्यता की अवस्था (Civilised Stage)**—सामाजिक विकास का यह अन्तिम चरण है। इसके भी निम्नांकित तीन उप-स्तर हैं :

(अ) **सभ्यता की निम्न अवस्था**–इस अवस्था का प्रारम्भ लेखन कार्य से हुआ। भाषा के प्रयोग एवं पढ़ने-लिखने के कारण संस्कृति का संचारण सरल हो गया। इस अवस्था में यौन सम्बन्धों का नियमन होने के कारण पारिवारिक जीवन स्थिर व स्पष्ट हो गया था। इसी समय नगर बसाये गये। नगरीय सभ्यता का उदय, व्यापार एवं वाणिज्य का विस्तार, कला व शिल्पकला का विस्तार इस अवस्था की प्रमुख विशेषताएं हैं।

(ब) **सभ्य अवस्था का मध्यम स्तर**–इस युग में सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक संगठनों में व्यवस्था आयी। इसी समय श्रम-विभाजन एवं विशेषीकरण पनपा, राज्य के कार्यक्षेत्र का विकास हुआ, सरकार एवं कानून का विस्तार हुआ तथा मानव जीवन में सुरक्षा बढ़ी।

(स) **सभ्यता का उच्च स्तर**–मॉर्गन इस स्तर का प्रारम्भ 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध से मानते हैं जब औद्योगीकरण के कारण आधुनिक जटिल एवं नगरीय सभ्यता का उदय हुआ। इस युग में मशीनों की सहायता से बड़े पैमाने पर उत्पादन होने लगा, सम्पत्ति का संचय बढ़ा, श्रम-विभाजन एवं विशेषीकरण का विस्तार हुआ। व्यक्तिगत सम्पत्ति की भावना व एकाधिकार ने पूंजीवादी व्यवस्था को जन्म दिया। वर्ग-संघर्ष ने जोर पकड़ा, साम्यवादी विचारों ने जन्म लिया और सम्पत्ति के समान वितरण पर बल दिया गया। प्रजातन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था को व्यापक समर्थन मिला। राज्य को एक कल्याणकारी संस्था के रूप में स्वीकार किया गया। राज्य के अधिकारों में वृद्धि हुई, नागरिकों की सुख-सुविधा की व्यवस्था करना राज्य का कर्त्तव्य माना गया। इस युग में अनेक भौतिक व अभौतिक आविष्कार हुए तथा कला, धर्म, दर्शन, ज्ञान, विज्ञान सभी में अभूतपूर्व प्रगति हुई। मानव ने अन्तरिक्ष में प्रवेश किया और आज भी वह प्रगति के पथ पर अग्रसर है।

2.10 आर्थिक जीवन का उद्विकास (Evolution of Economic Life)

मानव के आर्थिक जीवन का उद्विकास निम्नांकित चार स्तरों से हुआ है :

1. **शिकार करने व भोजन एकत्रित करने का स्तर** (Hunting and food gathering stage)—मानव आर्थिक जीवन के प्रारम्भिक स्तर में शिकार करके, मछली मारकर तथा जंगलों से कन्दमूल, फल, पत्ते, शाक, सब्जियां, जड़ें व छालें, आदि एकत्रित कर अपना जीवनयापन करता था। पेट भरने के लिए वह

नोट

भोजन की तलाश में विभिन्न स्थानों पर भटकता फिरता था। यह जीवन सामाजिक व आर्थिक दृष्टि से बहुत अनिश्चित था।

2. **चारागाह स्तर** (Pastoral stage)—मानव ने जब देखा कि पशुओं को मारने के बजाय यदि उनका पालन-पोषण किया जाए तो वह जीवनयापन के लिए अधिक साधन प्राप्त कर सकता है, अतः उसने पशुओं को पालना शुरू किया। वह पशुओं से प्राप्त दूध, मांस, खाल, बाल, ऊन व हड्डियों से अपना जीवनयापन करने लगा। पशुओं से वह बोझा ढोने व सवारी का काम भी लेने लगा। मानव के जीवन में इस समय कुछ स्थिरता आयी क्योंकि जब तक एक स्थान पर चारे व पानी की व्यवस्था होती, वह वहीं रहता, घास समाप्त होने पर अन्यत्र चला जाता।
3. **कृषि स्तर** (Agriculture stage)—इस व्यवस्था में मानव ने बीज बोकर पेड़ उगाना व कृषि कार्य प्रारम्भ कर दिया था। वह फल-फूल व सब्जियां पैदा करने व बाग लगाने लग गया था। चूंकि कृषि के लिए एक स्थान पर लम्बे समय तक रहना होता है, अतः इस समय मानव के जीवन में स्थिरता आयी और वह झोंपड़े तथा गांव बनाकर रहने लगा। भूमि को सम्पत्ति माना गया तथा इस समय वस्तु-विनिमय की प्रथा का भी प्रचलन हुआ।
4. **प्रौद्योगिक स्तर** (Technological stage)—इस युग में मानव ने मशीनों एवं विज्ञान के सहारे उत्पादन के अनेक यन्त्रों का निर्माण किया। उत्पादन में मानव व पशु शक्ति के स्थान पर जड़-शक्ति (कोयला, पेट्रोल, बिजली) का प्रयोग प्रारम्भ हुआ और उत्पादन बड़े पैमाने पर तीव्र गति से होने लगा। बड़े-बड़े कारखानों व फैक्टरियों की नींव रखी गयी। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एवं आर्थिक सहयोग बढ़ा। वर्तमान में हम इसी अवस्था में हैं।

2.11 पारिवारिक जीवन का उद्विकास (Evolution of Family Life)

बैकोफन तथा **मॉर्गन** ने परिवार के उद्विकासीय क्रम को प्रस्तुत किया। बैकोफन का मत है कि प्राथमिक अवस्था में पारिवारिक जीवन अनिश्चित एवं शिथिल था, उस समय कामाचार की स्थिति थी, अतः पितृत्व अनिश्चित था। धीरे-धीरे इस अवस्था में परिवर्तन आया और बहुपति-विवाही परिवारों की स्थापना हुई। जब जीवनयापन के साधनों में वृद्धि हुई तो बहुपत्नी-विवाही परिवारों का उदय हुआ। सभ्यता व संस्कृति के विकास के साथ-साथ विवाह एवं परिवार से सम्बन्धित विचारों में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए, स्त्री-पुरुष के समान अधिकारों की धारणा विकसित हुई तथा एक-विवाही परिवारों की स्थापना हुई। लुईस मॉर्गन ने परिवार के उद्विकास के निम्नांकित पांच स्तरों का उल्लेख किया है :

1. **समरक्त परिवार** (Consanguine Family)—प्रारम्भिक अवस्था में यौन सम्बन्ध स्थापित करने के कोई नियम नहीं थे, यहां तक कि भाई-बहिनों में भी परस्पर यौन-सम्बन्ध हो जाते थे। इसलिए ऐसे परिवारों को समरक्त परिवार कहा गया।
2. **समूह परिवार** (Punaluan Family)—इस प्रकार के परिवार में एक परिवार के सभी भाइयों का विवाह दूसरे परिवार की सभी बहिनों से होता था। इसमें प्रत्येक व्यक्ति सभी स्त्रियों का पति था तथा प्रत्येक स्त्री सभी पुरुषों की पत्नी।
3. **सिण्डेस्मियन परिवार** (Syndasmian Family)—इस प्रकार के परिवार में एक व्यक्ति का विवाह एक स्त्री से होता था, परन्तु वह परिवार में विवाहित सभी स्त्रियों से यौन-सम्बन्ध रख सकता था।
4. **पितृसत्तात्मक परिवार** (Patriarchal Family)—इस अवस्था में परिवार पर पुरुष का आधिपत्य था। वह एक से अधिक पत्नियाँ रख सकता था। स्त्री की तुलना में उसके अधिकार अधिक थे।
5. **एक-विवाही परिवार** (Monogamous Family)—उद्विकासीय क्रम में यह अन्तिम स्तर है जो वर्तमान में अधिकांश समाजों में चल रहा है। इसमें एक पुरुष एक समय में एक ही स्त्री से विवाह करता है। यह स्त्री-पुरुष की समानता पर आधारित है।

कला का उद्विकास (Evolution of Art)

एच. सी. हेड्डन ने कला का उद्विकास प्राकृतिक, प्रतीकात्मक व ज्यामितिक स्तर से माना है। प्रारम्भ में मानव प्राकृतिक दृश्यों को ज्यों-का-त्यों चित्रित करता था फिर उसने प्रतीकों के माध्यम से वस्तुओं को चित्रित किया और उसके बाद रेखाओं के माध्यम से कला का प्रदर्शन किया।

धर्म का उद्विकास (Evolution of Religion)

टायलर ने धर्म का उद्विकास बहुदेववाद से एकदेववाद की ओर माना है। प्रारम्भ में मानव ने प्रत्येक प्राकृतिक शक्ति के पीछे एक देवता की कल्पना की, इससे बहुदेववाद का जन्म हुआ और कई देवी-देवताओं की पूजा व आराधना की जाने लगी। आज यह धारणा प्रचलित है कि ईश्वर एक ही है, उसके नाम व स्वरूप अलग-अलग हैं।

2.12 सामाजिक उद्विकास की वास्तविकता (समालोचना) [Reality (Criticism) of Social Evolution]

उद्विकासवादियों ने सामाजिक उद्विकास को क्रमबद्ध रूप में प्रस्तुत किया है, किन्तु अनेक विद्वानों ने इसकी आलोचना की है :

1. **उद्विकासवादियों का यह कहना सत्य नहीं है कि सभी समाजों का उद्विकास एक ही प्रक्रिया द्वारा हुआ है।** सभी समाजों पर एक-सा नियम लागू करना ठीक नहीं है। प्रत्येक समाज अलग-अलग परिस्थितियों की देन होता है। अत: समाजों का उद्विकास एक ही प्रक्रिया से मानना तर्कसंगत नहीं है।
2. उद्विकासवादियों ने प्रत्येक समाज के उद्विकास के समान स्तर माने हैं जो कि सही नहीं है। यह भी हो सकता है कि किसी समाज में कोई चरण पहले व कोई बाद में या दो स्तर साथ-साथ भी चल सकते हैं।
3. **गोल्डन वीजर** का मत है कि उद्विकासवादियों ने प्रसार के महत्त्व को भुला दिया है।
4. उद्विकासवादियों ने आविष्कार के महत्त्व को भुला दिया है, सामाजिक उद्विकास स्वत: कम ही होता है आविष्कार उसे गति प्रदान करते हैं।
5. **मैकाइवर** एवं **पेज** का मत है कि समाज का उद्विकास जीवों की भाँति नहीं होता है। सामाजिक उद्विकास में मानव का प्रयत्न महत्त्वपूर्ण होता है जबकि जीवों के उद्विकास में प्राकृतिक शक्तियां ही सब कुछ होती हैं।
6. **गिन्सबर्ग** का मत है कि यह धारणा कि उद्विकास एक सरल स्थिति से जटिल स्थिति की ओर होने वाला परिवर्तन है, एक गम्भीर विवाद का विषय है क्योंकि यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक परिवर्तन के साथ सामाजिक जीवन जटिल होगा ही। मानव अपने ज्ञान एवं विज्ञान के सहारे जटिलता को सरल बनाने का प्रयत्न करता है।
7. उद्विकासवादियों की अध्ययन पद्धति भी दोषपूर्ण है, वे आरामतलब वैज्ञानिक थे। प्रत्यक्ष अवलोकन के स्थान पर उन्होंने अनुमान एवं यात्रियों के वर्णन को ही सही माना।
8. उद्विकास आन्तरिक शक्तियों के कारण होता है, किन्तु वे आन्तरिक शक्तियां कौन-सी हैं, जो इसके लिए उत्तरदायी हैं, उन शक्तियों का उल्लेख उद्विकासवादियों ने नहीं किया।
9. **नाडेल** का मत है कि उद्विकास उन अवधारणाओं में से है जिनको प्रयोग द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता। उद्विकास के कोई स्पष्ट नियम नहीं हैं।
10. **ऑगबर्न** उद्विकास की अवधारणा को अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं मानते। वे लिखते हैं, "उद्विकास ने वंशानुक्रम के नियम की उपलब्धि के प्रयास, सामाजिक संस्थाओं के विकास एवं परिवर्तन तथा चयन में थोड़े-से सार्थक और महत्त्वपूर्ण परिणाम प्रस्तुत किये हैं।"

उपर्युक्त कमियों के बावजूद भी उद्विकास की अवधारणा ने समाज एवं संस्कृति में होने वाले परिवर्तनों का अध्ययन करने में महत्त्वपूर्ण योग दिया है। **मैकाइवर** कहते हैं, "विभिन्न अवस्थाओं को एक-दूसरे से पृथक् करने

नोट

में इस सिद्धान्त ने महत्त्वपूर्ण योग दिया है।" यह सिद्धान्त यह भी स्पष्ट करता है कि समाज कोई आकस्मिक घटना नहीं है, वरन् यह लम्बे एवं क्रमिक उद्विकास का परिणाम है। किन्तु समकालीन समाज-वैज्ञानिकों ने सामाजिक परिवर्तनों का अध्ययन उद्विकासीय ढंग से करना लगभग त्याग दिया है। इसमें एक कठिनाई ऐतिहासिक प्रमाण जुटाने की भी है।

2.13 सामाजिक उद्विकास के कारक (Factors of Social Evolution)

ऑगबर्न ने सामाजिक उद्विकास के निम्नांकित चार कारकों का उल्लेख किया है–

1. **आविष्कार** (Invention)—समाज में सर्वाधिक परिवर्तन आविष्कार के कारक से होते हैं। आविष्कार मानसिक योग्यता, मांग और अन्य सांस्कृतिक तत्वों पर आधारित होते हैं। इन तीनों की उपलब्धि जितनी अधिक होगी, उस समाज में उतने ही अधिक आविष्कार होंगे और वे परिवर्तन भी उत्पन्न करेंगे।
2. **संचय** (Accumulation)—किसी संस्कृति के तत्वों का ज्यों-ज्यों संचय बढ़ता जाता है, वह समृद्ध होती जाती है तथा इससे आविष्कार के अवसर भी बढ़ जाते हैं।
3. **प्रसार** (Diffusion)—एक समाज द्वारा किये गये आविष्कार का प्रसार जब दूसरे समाज में भी होता है तो सामाजिक विकास एवं परिवर्तन व्यापक एवं शीघ्र होते हैं।
4. **सामंजस्य** (Adjustment)—विभिन्न समाजों में तथा अपने ही समाज में विभिन्न संगठनों, समूहों एवं संस्थाओं के बीच सामंजस्य बढ़ने पर भी परिवर्तन शीघ्र आते हैं क्योंकि एक अंग में परिवर्तन दूसरे में परिवर्तन पैदा करता है।

2.14 उद्विकास के स्वरूप (Forms of Evolution)

उद्विकासवादियों ने उद्विकास के तीन प्रमुख स्वरूपों का उल्लेख किया है–समरेखीय, बहुरेखीय तथा चक्रीय या पैराबोलिक।

1. **समरेखीय उद्विकास** (Unilinear Evolution)—प्रारम्भिक उद्विकासवादियों की मान्यता थी कि समाज का उद्विकास एक सीधी रेखा में एक निश्चित क्रम से हुआ है। विश्व के सभी समाज और संस्कृतियां कुछ निश्चित स्तरों से होकर गुजरती हैं और उनमें विकास का एक ही नियम रहा है। विभिन्न स्थानों पर समान रूप से उद्विकास का कारण मानव की मानसिक एकता (Psychic Unity of Mankind) है। इसका अर्थ है–यदि मनुष्यों को समान पर्यावरण मिले तो वे समान रूप से सोचेंगे। यही कारण है कि विभिन्न स्थानों पर समान आविष्कार (Parallel invention) हुए हैं। समरेखीय उद्विकास को मानने वाले विद्वानों में मॉर्गन, कॉम्ट, बैकोफन, टायलर, डेड्डन, लेविब्रुहल, आदि प्रमुख हैं। समरेखीय उद्विकासवादी समाज, संस्कृति, धर्म, आर्थिक जीवन, परिवार, विवाह, कला एवं भाषा, आदि के विकास के कुछ निश्चित स्तरों व क्रम का उल्लेख करते हैं। उदाहरण के लिए, मॉर्गन समाज का विकास जंगली अवस्था, बर्बर अवस्था व सभ्य अवस्था से मानते हैं। मॉर्गन ने परिवार के उद्विकास के पांच स्तरों–समरक्त परिवार, समूह परिवार, सिंडेस्मियन परिवार, पितृसत्तात्मक परिवार तथा एक-विवाही परिवार का उल्लेख किया है। टायलर धर्म का उद्विकास बहुदेववाद से एकदेववाद की ओर मानते हैं। आर्थिक जीवन का विकास शिकारी, पशुपालन, कृषि एवं प्रौद्योगिक अवस्थाओं से हुआ है। कला का उद्विकास प्राकृतिक, प्रतीकात्मक एवं ज्यामितीय स्तरों से हुआ है। कोई भी समाज या संस्कृति उद्विकास के किस स्तर पर है, इसका मूल्यांकन इस आधार पर किया जाना चाहिए कि वे किस अवस्था को पार कर चुके हैं?
2. **बहुरेखीय उद्विकास** (Multilinear Evolution)—**जूलियन स्टीवर्ड** ने उद्विकास के समरेखीय सिद्धान्त के स्थान पर बहुरेखीय सिद्धान्त प्रस्तुत किया। उनकी मान्यता है कि विश्व के सभी समाज और संस्कृतियां उद्विकास के समान स्तरों से नहीं गुजरे हैं वरन् भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न क्रम रहा है। **स्टीवर्ड** ने पेरू, मेसो अमरीका, मेसोपोटामिया, मिस्र और चीन की संस्कृतियों और समाजों का अध्ययन करने पर बताया कि ये सभी विभिन्न क्रमों से उद्विकसित होकर समान अवस्थाओं में पहुंची हैं। बहुरेखीय

उद्विकासवादियों का मत है कि उद्विकास का कोई एक ही क्रम न होकर अनेक क्रम हैं। उदाहरण के लिए, एक समाज पहले पशुपालन अवस्था में रहकर फिर शिकारी, कृषि व औद्योगिक अवस्था को प्राप्त कर सकता है। परिवार बहुपति विवाही, बहुपत्नी विवाही, समूह विवाही से एक-विवाही की स्थिति में पहुंच सकता है। इस प्रकार बहुरेखीय उद्विकासवाद का जन्म समरेखीय उद्विकासवाद की आलोचना के रूप में हुआ।

3. **चक्रीय या पैराबोलिक उद्विकास** (Cyclic or Parabolic Evolution)—इस प्रकार के उद्विकास में विश्वास करने वाले विद्वानों का मत है कि उद्विकास एक चक्र के रूप में एक घड़ी के पेण्डुलम की तरह कभी इधर कभी उधर या उतार-चढ़ाव के क्रम में होता है। उद्विकास से सम्बन्धित यह मत सबसे बाद में आया। अत: उन्हें नव-उद्विकासवादी कहा जाता है। **लेसली वाइट** इस प्रकार के विचारकों में प्रमुख हैं। उनका मत है कि उद्विकास एक सीधी रेखा में न होकर अनुव्रत वक्र रेखा (parabolic curve) के रूप में होता है। पैराबोला का तात्पर्य घोड़े के खुर में ठोकी जाने वाली नाल से है जिसकी आकृति कोष्ठक में दिये गये चित्र के समान होती है (⊃)।

इसके अनुसार कोई भी सामाजिक संस्था एक विशिष्ट रूप में प्रारम्भ होती है, धीरे-धीरे वह इसके विपरीत दिशा की ओर विकसित होती है और आगे चलकर पुन: अपने मूल रूप की ओर मुड़ जाती है, किन्तु एक नये और उच्च रूप में। इसके कुछ उदाहरण भी दिये गये हैं जैसे प्रारम्भ में सामूहिक सम्पत्ति पायी जाती थी, धीरे-धीरे व्यक्तिगत सम्पत्ति का महत्त्व बढ़ा और आज पुन: राज्य के द्वारा सम्पत्ति पर सामूहिक अधिकार की धारणा पनपी है। इसी प्रकार से प्रारम्भ में मानव वस्त्रों के अभाव में नंगा रहता था। एक समय ऐसा आया, जब वह पूरे शरीर को वस्त्र से ढकता था और पुन: फैशन के नाम पर कम-से-कम वस्त्र पहनने लगा है। इसी प्रकार से प्रारम्भ में यौन अनाचार की स्थिति थी, फिर एक-विवाह का प्रचलन हुआ और आज पुन: यौन स्वतन्त्रता की दलील दी जाने लगी है। पैराबोला के रूप में उद्विकास को हम नीचे दिये गये चित्र द्वारा प्रकट कर सकते हैं।

चित्र 3

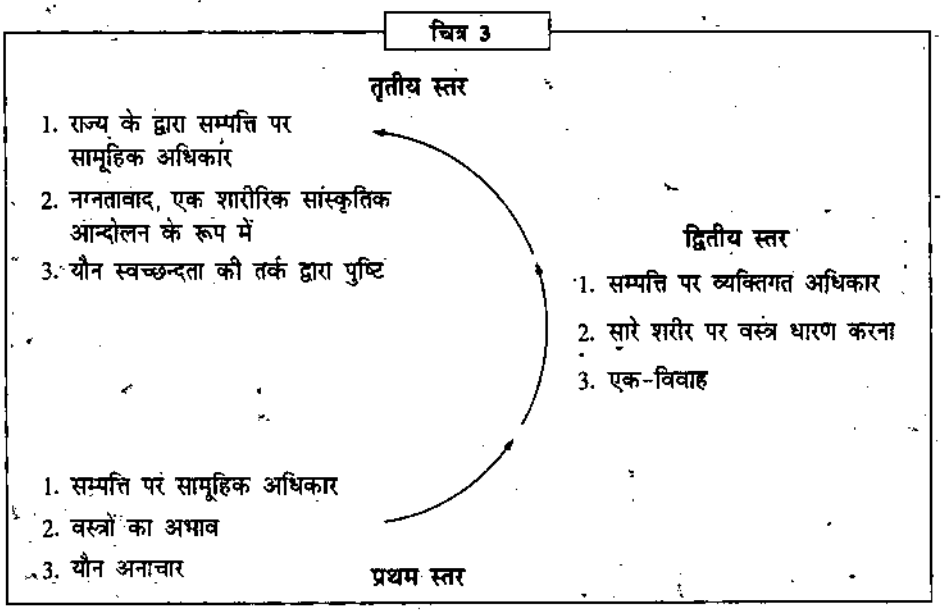

2.15 सामाजिक उद्विकास एवं सामाजिक परिवर्तन (Social Evolution and Social Change)

सामाजिक उद्विकास एवं सामाजिक परिवर्तन के अर्थ और परिभाषा का उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है। सामाजिक परिवर्तन एक तटस्थ शब्द है तो अच्छाई, बुराई अथवा किसी दिशा या परिवर्तन के गुण व मात्रा, आदि का बोध नहीं कराता है जबकि उद्विकास एक ऐसा परिवर्तन है जिसमें दिशा, क्रम, गुण, आदि निश्चित होते हैं। इस अर्थ

नोट

में सामाजिक उद्विकास सामाजिक परिवर्तन का एक भाग है और दोनों का ही सम्बन्ध समाज में घटित होने वाले परिवर्तनों से है। सामाजिक परिवर्तन एवं सामाजिक उद्विकास के भेद को हम इस प्रकार प्रकट कर सकते हैं :

1. सामाजिक परिवर्तन की कोई निश्चित दिशा नहीं होती, यह ऊपर-नीचे, आगे-पीछे किसी भी दिशा में हो सकता है जबकि सामाजिक उद्विकास की एक दिशा निर्धारित है, यह सदैव सरलता से जटिलता, समानता से भिन्नता की ओर होता है।
2. सामाजिक परिवर्तन सामाजिक ढांचे व कार्य अथवा दोनों में से किसी एक पक्ष में भी हो सकता है जबकि सामाजिक उद्विकास में समाज के ढांचे एवं कार्य दोनों में परिवर्तन आता है।
3. सामाजिक परिवर्तन समाज की आन्तरिक एवं बाह्य दोनों ही शक्तियों के कारण आ सकता है जबकि सामाजिक उद्विकास समाज की आन्तरिक शक्तियों के कारण होता है।
4. सामाजिक उद्विकास में श्रम-विभाजन और विशेषीकरण बढ़ जाता है जबकि सामाजिक परिवर्तन में ऐसा होना आवश्यक नहीं है।
5. सामाजिक परिवर्तन एक व्यापक प्रक्रिया है और उद्विकास उसका एक ढंग या स्वरूप है। इस अर्थ में प्रत्येक उद्विकास परिवर्तन है, किन्तु प्रत्येक परिवर्तन उद्विकास नहीं है।
6. सामाजिक उद्विकास के लिए कुछ स्तर एवं क्रम निर्धारित किये गये हैं जबकि सामाजिक परिवर्तन की कोई दिशा, क्रम व स्तर निश्चित नहीं हैं।
7. सामाजिक उद्विकास की प्रक्रिया धीमी एवं निरन्तर होती है जबकि सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया धीमी, तेज निरन्तर एवं रुक-रुककर किसी भी रूप में हो सकती है।
8. सामाजिक उद्विकास में गुणात्मक परिवर्तन होते हैं, जबकि सामाजिक परिवर्तन में गुणात्मक एवं संख्यात्मक दोनों ही प्रकार के परिवर्तन सम्मिलित हैं।
9. सामाजिक उद्विकास के चरणों की पुनरावृत्ति नहीं होती जबकि सामाजिक परिवर्तन में इस प्रकार का कोई नियम नहीं है, सामाजिक परिवर्तन नयी दिशा में जाकर पुन: उसी स्थिति की ओर भी लौट सकता है।

2.16 सामाजिक प्रगति का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Social Progress)

प्रगति सामाजिक परिवर्तन का एक विशेष ढंग या प्रक्रिया है जिसमें वांछित लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए सचेत प्रयत्न किये जाते हैं। प्रगति के बारे में ऑगस्ट कॉम्टे से लेकर आधुनिक समाजशास्त्रियों ने अपने विभिन्न मत व्यक्त किये हैं, किन्तु इसकी कोई एक सर्वमान्य वैज्ञानिक व्याख्या नहीं की जा सकी है। विभिन्न गुणों के आधार पर प्रगति को भिन्न-भिन्न रूपों में परिभाषित किया गया है। प्राचीन समय में आध्यात्मिक लक्ष्यों को प्राप्त करने को प्रगति माना जाता था, किन्तु वर्तमान में भौतिक लक्ष्यों की प्राप्ति एवं सुख-सुविधाओं में वृद्धि को ही प्रगति माना गया है। प्रगति का सामाजिक मूल्यों से घनिष्ठ सम्बन्ध है और हर समाज के अपने-अपने मूल्य होते हैं। यही कारण है कि प्रगति की अवधारणा प्रत्येक समाज में अलग-अलग पायी जाती है।

प्रगति में भी परिवर्तन निहित है, किन्तु यह परिवर्तन नियोजित एवं सामाजिक मूल्यों के अनुरूप होता है। अंग्रेजी का 'Progress' शब्द लैटिन भाषा के 'Progredior' से बना है जिसका अर्थ है 'to step forward' अर्थात् 'आगे बढ़ना'। इस प्रकार वांछित लक्ष्य की ओर परिवर्तन एवं आगे बढ़ना प्रगति कहलाता है। लक्ष्य, स्थान व समाजों के अनुसार प्रगति की धारणा में परिवर्तन पाया जाता है। एक समय में जिसे प्रगति कहा जाता है, दूसरे समय में उसी स्थिति को अवनति कहा जा सकता है।

प्रगति को विभिन्न विद्वानों ने निम्न प्रकार से परिभाषित किया है :

लेस्टर वार्ड के अनुसार, "प्रगति वह है जो मानवीय सुख में वृद्धि करती है।"

हॉर्नेल हार्ट के अनुसार, "सामाजिक प्रगति सामाजिक ढांचे में वे परिवर्तन हैं जो कि मानवीय कार्यों को मुक्त करें, प्रेरणा और सुविधा प्रदान करें तथा उसे संगठित करें।"

ऑगबर्न एवं **निमकॉफ** के अनुसार, "प्रगति का अर्थ होता है–अच्छाई के लिए परिवर्तन और इसीलिए प्रगति में मूल्य-निर्धारण होता है।"

लम्ले के अनुसार, "प्रगति एक परिवर्तन है लेकिन यह इच्छित अथवा मान्यता प्राप्त दिशा में होने वाला परिवर्तन है, किसी भी दिशा में होने वाला परिवर्तन नहीं है।"

नोट

हॉबहाउस के अनुसार, "प्रगति का तात्पर्य सामाजिक जीवन में ऐसे गुणों की वृद्धि होना है जिन्हें वे अपने में आत्मसात कर सकें तथा उनके सामाजिक मूल्यों को विवेकपूर्ण बना सकें।"

गुरविच तथा **मूर** के अनुसार, "प्रगति स्वीकृत मूल्यों के सन्दर्भ में इच्छित मूल्यों की ओर बढ़ना है।"

गिन्सबर्ग के अनुसार, "प्रगति का अर्थ उस दिशा में होने वाला विकास है जो सामाजिक मूल्यों का विवेकयुक्त हल प्रस्तुत करता हो।"

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि **प्रगति समाज द्वारा स्वीकृत मूल्यों की ओर परिवर्तन है जिससे मानव सुख एवं कल्याण में वृद्धि होता है।**

2.17 सामाजिक प्रगति की विशेषताएँ एवं मापदंड (Characteristics and Criteria of Social Progress)

सामाजिक प्रगति की अवधारणा को अधिक स्पष्टत: समझने के लिए हम यहां उसकी विशेषताओं का उल्लेख करेंगे :

1. **प्रगति वांछित दिशा में परिवर्तन है**–किसी भी दिशा में परिवर्तन को प्रगति नहीं कहते हैं वरन् सामाजिक मूल्यों के अनुरूप तथा वांछित लक्ष्यों की ओर होने वाला परिवर्तन प्रगति है।
2. **प्रगति तुलनात्मक है**–प्रगति की अवधारणा तुलनात्मक है अर्थात् समय और स्थान के अनुसार यह बदलती रहती है। एक समाज में जनसंख्या की वृद्धि प्रगति मानी जा सकती है तो दूसरे समाज में नहीं।
3. **प्रगति सामूहिक जीवन से सम्बन्धित होती है**–प्रगति का सम्बन्ध किसी व्यक्ति विशेष के मूल्य या लाभ से न होकर सामूहिक लाभ एवं मूल्यों से है।
4. **प्रगति स्वचालित नहीं होती है**–प्रगति कभी स्वत: नहीं होती है वरन् उसके लिए सचेत एवं नियोजित प्रयत्न करने पड़ते हैं। उदाहरण के लिए, ग्रामीण प्रगति के लिए समन्वित ग्रामीण विकास योजनाएं बनायी गयीं।
5. **प्रगति का सम्बन्ध केवल मनुष्यों से है**–प्रगति की चर्चा हम केवल मानव समाज में ही कर सकते हैं क्योंकि मूल्य की अवधारणा उन्हीं में पायी जाती है, पशुओं में नहीं।
6. **प्रगति में लाभ अधिक एवं हानि कम होती है।**
7. **प्रगति की धारणा परिवर्तनशील है**–इसका सम्बन्ध सामाजिक मूल्यों से है और सामाजिक मूल्य स्थिर नहीं होते वरन् समय के साथ परिवर्तित होते रहते हैं। भारत में ही कभी आध्यात्मिक लक्ष्यों की पूर्ति को प्रगति माना जाता था जबकि वर्तमान में भौतिक लक्ष्यों की अधिकाधिक पूर्ति को प्रगति कहा जाता है।
8. **प्रगति मूल्यों पर आधारित है**–सामाजिक प्रगति का घनिष्ठ सम्बन्ध सामाजिक मूल्यों से है। सामाजिक मूल्य ही किसी दशा को अच्छा या बुरा बताते हैं। अत: जिन लक्ष्यों को सामाजिक मूल्यों द्वारा उचित ठहराया जाता है उसे सामाजिक प्रगति कहा जाता है।

सामाजिक प्रगति के मापदण्ड (Criteria of Social Progress)

प्रश्न यह उठता है कि हम सामाजिक प्रगति को कैसे मापें और यह कहें कि अमुक परिवर्तन प्रगति है। इस सन्दर्भ में विभिन्न विचारकों ने सामाजिक प्रगति के विभिन्न मापदण्ड माने हैं। अर्थशास्त्री **पीगू** आर्थिक कल्याण को, तो अन्य अर्थशास्त्री उद्योग, उत्पादन, व्यापार एवं वाणिज्य, जीवन-स्तर, आय, आदि में वृद्धि को प्रगति मानते हैं। सुखवादी दार्शनिकों के अनुसार अधिकांश लोगों का अधिकांश सुख ही प्रगति है। धर्मशास्त्री एवं नीतिशास्त्रियों के अनुसार आध्यात्मिक उन्नति एवं नैतिक गुणों में वृद्धि ही प्रगति है। जीवनशास्त्री रक्त की शुद्धता, दीर्घायु, स्वास्थ्य

नोट

में वृद्धि, आदि को प्रगति मानते हैं। साहित्यकार सुन्दर साहित्यिक रचनाओं को, तो कलाकार कला की उन्नति को प्रगति मानते हैं। वैज्ञानिक विभिन्न प्रकार के नवीन आविष्कारों की वृद्धि को प्रगति की कसौटी मानते हैं। स्पष्ट है कि प्रगति के बारे में विद्वानों में कोई एकमत नहीं है।

बोगार्डस ने प्रगति के चौदह मापदण्डों का उल्लेख इस प्रकार किया है–(1) सार्वजनिक हित के लिए प्राकृतिक स्रोतों का लाभकारी उपयोग, (2) शारीरिक व मानसिक दृष्टि से अधिक स्वस्थ व्यक्तियों का होना, (3) स्वस्थ वातावरण में वृद्धि, (4) मनोरंजन के उपयोगी साधनों में वृद्धि; (5) पारिवारिक संगठन की मात्रा में वृद्धि, (6) रचनात्मककार्यों के लिए व्यक्तियों को अधिक-से-अधिक अवसर प्राप्त होने की सुविधाएं, (7) व्यापार और उद्योग में जनता के अधिकारों में वृद्धि, (8) सामाजिक दुर्घटनाओं, बीमारियों, बेकारी और मृत्यु के विरुद्ध सामाजिक बीमे की सुविधाओं में वृद्धि, (9) समाज में अधिकांश लोगों के जीवन स्तर में वृद्धि, (10) सरकार और जनता के बीच पारस्परिक सहयोग की मात्रा में अधिकाधिक वृद्धि, (11) कला का अधिकाधिक प्रसार, (12) मानव में धार्मिक एवं आध्यात्मिक पक्षों का विशेष विकास, (13) व्यावसायिक, बौद्धिक और कल्याणकारी शिक्षा का विस्तार, (14) सहयोगी एवं सहकारी जीवन में वृद्धि।

हॉर्नेल हार्ट के अनुसार सामाजिक प्रगति के मापदण्ड इस प्रकार हैं : (1) आयु का अधिक होना, (2) मानसिक स्वास्थ्य, (3) अवकाश का अधिक समय।

टॉड ने सम्पत्ति, स्वास्थ्य, जनसंख्या, व्यवस्था, स्थायित्व तथा अवसरों की वृद्धि को प्रगति का मापदण्ड माना है।

डिवाइन ने सामाजिक प्रगति के निम्नांकित मापदण्डों का उल्लेख किया है–(1) प्राकृतिक साधनों का संरक्षण और उनका सबकी भलाई के लिए उपयोग, (2) शारीरिक व मानसिक दृष्टि से दुर्बल लोगों की संख्या में कमी, (3) अस्वस्थ पर्यावरण, अस्वास्थ्यकर मकानों, असन्तोषजनक सफाई और संक्रामक रोगों का अभाव, (4) हानिकारक मनोरंजन में कमी व स्वस्थ मनोरंजन में वृद्धि, (5) स्वस्थ और सम्पन्न परिवारों एवं बच्चों की संख्या में वृद्धि, (6) रचनात्मक कार्यों के लिए अधिक अवसर, (7) उद्योग और व्यापार में मजदूर, पूंजीपति तथा जन-साधारण का मिला-जुला अधिकार, (8) सामाजिक बीमा का अधिकतम प्रसार, (9) अधिकतम लोगों के लिए अच्छी आमदनी, पौष्टिक भोजन, स्वास्थ्यप्रद मनोरंजन आदि की व्यवस्था, (10) सरकार एवं जनता में अधिकाधिक सहयोग, (11) अच्छे संगीत, कविता, चित्रकारी और अन्य कलात्मक वस्तुओं की रुचि में वृद्धि, (12) व्यावसायिक, बौद्धिक तथा कल्याणकारी शिक्षा का प्रसार (13) अधिकांश लोगों के जीवन में धार्मिक एवं आध्यात्मिक पक्ष का विकास, (14) जनता में मिल-जुलकर काम करने की भावना में वृद्धि।

हॉबहाउस ने समुदाय की प्रगति के लिए उचित जनसंख्या, कार्यकुशलता, स्वतन्त्रता तथा पारस्परिक सेवा की प्रवृत्ति को आवश्यक कसौटी माना है। विभिन्न विद्वानों द्वारा प्रगति के अनेक मापदण्डों का उल्लेख किया गया है, किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि वे सभी एक साथ प्राप्त किये जायें। सभी मापदण्डों को प्राप्त करना भी कठिन है। अतः जो समाज इनमें से जितने मापदण्डों को प्राप्त कर लेता है वह उतना ही प्रगतिशील माना जाता है।

2.18 सामाजिक प्रगति में सहायक दशाएँ (Conditions Helpful to Social Progress)

1. **शिक्षा का उच्च स्तर** (High standard of education)–शिक्षा मानव के ज्ञान का द्वार खोलती है। शिक्षा के द्वारा व्यक्ति को नवीन वस्तुओं तथा स्थितियों का ज्ञान होता है। शिक्षा के अभाव में न तो आविष्कार ही सम्भव है और न ही प्रगति। शिक्षा ही वैचारिक विकास के लिए उत्तरदायी है और वही लोगों में प्रगति के प्रति चेतना उत्पन्न करती है।
2. **प्रौद्योगिक एवं वैज्ञानिक प्रगति** (Technological and scientific development)–सामाजिक प्रगति के लिए विज्ञान का विकास एवं प्रौद्योगिक उन्नति भी आवश्यक है। मशीनों के प्रयोग से बड़ी मात्रा में और तीव्र गति से उत्पादन होता है, वाणिज्य और व्यापार में भी वृद्धि होती है। इसके परिणामस्वरूप किसी समाज की आर्थिक दशा में सुधार होता है जो प्रगति के लिए आवश्यक पृष्ठभूमि है। यही नहीं, बल्कि किसी समाज की प्रगति के लिए यातायात एवं संचार के नवीन साधनों, रेल, मोटर, वायुयान, रेडियो,

टेलीविजन, टेलीफोन, समाचार-पत्रों, आदि का विकास भी आवश्यक है जिससे ज्ञान की वृद्धि होती है और सामाजिक प्रगति सम्भव हो पाती है।

नोट

3. **नवीन आविष्कार** (New inventions)–नवीन आविष्कार के सहारे मानवीय समस्याओं का समाधान किया जाता है और मानवीय सुख-सुविधाओं में वृद्धि की जाती है। इस प्रकार आविष्कार प्रगति की सम्भावनाओं में वृद्धि करते हैं।

4. **आदर्श जनसंख्या और स्वास्थ्य**–कोई भी समाज ऐसी स्थिति में ही प्रगति कर सकता है जब उसके सदस्यों की संख्या आदर्श हो तथा वे शारीरिक और मानसिक दृष्टि से स्वस्थ हों। अधिक जनसंख्या, बेकारी, गरीबी, भुखमरी, अकाल, महामारी एवं प्राकृतिक विपदाएं लाती हैं। ऐसी स्थिति में सामाजिक प्रगति की आशा धूमिल हो जाती है। इसी प्रकार से यदि लोगों का स्वास्थ्य ठीक नहीं है और लोग शारीरिक और मानसिक दृष्टि से कमजोर हैं तो वे लोग काम नहीं कर पायेंगे और सामाजिक प्रगति में अपना कोई योगदान नहीं दे पायेंगे।

5. **अनुकूल भौगोलिक पर्यावरण** (Favourable geographical environment)–सामाजिक प्रगति के लिए अनुकूल भौगोलिक पर्यावरण भी आवश्यक है। जिस देश में प्राकृतिक स्रोतों, खनिज पदार्थों, लोहा, चांदी, सोना, कोयला, यूरेनियम, पेट्रोलियम आदि की बहुलता होती है वह अधिक प्रगति कर सकता है। इसी प्रकार से जिन स्थानों का भौगोलिक पर्यावरण अनुकूल होता है वहां के समाज ही प्रगति कर पाते हैं। रेगिस्तानी, पहाड़ी, दलदली एवं बर्फीले स्थान के वासियों को प्रगति के लिए अधिक संघर्ष करना होता है। इसी प्रकार से जहां अत्यधिक गर्मी और अत्यधिक सर्दी पड़ती है वहां पर भी सामाजिक प्रगति के अवसर कम होते हैं। अत: सामाजिक प्रगति के लिए आदर्श भौगोलिक परिस्थितियां होनी चाहिए।

6. **सामाजिक सुरक्षा** (Social security)–जिस समाज में लोगों को सुरक्षा प्राप्त होती है उसके प्रगति करने के अवसर भी अधिक होते हैं। जीवन की सुरक्षा एवं उच्च पद प्राप्त करने के अवसरों की उपलब्धि लोगों में आत्म-विश्वास पैदा करती है। जिस समाज में जाति-पाति का भेद-भाव, छुआछूत एवं शोषण का अभाव हो, वह प्रगति करने की अधिक क्षमता रखता है।

7. **स्वतन्त्रता एवं समानता** (Liberty and equality)–स्वतन्त्र देश गुलाम देश की अपेक्षा अधिक प्रगति कर सकता है क्योंकि स्वतन्त्रता लोगों में उत्तरदायित्व की भावना पैदा करती है, उनमें आत्मविश्वास और सम्मान के विचार जागृत करती है। इसी प्रकार से अवसर की समानता भी लोगों में आशा और विश्वास को उत्पन्न करती है।

8. **योग्य नेतृत्व** (Able leadership)–जिस देश के नेता समाज के लिए त्याग और बलिदान के लिए तत्पर रहते हों और सामाजिक हितों को अपने हितों से अधिक प्राथमिकता देते हों, ऐसा समाज ही प्रगति कर पाता है। योग्य नेता ही समाज को सही दिशा-निर्देश दे सकते हैं।

9. **आत्म-विश्वास** (Self-confidence)–सामाजिक प्रगति के लिए समाज के लोगों में यह आत्म-विश्वास होना आवश्यक है कि वे प्रगति कर सकते हैं। आत्म-विश्वास के अभाव में कोई भी समाज प्रगति नहीं कर सकता।

10. **न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति** (Fulfilment of minimum requirements)–किसी भी समाज की प्रगति के लिए यह आवश्यक है कि उसके सदस्यों को भोजन, वस्त्र और मकान की सुविधाएं उपलब्ध हों। इनके अभाव में सदस्यों का अस्तित्व बना रहना सम्भव नहीं हो पायेगा। भूखे और नंगे व्यक्ति से प्रगति की आशा नहीं की जा सकती।

11. **राजनीतिक स्थिरता** (Political stability)–सामाजिक प्रगति के लिए देश में राजनीतिक स्थिरता या स्थिर सरकार आवश्यक है। जब सरकारें जल्दी-जल्दी बदलती हों या राजनीतिक उपद्रव और क्रान्तियाँ होती हों तो समाज में भय, आतंक और निराशा का वातावरण पाया जाता है। ऐसी स्थिति में समाज प्रगति नहीं कर सकता। स्थिर शासन में ही प्रगति के लिए योजनाबद्ध प्रयास सम्भव हैं। इसी प्रकार सामाजिक प्रगति के लिए युद्ध का अभाव एवं मधुर अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का होना भी आवश्यक है।

नोट

12. **कार्य में विश्वास** (Belief in action)–सामाजिक प्रगति के लिए यह आवश्यक है कि लोगों में धार्मिक नियतिवाद एवं भाग्यवाद के स्थान पर स्वयं की शक्ति एवं कार्य में विश्वास हो। जब लोग सब कुछ ईश्वर की मर्जी पर छोड़ देते हैं और स्वयं प्रयास नहीं करते तो वे प्रगति नहीं कर सकते।
13. **नैतिक चरित्र** (Moral character)–नैतिक चरित्र ही सामाजिक प्रगति की कुंजी है। जहाँ के लोग भ्रष्ट, अन्यायी और अनैतिक हों, वे कोई प्रगति नहीं कर सकते। दो महा युद्धों में बर्बाद होने के बावजूद भी जापान ने अत्यधिक प्रगति की है। इसका कारण जापानियों का राष्ट्रीय एवं नैतिक चरित्र ही है। भारत की सामाजिक प्रगति में नैतिक एवं राष्ट्रीय चरित्र का अभाव सबसे बड़ी बाधा है।

2.19 रूपान्तरण या परिवर्तन (Transformation)

परिवर्तन की परिभाषा एवं अर्थ (Meaning and Definition of Change)

परिवर्तन एक 'मूल्य-मुक्त' (Value-free) सम्प्रत्यय है। इसका सम्बन्ध अच्छे-बुरे, सही-गलत, विकास-ह्रास आदि से नहीं है। **फिचर** के अनुसार, "परिवर्तन पहले की अवस्था या अस्तित्व के प्रकार में अन्तर को कहते हैं।" मुख्यत: परिवर्तन का सम्बन्ध निम्न तीन घटकों से होता है–वस्तु, समय और भिन्नता।

परिवर्तन के घटक (Components of Change)

परिवर्तन की व्याख्या, विश्लेषण एवं मूल्यांकन का सम्बन्ध तीन घटकों–(1) वस्तु, (2) समय, और (3) भिन्नता से है।

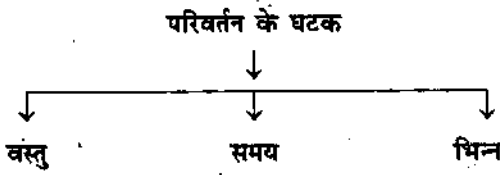

पहला : यह स्पष्ट एवं सुनिश्चित होना चाहिये कि परिवर्तन किस वस्तु या विषय में देखा जा रहा है। दूसरा: परिवर्तन के लिये समय के अन्तराल का होना आवश्यक है अर्थात् एक समय बिन्दु पर परिवर्तन को नहीं देखा जा सकता है। तीसरा: परिवर्तन दो समय बिन्दुओं पर वस्तु के रूप, रंग, आकार-प्रकार, संरचना और कार्यों आदि में पूर्ण रूप से भिन्नता आने पर ही माना जाता है। इसे शिक्षा का उदाहरण लेकर देख सकते हैं। शिक्षा वस्तु है। इसमें भारत में परिवर्तन का अध्ययन करने के लिये वैदिक काल और वर्तमान काल के दो समय बिन्दुओं को लेकर देखेंगे कि शिक्षा की पद्धति, उपकरण, उद्देश्य, संरचना और कार्यों में कितनी भिन्नताएँ आई हैं। अगर भिन्नता आई है तो निष्कर्ष देंगे कि भारत में शिक्षा में परिवर्तन हुआ है।

निष्कर्षत: परिवर्तन किसी वस्तु अथवा विषय में दो समयों के मध्य प्रतीत होने वाली भिन्नता है। परिवर्तन की अग्रलिखित विशेषताएँ होती हैं–

1. परिवर्तन किसी भी भौतिक अथवा अभौतिक वस्तु का निश्चित दिशा में विचलन की स्थिति है।
2. यह विचलन या तो प्राकृतिक नियमों द्वारा स्वत: ही होता है अथवा मानव समाज द्वारा योजनाबद्ध रूप में हो सकता है।
3. परिवर्तन से वस्तु का सम्पूर्ण रूप बदलता है अथवा उसका कोई पक्ष-विशेष प्रभावित होता है।
4. परिवर्तन एक सार्वभौमिक प्रक्रिया है अर्थात् यह सर्वत्र पाया जाता है।
5. परिवर्तन सार्वकालिक प्रघटना है अर्थात् हर काल में किसी-न-किसी रूप में परिवर्तन अवश्य होता है।

उपर्युक्त विशेषताओं के आधार पर ही फिचर ने पहले की अवस्था या अस्तित्व के प्रकार के अन्तर को परिवर्तन कहा है। परिवर्तन क्यों होता है? इसके उत्तर में ग्रीन का मानना है कि प्रत्येक समाज असन्तुलन के दौर से गुजर रहा है। कुछ व्यक्ति सम्पूर्ण सन्तुलन की इच्छा रखते हैं तथा कुछ इसके लिए प्रयास करते हैं।

सामाजिक परिवर्तन एक अवश्यम्भावी तथ्य है। **डेविस** ने इसकी निश्चितता प्रकट करते हुए लिखा है, "हम स्थायित्व एवं सुरक्षा के लिए प्रयत्नशील हो सकते हैं, समाज के स्थायित्व का भ्रम चारों ओर फैलाया जा सकता है, निश्चयात्मकता के प्रति खोज निरन्तर बनी रह सकती है और विश्व अनन्त है। इस विषय में हमारा विश्वास दृढ़ हो सकता है, लेकिन यह तथ्य सदैव विद्यमान रहने वाला है कि विश्व के अन्य तत्वों की तरह समाज में अपरिहार्य रूप से और बिना किसी छूट के सदैव परिवर्तन होता रहता है।"

परिवर्तन की प्रकृति को **विल्बर्ट मूर** ने इस प्रकार स्पष्ट किया है–

(1) प्रत्येक समाज अथवा संस्कृति में परिवर्तन नियमित रूप से और बार-बार होते रहते हैं। (2) परिवर्तन देश-काल की दृष्टि से सापेक्ष हैं। किसी काल विशेष में हुए परिवर्तन समस्त विश्व को प्रभावित कर सकते हैं। परिवर्तन के प्रत्यक्ष व परोक्ष दोनों प्रकार के परिणाम हो सकते हैं। (3) चूँकि समकालीन परिवर्तन 'प्रत्येक-स्थान' पर सम्भाव्य हैं और प्रत्येक स्थान पर इनके परिणाम महत्त्वपूर्ण और अर्थपूर्ण हो सकते हैं, इसलिए इनका दोहरा महत्त्व है। (4) पहले के समय की तुलना में समकालीन परिवर्तन अधिक हुए हैं अर्थात् समकालीन परिवर्तन नियोजित अधिक हैं। (5) कोई सामान्य-सा परिवर्तन भी व्यक्तिगत जीवन व समाज के व्यापक क्षेत्रों को प्रभावित कर सकता है। (6) परिवर्तन की प्रकृति संचयी होती है। अर्थात् एक के बाद दूसरा परिवर्तन आपस में मिले और जुड़े हुए रूप में नई कार्य पद्धतियों को जन्म देते हैं। इस बीच कई कार्य पद्धतियाँ अनुपयोगी हो जाती हैं।

सामाजिक प्रगति एवं सामाजिक परिवर्तन (Social Progress and Social Change)

सामाजिक प्रगति भी सामाजिक परिवर्तन है। सामाजिक परिवर्तन की अनेक प्रक्रियाएं एवं ढंग हैं, उनमें सामाजिक उद्विकास, प्रगति, विकास एवं क्रान्ति, आदि प्रमुख हैं। इस सन्दर्भ में यह प्रश्न किया जाता है कि **क्या प्रत्येक परिवर्तन प्रगति है?** (Is every change progress?) इस प्रश्न का हमारा उत्तर नकारात्मक होगा अर्थात् **हम प्रत्येक परिवर्तन को प्रगति नहीं कह सकते।**

परिवर्तन तो एक तटस्थ प्रक्रिया है, यह अच्छाई व बुराई किसी भी दिशा में हो सकता है, किन्तु जब वह समाज द्वारा निर्धारित मूल्यों की ओर होता है तो उसे हम प्रगति कहेंगे अन्यथा नहीं। किसी परिवर्तन को प्रगति कहें या नहीं, इसके लिए हमें परिवर्तन के प्रभावों एवं परिणामों को भी देखना होगा। यदि सामाजिक परिवर्तन निर्धारित लक्ष्यों की ओर है, समाज के लिए लाभप्रद एवं कल्याणकारी है, मानवीय सुख-सुविधाओं में वृद्धि करता है तो उसे हम प्रगति कहेंगे, दूसरे अर्थों में, जो परिवर्तन प्रगति की कसौटियां या मापदण्डों के अनुरूप होता है, उसे ही प्रगति कहा जायेगा अन्यथा नहीं। सामाजिक प्रगति एवं परिवर्तन में निम्नांकित भेदों द्वारा यह बात और अधिक स्पष्ट हो जायेगी :

1. सामाजिक प्रगति में उद्देश्य निश्चित होता है, उसी की ओर बढ़ना प्रगति कहलाता है जबकि सामाजिक परिवर्तन का कोई लक्ष्य नहीं होता।
2. सामाजिक प्रगति की दिशा निश्चित होती है जबकि सामाजिक परिवर्तन की कोई दिशा तय नहीं है, यह किसी भी दिशा में हो सकता है।
3. सामाजिक प्रगति का सम्बन्ध सामाजिक मूल्यों से है। यह एक नैतिक अवधारणा है जबकि सामाजिक परिवर्तन नैतिक दृष्टि से एक तटस्थ प्रक्रिया है जिसका सामाजिक मूल्यों से कोई सम्बन्ध नहीं है।
4. सामाजिक प्रगति में समाज को लाभ होता है जबकि सामाजिक परिवर्तन से लाभ एवं हानि दोनों ही हो सकते हैं।
5. सामाजिक प्रगति स्वचालित नहीं होती, उसके लिए प्रयास करने होते हैं जबकि सामाजिक परिवर्तन स्वचालित एवं नियोजित दोनों ही हो सकता है।

इस प्रकार सामाजिक प्रगति सामाजिक परिवर्तन का एक अंग है। यह समाज द्वारा निश्चित, इच्छित एवं मान्यता प्राप्त दिशा में परिवर्तन है।

नोट

2.20 विकास (Development)

ऑक्सफोर्ड इंग्लिश डिक्शनरी में विकास को "एक क्रमिक उन्मिलन (A gradual unfolding), किसी भी वस्तु की अधिकतम जानकारी, जीवाणु का विकास" आदि के अर्थ में बताया गया है। उदाहरणार्थ, एक बच्चे द्वारा युवा अवस्था को प्राप्त करने पर उसके शारीरिक एवं मानसिक परिवर्तन को विकास कहेंगे। इसी प्रकार शरीर में बीमारी की बढ़ोत्तरी को भी विकास कहेंगे, किन्तु विकास का यह अर्थ सामाजिक विकास से भिन्न है।

पूर्व में हमने उद्विकास को एक ऐसे परिवर्तन के रूप में परिभाषित किया है जिसमें एक सीधी-सादी सरल वस्तु सावयव विभेदीकृत होकर जटिल रूप धारण कर लेती है। यह उद्विकास जब सामाजिक मूल्यों के अनुरूप तथा अच्छाई की ओर होता है तो उसे प्रगति कहते हैं, किन्तु विकास परिवर्तन की एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें विभेदीकरण की वृद्धि होती है तथा यह सदैव ऊपर की ओर होता है। विकास का सम्बन्ध सामाजिक मूल्यों से नहीं है। अत: यह अच्छाई और बुराई दोनों ही ओर हो सकता है। यह तो एक अवस्था से दूसरी अवस्था में परिवर्तन की गति को प्रकट करता है। सामाजिक जीवन के उदाहरण द्वारा हम इसे और अच्छी तरह समझ सकते हैं। मानव का सामाजिक जीवन परिवर्तनशील है और वह एक अवस्था से दूसरी अवस्था में बदलता रहा है। यह बदलाव व परिवर्तन अच्छा हुआ या बुरा, हम इसका मूल्यांकन विकास में नहीं करते। विकास में अच्छाई व बुराई दोनों ही हो सकती है। उदाहरण के लिए, मानव के शिकारी, पशुचारण व कृषि अवस्था से आज की औद्योगिक अवस्था तक विकास की एक लम्बी यात्रा तय की है। प्रत्येक अवस्था के अपने गुण व दोष, लाभ व हानि, अच्छाई तथा बुराई हैं जिनका मूल्यांकन विकास में नहीं किया जाता वरन् विकास का सम्बन्ध तो मानव जीवन में उत्तरोत्तर परिवर्तन एवं एक अवस्था से दूसरी अवस्था की ओर आगे बढ़ने से ही है।

हॉबहाउस ने सामाजिक विकास के चार मापदण्डों की व्याख्या की है। वे कहते हैं कि किसी भी समुदाय को तब विकसित कहा जाना चाहिए, जब उसकी मात्रा, कार्यक्षमता, स्वतन्त्रता और सेवा की पारस्परिकता में वृद्धि होती है। समुदाय की **मात्रा** में वृद्धि का अर्थ है जनसंख्या में बढ़ोत्तरी, शक्ति का उत्पादन और क्रियाओं का विस्तार, **कार्यक्षमता** में वृद्धि का तात्पर्य है किसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु कार्यों का विभाजन कर उनमें सहयोग की भावना को प्रोत्साहन देना, **स्वतन्त्रता** का अर्थ है समुदाय के प्रत्येक सदस्य को कार्य करने व विचार व्यक्त करने का अधिकार दिया जाना, **सेवा की पारस्परिकता** से तात्पर्य है लोगों में पारस्परिक सहयोग एवं सेवा की भावना में वृद्धि होना। विकास के इन मापदण्डों के आधार पर ही हॉबहाउस ने 'पूर्ण विकास' एवं 'आंशिक विकास' में भेद स्पष्ट किया है। पूर्ण विकास में विकास के सभी मापदण्डों की पूर्ति नैतिक आवश्यकताओं की पूर्ति की सीमा तक हो जाती है और उसमें पारस्परिक सामंजस्य बना रहता है। आंशिक विकास उसे कहेंगे जिसमें इन चारों मापदण्डों में कोई एक या दो सन्तुष्टि की सीमा तक पहुंच जाएं और अन्य नहीं पहुंचे। इस प्रकार हॉबहाउस विकास के लिए उपर्युक्त चारों मापदण्डों की समन्वित रूप से सन्तुष्टि आवश्यक मानते हैं।

बोटोमोर कहते हैं कि अनेक नवीन समाजशास्त्रीय रचनाओं में विकास शब्द का एक प्रयोग ग्रामीण एवं कृषि-प्रधान तथा औद्योगीकृत समाजों में भेद प्रकट करने के लिए किया गया है। विकास शब्द के द्वारा इन दोनों प्रकार के समाजों में पाये जाने वाले आय के अन्तर तथा ग्रामीण एवं कृषि-प्रधान समाज के औद्योगीकृत हो जाने की प्रक्रिया को प्रकट किया जाता है। इस प्रकार विकास शब्द का प्रयोग नवीन विचारधारा में दो विशेषताओं को बताने के लिए किया गया है–(*i*) वर्तमान समय में देखे जाने वाले विशिष्ट प्रकार के परिवर्तनों की चर्चा के लिए, तथा (*ii*) उन आर्थिक परिवर्तनों के लिए जिन्हें नापा एवं पहचाना जा सके। इस अर्थ में यदि मानव ज्ञान में वृद्धि कर नवीन आविष्कारों द्वारा प्रकृति पर नियन्त्रण बढ़ाने में सफल होता है तो निश्चय ही वह विकास कहलायेगा। विकास का तुलनात्मक एवं ऐतिहासिक अर्थ में प्रयोग अनेक लेखकों ने किया है। एक महत्त्वपूर्ण नवीन गोष्ठी 'दी चैलेंज ऑफ डेवलपमेण्ट' में विकास शब्द का प्रयोग कम आय वाले देशों में हो रहे औद्योगीकरण और उसकी तुलना पश्चिमी देशों में हो रहे औद्योगीकरण से करने के सन्दर्भ में किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक समय में विकास शब्द का प्रयोग अधिकांशत: आर्थिक अर्थों में किया गया है। प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि, श्रम-विभाजन एवं विशेषीकरण में वृद्धि, बाजारों का विस्तार, उत्पादन एवं उद्योगों

में वृद्धि, पूंजी निर्माण में वृद्धि, प्राकृतिक स्त्रोतों का अधिकाधिक दोहन, मानवीय ज्ञान द्वारा प्रकृति पर अधिकाधिक नियन्त्रण आर्थिक विकास को इंगित करते हैं, किन्तु विकास शब्द के प्रयोग को आर्थिक एवं औद्योगिक क्षेत्र में होने वाले कुछ विशिष्ट परिवर्तनों तक ही सीमित कर देना उचित नहीं है। यह धर्म, प्रथाओं, परिवार, राजनीति, संस्कृति आदि अनेक क्षेत्रों में प्रयुक्त किया जा सकता है। सामाजिक विकास में सामाजिक सम्बन्धों का विस्तार होता है, प्राचीन सामाजिक संरचनाओं, मूल्यों, मनोवृत्तियों एवं विचारों में परिवर्तन एवं वृद्धि होती है। इस प्रकार सामाजिक विकास में व्यक्ति की स्वतंन्त्रता, पारस्परिक सहयोग एवं नैतिकता की भावना तथा समुदाय की आय एवं सम्पत्ति में वृद्धि होती है। अत: आर्थिक विकास सामाजिक विकास का ही एक अंग है जिसे विभिन्न आधारों पर मापना सरल है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हम कह सकते हैं कि **सामाजिक विकास समाज का विकासोन्मुख परिवर्तन है, जिसमें निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए नियन्त्रित एवं जागरूक प्रयत्न किये जाते हैं।**

सामाजिक उद्विकास एवं सामाजिक विकास (Social Evolution and Social Development)

कई बार सामाजिक उद्विकास एवं विकास को समान ही समझ लिया जाता है, किन्तु इन दोनों में निम्नांकित अन्तर हैं :

1. विकास सदैव ऊर्ध्वगामी (upward) होता है जबकि उद्विकास किसी भी दिशा में हो सकता है। यह ऊपर एवं नीचे किसी भी दिशा में हो सकता है।
2. विकास में परिवर्तन पूर्व-नियोजित ढंग से लाये जाते हैं जबकि उद्विकास में मानव का कोई हस्तक्षेप नहीं होता, वह स्वत: ही होता है।
3. उद्विकास का सम्बन्ध मानव के सम्पूर्ण सामाजिक जीवन से है जबकि विकास सामाजिक जीवन के कुछ ही पक्षों में सम्भव है। इस प्रकार उद्विकास विकास की तुलना में एक व्यापक प्रक्रिया है।
4. उद्विकास एक मूल्य-रहित और तटस्थ अवधारणा है, यह अच्छाई व बुराई को प्रकट नहीं करती जबकि विकास में कुछ सीमा तक मूल्य जुड़े होते हैं। अत: यह तटस्थ प्रक्रिया न होकर प्रगति के अधिक नजदीक है।
5. उद्विकास एक स्वत: चालित एवं अचेतन प्रक्रिया है जबकि विकास के लिए प्रयत्न किये जाते हैं और यह एक जागरूक प्रक्रिया है।
6. उद्विकास कुछ निश्चित नियमों से व क्रमों द्वारा घटित होता है जो सभी समयों एवं समाजों में समान रूप से होता है जबकि विकास के नियम व क्रम तय नहीं हैं और हर समाज में इसके क्रम भी भिन्न-भिन्न हैं।

सामाजिक विकास तथा सामाजिक प्रगति (Social Development and Social Progress)

सामाजिक विकास एवं सामाजिक प्रगति का भी एक ही अर्थ में प्रयोग करने की भूल अनेक विद्वानों ने की है। उदाहरण के लिए, **हॉबहाउस** लिखते हैं, "विकास से मेरा तात्पर्य किसी भी प्रकार की प्रगति से है।" इस प्रकार की भूल का कारण शायद इन दोनों में पायी जाने वाली कुछ समानताएं हैं; जैसे (*i*) दोनों ही मूल्यों पर आधारित अवधारणाएं हैं, (*ii*) दोनों ही गुणात्मक परिवर्तन को प्रकट करती हैं, तथा (*iii*) दोनों में ही सचेत एवं जागरूक प्रयत्न करने होते हैं। इन समानताओं के बावजूद भी **इन दोनों में निम्न अन्तर हैं :**

1. विकास साधन है जबकि प्रगति साध्य। विकास के प्रयत्नों से ही प्रगति आती है। बिना विकास के प्रगति नहीं आ सकती जबकि प्रगति के बिना भी विकास सम्भव है।
2. विकास का अधिकांश सम्बन्ध भौतिक संस्कृति से है जबकि प्रगति का अभौतिक संस्कृति से।
3. प्रगति की तुलना में विकास की माप सरल है क्योंकि इसका सम्बन्ध भौतिक वस्तुओं से अधिक है।
4. विकास एक सार्वभौमिक प्रक्रिया है जबकि प्रगति की अवधारणा प्रत्येक समाज में अलग-अलग होती है।
5. प्रगति में परिवर्तन का क्षेत्र सीमित है जबकि विकास में व्यापक है।

नोट

6. प्रगति इच्छित लक्ष्यों की ओर होने वाला परिवर्तन है, किन्तु विकास की कोई निश्चित दिशा नहीं है।
7. विकास एक स्वाभाविक प्रक्रिया है जबकि प्रगति के लिए सचेत रूप से प्रयत्न किये जाते हैं।
8. प्रगति की अवधारणा परिवर्तनशील है, सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन के साथ-साथ प्रगति की अवधारणा भी बदलती रहती है जबकि विकास की अवधारणा बहुत कुछ स्थायी है।

2.21 क्रान्ति (Revolution)

उद्विकास, प्रगति एवं विकास की ही भाँति क्रान्ति भी परिवर्तन का एक विशेष रूप है। क्रान्ति में परिवर्तन का क्रम तीव्र हो जाता है। क्रान्ति एक सामूहिक क्रिया है जिसमें पुरानी व्यवस्था के स्थान पर नयी व्यवस्था स्थापित की जाती है। क्रान्ति में पुराने अभिजातों का स्थान नवीन अभिजात एवं नेता ग्रहण कर लेते हैं। क्रान्ति में प्राचीन संस्थाओं के स्थान पर नवीन संस्थाओं की स्थापना की जाती है। क्रान्ति के इसी अर्थ को प्रकट करते हुए **पार्क** कहते हैं, "क्रान्ति एक सामूहिक आन्दोलन होता है जिसका उद्देश्य वर्तमान समाज-व्यवस्था को नष्ट करके लोकाचारों को परिवर्तित करना होता है।"

थियोडोरसन का मत है कि "क्रान्ति में सामाजिक नेतृत्व में विशाल पैमाने पर परिवर्तन आते हैं और नवीन शासक वर्ग की इच्छा के अनुसार सामाजिक संरचना का पुनर्निर्माण किया जाता है, किन्तु संस्कृति के सभी पक्षों में तुरन्त परिवर्तन नहीं किये जाते। जब क्रान्ति को समाज की शक्ति संरचना में परिवर्तन के रूप में परिभाषित किया जाता है तो इसका अर्थ होता है कि नवीन हित समूह नये परिवर्तन ला रहे हैं।" वे क्रान्ति को समाज में मौलिक परिवर्तन के रूप में मानते हैं।"

सामान्यत: क्रान्ति का अर्थ समाज में अचानक घटित होने वाले परिवर्तन से लिया जाता है। कई व्यक्ति क्रान्ति का तात्पर्य राजनीतिक सत्ता में होने वाले आकस्मिक एवं अप्रत्याशित परिवर्तनों एवं राजनीतिक विकल्प से लेते हैं। ये लोग क्रान्ति की अवधारणा में रक्तपात, नर-संहार एवं हिंसा को भी जोड़ते हैं। उदाहरण के लिए, फ्रांस, रूस और चीन की राज्य-क्रान्ति में हिंसा एवं नरसंहार हुआ था, किन्तु क्रान्ति केवल राजनीतिक सत्ता के परिवर्तन तक ही सीमित नहीं होती है। धार्मिक, आर्थिक एवं सामाजिक क्षेत्र में भी क्रान्तियां घटित होती हैं, जिनमें हिंसा एवं रक्तपात का होना आवश्यक नहीं है। उदाहरण के लिए, औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप भारतीय समाज में तीव्र गति से परिवर्तन हो रहे हैं किन्तु उसमें हिंसा व नरसंहार का सहारा नहीं लिया गया है। क्रान्ति तो परिवर्तन की वह स्थिति है जिसमें तीव्र एवं अप्रत्याशित रूप से परिवर्तन घटित होते हैं तथा इनके परिणाम भी अप्रत्याशित होते हैं। अचानक एवं आकस्मिक सत्ता परिवर्तन को राजनीतिक क्रान्ति कहा जाता है। उद्योगों में मशीनों द्वारा तीव्र गति से बड़ी मात्रा में उत्पादन को औद्योगिक क्रान्ति अथवा आर्थिक क्रान्ति के नाम से पुकारा जाता है। धार्मिक प्रथाओं, मूल्यों एवं आदर्शों में परिवर्तन अथवा एक धर्म के स्थान पर दूसरे धर्म की स्थापना को धार्मिक क्रान्ति कहते हैं। जब सम्पूर्ण समाज की संरचना, संस्थाओं, समूहों, मूल्यों, आदर्शों, आदि में आमूल-चूल परिवर्तन आते हैं तो उसे सामाजिक क्रान्ति के नाम से जाना जाता है।

क्रान्ति का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Revolution)

क्रान्ति ऐसे परिवर्तनों को कहते हैं जो अचानक घटित होते हैं और जिनके परिणाम भी अप्रत्याशित होते हैं। क्रान्ति के परिणामस्वरूप समाज के नेतृत्व एवं संरचना में आमूल-चूल परिवर्तन आ जाते हैं।

क्रान्ति को परिभाषित करते हुए **बोगार्डस** लिखते हैं, "सामाजिक क्रान्ति असद्भावना तथा रक्तपात की कीमत पर शक्तिशाली विप्लव पैदा करके अच्छे व बुरे दोनों प्रकार के मूल्यों को उखाड़ फेंकती है तथा विस्तृत सामाजिक पुनर्गठन की मांग करती है।"

किम्बाल यंग के अनुसार, "क्रान्ति एक ऐसा आकस्मिक सामाजिक परिवर्तन है जो साधारणत: वर्तमान राजनीतिक व्यवस्था को बलपूर्वक उलट देने से घटित होता है और जिसके फलस्वरूप सामाजिक तथा कानूनी नियन्त्रण के नये स्वरूपों की स्थापना होती है।"

नोट

क्रेन ब्रिण्टन के अनुसार, "समाजशास्त्रीय रूप से सामाजिक क्रान्ति का अर्थ वर्तमान सामाजिक संरचना के अन्तर्गत व्यक्तियों की मनोवृत्तियों और सामाजिक मूल्यों में इस प्रकार का परिवर्तन हो जाना है कि वे उसको नये दृष्टिकोण से देखना प्रारम्भ कर दें।"

सिंगमण्ड न्यूमैन लिखते हैं, "क्रान्ति राजनीतिक संगठन, सामाजिक संरचना, आर्थिक सम्पत्ति पर नियन्त्रण तथा सामाजिक व्यवस्था की प्रमुख काल्पनिक अवधारणा में होने वाले व्यापक तथा आमूल-चूल परिवर्तन को कहते हैं, इस प्रकार क्रान्ति विकास की निरन्तरता को तोड़ देती है।"

फेचरचाइल्ड समाज में होने वाले अचानक परिवर्तनों को क्रान्ति कहते हैं। **सोरोकिन** का मत है कि जब समाज में सामाजिक लक्ष्यों एवं मूल्यों में अत्यधिक गड़बड़ी, अस्थिरता और अनिश्चितता पैदा हो जाती हो और इसके परिणामस्वरूप समाज में अशान्ति तथा समाज व सांस्कृतिक व्यवस्था में अस्थिरता पैदा हो जाती हो तो उसे क्रान्ति कहते हैं।

उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचन के आधार पर **सामाजिक क्रान्ति की निम्नांकित विशेषताएं प्रकट होती हैं :**

1. क्रान्ति सामाजिक परिवर्तन का एक ढंग या प्रकार है। यह एक ऐसा परिवर्तन है जो निरन्तर नहीं होता वरन् आकस्मिक रूप से घटित होता है।
2. क्रान्ति के कारण सामाजिक नेतृत्व में परिवर्तन आ जाता है, पुराने नेताओं एवं अभिजातों का स्थान नये नेता एवं अभिजात ग्रहण कर लेते हैं।
3. क्रान्ति का क्षेत्र व्यापक है, यह सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, आदि किसी भी क्षेत्र में घटित हो सकती है।
4. क्रान्ति के कारण समाज तथा उसके विभिन्न पक्षों में आमूल-चूल परिवर्तन आ जाता है।
5. क्रान्ति के परिणाम अप्रत्याशित होते हैं। किसी भी क्रान्ति के परिणामों के बारे में निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि उसके केवल अमुक परिणाम ही निकलेंगे।
6. क्रान्ति लाभदायक भी हो सकती है और हानिप्रद भी। क्रान्ति के कारण, कुछ पक्षों को लाभ होता है तो कुछ पक्षों को हानि।
7. क्रान्ति से कई बार हिंसा का बोध होता है, किन्तु क्रान्ति के कारण हिंसा होगी ही, यह आवश्यक नहीं है। कई बार हिंसा के द्वारा सत्ता परिवर्तन कर क्रान्ति लायी जाती है तो कई बार प्रजातन्त्र में 'मत' (vote) के आधार पर ही अहिंसात्मक तरीकों से सत्ता परिवर्तन कर क्रान्ति लायी जाती है।
8. क्रान्ति का उद्देश्य वर्तमान समाज-व्यवस्था के स्थान पर नयी समाज-व्यवस्था की स्थापना करना होता है न कि उसमें सुधार। सुधारवादियों एवं क्रान्तिकारियों में यही अन्तर है कि सुधारवादी पुरानी समाज-व्यवस्था की बुराइयों को दूर कर उसे ही बनाये रखना चाहते हैं जबकि क्रान्तिकारी पुरानी समाज व्यवस्था की कमियों के कारण उसे उखाड़कर नयी समाज-व्यवस्था की स्थापना करना चाहते हैं। क्रान्ति का जन्म सामाजिक असन्तोष के कारण होता है। जब समाज में असन्तोष बढ़ता जाता है और उसको दूर करने का प्रयत्न नहीं किया जाता है तो क्रान्ति जन्म लेती है।
9. सामान्यतः राजनीतिक क्रान्ति का सूत्रपात नीचे के तबके के द्वारा होता है। पैरेटो का मत है कि जब उच्च वर्ग भ्रष्ट हो जाता है तो निम्न वर्ग के शक्तिशाली व्यक्ति उसका स्थान ले लेते हैं।
10. क्रान्ति एक ऐसा परिवर्तन है जिसके लिए सचेत एवं जागरूक प्रयत्न किये जाते हैं, यह स्वतः नहीं आती है।
11. क्रान्ति में परिवर्तन की गति तीव्र होती है, उद्विकास की भांति धीमी नहीं।
12. क्रान्ति एक सामूहिक क्रिया है न कि व्यक्तिगत। इस अर्थ में क्रान्ति के लिए अनेक व्यक्तियों द्वारा सामूहिक रूप से प्रयास किये जाते हैं।

नोट

क्या क्रान्ति के लिए हिंसा आवश्यक है (Is Violence a Must for Revolution)

क्रान्ति के सन्दर्भ में यह प्रश्न किया जाता है कि क्या क्रान्ति के लिए हिंसा आवश्यक है अथवा क्या हिंसा से क्रान्ति लायी जा सकती है? इस प्रश्न के उत्तर सकारात्मक और नकारात्मक दोनों ही हैं। कई बार क्रान्ति लाने के लिए हिंसा अनिवार्य हो जाती है। जब क्रान्ति का उद्देश्य सामाजिक, आर्थिक व राजनीतिक परिवर्तन लाना हो, जब सत्ताधारी लोग अपने स्वार्थों में डूबे हुए हों और वे जनहित के कार्यों के प्रति उदासीन हों तथा नवीन परिवर्तनों का विरोध करते हों और सत्ता नहीं त्यागना चाहते हों तो ऐसी स्थिति में सत्ता परिवर्तन के लिए हिंसा आवश्यक हो जाती है और यह सामाजिक हित में भी होती है। अनेक विद्वान जैसे, डी टॉकविले, कार्ल मार्क्स, लेनिन, स्टालिन एवं माओत्से तुंग तथा अनेक अन्य साम्यवादी विचारक क्रान्ति के प्रारम्भिक स्तर पर हिंसा को आवश्यक मानते हैं क्योंकि सत्ता से चिपके लोगों को हटाने का कोई और तरीका नहीं है, किन्तु दूसरी ओर कुछ विचारकों का मत है कि सैद्धान्तिक दृष्टि से हिंसा क्रान्ति का आवश्यक अंग नहीं है। प्रजातन्त्र में अहिंसक विधियों से ही सत्ता परिवर्तन होता है और समाज में क्रान्तिकारी परिवर्तन किये जाते हैं। क्रान्ति की विभिन्न परिभाषाओं से भी स्पष्ट है कि हिंसा क्रान्ति का आवश्यक अंग नहीं है, किन्तु जब व्यावहारिक पक्ष पर दृष्टिपात करते हैं तो देखते हैं कि क्रान्ति के लिए हिंसा अथवा भय आवश्यक है। लोगों को पूंजीपतियों के आर्थिक शोषण से बचाने एवं आततायी शासकों से मुक्ति दिलाने के लिए आतंक एवं हिंसा का सहारा लेना ही होता है।

2.22 क्रान्ति के कारण एवं परिणाम (Causes and Consequences of Revolution)

प्रश्न उठता है कि वे कौन-सी दशाएं या कारक हैं जो क्रान्ति को जन्म देते हैं? इस सन्दर्भ में **फ्रायड** व उसके समर्थकों का मत है कि क्रान्तियां मानव की दमित इच्छा की मुक्ति का परिणाम हैं। जब लोगों की इच्छाओं का दमन होता है तो वे मुक्ति पाने के लिए क्रान्ति को जन्म देती हैं।

लीबां (LeBon) का मत है कि निम्न वर्ग के लोगों में पाशविक प्रवृत्तियां अधिक होती हैं, वे उच्च वर्ग की सत्ता छीनने के लिए ही क्रान्ति करते हैं।

गॉटशाक ने क्रान्ति के तीन कारणों का उल्लेख किया है–

(1) **परिवर्तन की मांग**–परिवर्तन की मांग तब आती है जब आर्थिक एवं राजनीतिक शक्तियों द्वारा कुप्रशासन किया जाता है अथवा जब जनमत नयी नियन्त्रण व्यवस्था की आवश्यकता महसूस करता है।

(2) **सफलता की आशा**–क्रान्ति के लिए भी आवश्यक है कि साहसी नेतृत्व हो जो लोगों को सफल होने की आशा बंधाये।

(3) **नियन्त्रणकारी समूह की कमजोरी में विश्वास**–क्रान्ति के लिए लोगों को सत्ताधारी समूहों की कमजोरियों की जानकारी आवश्यक है। लोगों को यह विश्वास होना चाहिए कि सत्ताधारी अब सड़ चुके हैं, वे अपने आप में विभाजित हैं और वे किसी भी प्रकार के संकट का मुकाबला नहीं कर सकते। सभी क्रान्तियों के जीवन इतिहास में इन कारणों को ढूंढा जा सकता है।

इलियट तथा **मैरिल** ने क्रान्ति के निम्न तीन प्रमुख कारणों का उल्लेख किया है :

1. **सुरक्षात्मक तनाव** (Security tensions)–समाज-व्यवस्था में प्रत्येक व्यक्ति को सुरक्षा प्राप्त होती है। उसे यह विश्वास होता है कि उसके हितों की रक्षा की जायेगी, किन्तु जब व्यक्ति समाज-व्यवस्था में असुरक्षा महसूस करने लगते हैं तो वे उस व्यवस्था को ही बदलने के लिए प्रयत्न करते हैं और उसके स्थान पर ऐसी नयी व्यवस्था की स्थापना के लिए संघर्ष करते हैं जिसमें उन्हें सुरक्षा प्राप्त हो।
2. **स्वतन्त्रता से सम्बन्धित तनाव** (Freedom tensions)–स्वतन्त्र रहने की भावना ने लोगों को सदैव ही क्रान्ति के लिए प्रेरित किया है। जब लोगों की स्वतन्त्रता का हनन किया जाता है, उन पर अनुचित नियन्त्रण लादे जाते हैं, उनका दमन किया जाता है तो लोग स्वतन्त्र होने के लिए क्रान्ति का सहारा लेते हैं। आजादी के लिए संघर्ष क्रान्ति का मूल मन्त्र रहा है। फ्रांस की राज्य-क्रान्ति में भी स्वतन्त्रता, समानता एवं बन्धुत्व का नारा दिया गया था।

3. **स्तरीकरण सम्बन्धी तनाव** (Stratification tensions)–प्रत्येक समाज में एक संस्तरण की व्यवस्था पायी जाती है जिसमें लोगों को उच्चता व निम्नता के क्रम में रखा जाता है, किन्तु समाज में ऐसी व्यवस्था भी की जाती है कि योग्य व्यक्ति उच्च पदों को हासिल कर सकें। जिस समाज में गतिशीलता का अभाव होता है, संस्तरण में कठोरता होती है और लोगों को अपनी प्रस्थिति परिवर्तित करने के अवसर प्राप्त नहीं होते हैं, वहाँ भी क्रान्ति की सम्भावना अधिक होती है। लोग दमन एवं शोषण से मुक्ति पाने एवं गतिशीलता के लिए सम्पूर्ण समाज-व्यवस्था को ही बदलना चाहते हैं जिसके परिणामस्वरूप क्रान्ति आती है।

क्रान्ति के कुछ अन्य कारण इस प्रकार हैं–

1. **युद्ध** (War)–युद्ध के कारण समाज में ऐसी स्थिति पैदा हो जाती है कि उससे मुक्ति पाने के लिए समाज में आमूल-चूल परिवर्तन की आवश्यकता महसूस होने लगती है। युद्धकाल क्रान्तियों के लिए उपयुक्त अवसर प्रदान करता है। रूस, तुर्की, ऑस्ट्रिया, हंगरी, जर्मनी तथा बुल्गेरिया, आदि अनेक देशों में युद्धकाल में ही क्रान्तियां हुई थीं।
2. **जनसंख्यात्मक कारक** (Demographic factors)–जब किसी देश की जनसंख्या में तीव्र गति से वृद्धि अथवा ह्रास होता है तो अनेक परिवर्तन घटित होते हैं। परिवार, विवाह, प्रथाओं, लोकाचारों, सामाजिक आदर्शों एवं मूल्यों में भी परिवर्तन की आवश्यकता महसूस की जाने लगती है, जिसके परिणामस्वरूप क्रान्ति द्वारा सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था को ही बदलने के प्रयत्न किये जाते हैं।
3. **आर्थिक कारक** (Economic factors)–अनेक सामाजिक क्रान्तियों में आर्थिक कारक प्रमुख रहे हैं। मार्क्स आर्थिक विषमता को क्रान्ति का प्रमुख कारण मानते हैं। वे कहते हैं कि समाज में प्रमुख रूप से दो वर्ग पाये जाते हैं–पूंजीपति एवं श्रमिक वर्ग। इन दोनों के बीच गहरी आर्थिक खाई होती है। पूंजीपति श्रमिक वर्ग के आर्थिक शोषण पर ही पनपता है। श्रमिक वर्ग इस शोषण से मुक्ति पाने के लिए संघर्ष करता है, फलस्वरूप क्रान्ति जन्म लेती है।
4. **राजनीतिक कारक** (Political factors)–राजनीतिक कारक भी क्रान्ति के मूल आधार रहे हैं। जब सत्ता भ्रष्ट हो जाती है और वह जनता के हितों का ध्यान नहीं रखती और अपने ही स्वार्थ में लिप्त हो जाती है तो समाज में शोषण और समस्याएं बढ़ती जाती हैं। परिणामस्वरूप जन-असन्तोष फूट पड़ता है और लोग ऐसी सत्ता को उखाड़ फेंकने के लिए क्रान्ति कर बैठते हैं। जब सत्ताधारी अन्यायी, आततायी एवं क्रूर हों तब भी क्रान्तियां जन्म लेती हैं। विदेशी सत्ता से मुक्ति पाने के लिए भी क्रान्ति की जाती है।
5. **सांस्कृतिक कारक** (Cultural factors)–सांस्कृतिक कारक भी क्रान्ति के लिए उत्तरदायी हैं। क्रान्ति का जन्म सर्वप्रथम मानव के मस्तिष्क में होता है। अत: जब विचारों, विश्वासों, मूल्यों एवं मनोवृत्तियों में परिवर्तन होता है तो क्रान्ति के लिए वातावरण बनता है। जब लोगों को नयी विचारधारा से परिचित कराया जाता है तो उनमें यह विश्वास पैदा होता है कि नयी समाज-व्यवस्था में उनका जीवन अधिक आनन्दमय होगा। अत: वे नयी विचारधारा के अनुसार समाज की रचना के लिए क्रान्ति कर बैठते हैं।

   जब समाज में नये आविष्कार होते हैं तो सामाजिक पर्यावरण में परिवर्तन आने लगता है, किन्तु प्राचीन संस्थाएं एवं संगठन समय के साथ बदलने में असमर्थ होते हैं, वे नवीनता का विरोध करते हैं और नयी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर पाते। अत: नवीन वातावरण से अनुकूलन करने के लिए पुरानी समाज-व्यवस्था को भी क्रान्ति द्वारा बदलना होता है।
6. **मनोवैज्ञानिक कारक** (Psychological factors)–मानसिक असन्तोष क्रान्ति का प्रमुख कारण रहा है। जब लोगों की आकांक्षाओं, भावनाओं तथा इच्छाओं का दमन किया जाता हो और उनकी अभिव्यक्ति के उचित अवसर उपलब्ध न हों तब भी समाज में क्रान्ति के अवसर मौजूद रहते हैं।
7. **सामाजिक कारक** (Social factors)–जब सामाजिक संरचना एवं संगठन में अव्यवस्था पैदा हो जाती है अथवा वे समय के साथ अनुकूलन करने में असमर्थ होते हैं तब भी लोगों में असन्तोष पैदा हो जाता है और वे सड़ी-गली व रूढ़िवादी समाज-व्यवस्था को बदलने के लिए क्रान्ति का सहारा लेते हैं।

नोट

क्रान्ति के परिणाम (Consequences of Revolution)

क्रान्ति के विभिन्न परिणाम निम्नलिखित हैं :

(1) विघटन–क्रान्ति के कारण समाज में वैयक्तिक एवं सामाजिक दोनों ही प्रकार का विघटन पैदा होता है। क्रान्ति के बाद समाज में नयी व्यवस्था जन्म लेती है जो व्यक्ति के व्यवहार पर नये प्रकार के नियन्त्रण लादती है। चूंकि व्यक्ति पुरानी व्यवस्था में ढले होते हैं, अतः वे नयी व्यवस्था का विरोध करते हैं। व्यक्ति मन में नयी व्यवस्था के प्रति तनाव एवं असन्तोष महसूस करते हैं, जिससे व्यक्तियों के विघटन की स्थिति पैदा हो जाती है। क्रान्ति में पुरानी, अच्छी व बुरी सभी व्यवस्थाओं को नष्ट कर दिया जाता है और उनके स्थान पर नयी संस्थाओं, संगठनों, मूल्यों एवं आदर्शों की स्थापना की जाती है, जिनसे एकदम सामंजस्य स्थापित करना लोगों के लिए असम्भव होता है। क्रान्ति में हिंसा का सहारा भी लिया जाता है जिससे समाज में कटुता, बैर और तनाव पैदा होता है और लोगों के सहयोगी सम्बन्ध नष्ट हो जाते हैं। नवीन सत्ताधारियों द्वारा भी क्रान्ति-विरोधी लोगों का दमन किया जाता है। इन सभी कारणों से समाज में विघटन की स्थिति पैदा हो जाती है।

(2) पारिवारिक विघटन–क्रान्ति के कारण कई परिवार नष्ट हो जाते हैं। हिंसा के कारण कई परिवारों के कमाने वाले सदस्य मौत के घाट उतार दिये जाते हैं, जिससे स्त्रियां विधवा एवं बच्चे अनाथ हो जाते हैं। भरण-पोषण के लिए स्त्रियां वेश्यावृत्ति व बच्चे अपराध का सहारा लेने लगते हैं। परिवार का परम्परागत व्यवसाय भी जब नष्ट हो जाता है तो सदस्यों का भरण-पोषण कठिन हो जाता है और परिवार दरिद्र हो जाता है। ऐसी दशा में परिवार के सदस्यों के पारस्परिक सम्बन्धों में तनाव एवं असन्तोष पैदा हो जाता है, जिसका परिणाम होता है पारिवारिक विघटन।

(3) आर्थिक असुरक्षा–क्रान्ति के समय समाज में लूटपाट, चोरी व डकैती का बोलबाला हो जाता है और समाज-विरोधी व्यक्ति अव्यवस्था की स्थिति का लाभ उठाकर शोषण करते हैं। समाज में आर्थिक अपराध बढ़ जाते हैं, लोगों के सम्पत्ति के अधिकार छीन लिये जाते हैं और उनकी सम्पत्ति हथिया ली जाती है। ऐसी स्थिति में भरण-पोषण करना भी कठिन हो जाता है। हिंसा व तोड़-फोड़ के कारण व्यापार एवं उत्पादन भी ठप्प हो जाता है, इससे भी आर्थिक दशा बिगड़ने लगती है।

(4) अपराधों में वृद्धि–क्रान्ति के दौरान यौन व्यवहार सम्बन्धी नियमों की भी अवहेलना की जाने लगती है जिससे यौन अपराध बढ़ जाते हैं। वेश्यावृत्ति एवं बलात्कार की दर भी बढ़ जाती है और समाज में व्यभिचार फैल जाता है। कामुक लोगों को अपनी इच्छाओं की पूर्ति का मौका मिल जाता है। फ्रांस एवं रूस की राज्य-क्रान्ति के दौरान वहाँ यौन व्यभिचार एवं वेश्यावृत्ति की दर अत्यधिक बढ़ गयी थी।

(5) सत्ता परिवर्तन–क्रान्ति का एक प्रमुख उद्देश्य सत्ता परिवर्तन होता है। जब किसी अक्षम एवं बुरी सत्ता को उखाड़ फेंका जाता है तब तो उचित है, किन्तु कई बार मात्र सत्ता हथियाने की दृष्टि से भी सैनिक क्रान्तियां होती हैं। ऐसी क्रान्ति में हत्या, खून-खराबा व हिंसा का खुलकर प्रयोग होता है, इससे समाज में आतंक एवं भय व्याप्त हो जाता है।

(6) धर्म के प्रभाव का ह्रास–क्रान्तिकारी लोग धर्म को क्रान्ति में बाधक मानते हैं, अतः वे उसे नष्ट करना चाहते हैं। धार्मिक विनाश के कारण समाज में अनियन्त्रण बढ़ जाता है क्योंकि कई बार हम धर्म एवं ईश्वर के भय के कारण ही नियन्त्रित आचरण करते हैं। इस प्रकार क्रान्ति धर्म पर गहरा आघात पहुंचाती है।

(7) जन-धन की हानि–क्रान्ति के दौरान क्रान्ति चाहने वाले एवं उसके विरोधी दोनों पक्षों में संघर्ष एवं मार-काट होती है, रक्तपात एवं हिंसा की स्थिति बन जाती है, इससे दोषी व निर्दोष सभी को जान से हाथ धोना पड़ता है। क्रान्ति में होने वाली जनहानि से समाज की शारीरिक व बौद्धिक श्रमशक्ति में कमी हो जाती है जिसका प्रभाव निर्माण के कार्यों पर भी पड़ता है। यही नहीं, क्रान्ति के दौरान तोड़-फोड़ व आगजनी के कारण व्यक्तिगत एवं राष्ट्रीय सम्पत्ति नष्ट हो जाती है, जिससे समाज को आर्थिक हानि भी उठानी पड़ती है। क्रांति एक सामूहिक आन्दोलन होता है, जिसका उद्देश्य होता है–सामाजिक व्यवस्था को नष्टकर लोकाचारों में परिवर्तन लाना।

सोरोकिन ने क्रान्ति से बचने के लिए निम्न उपायों का उल्लेख किया है–

(1) सुधार कार्यक्रम सदैव मानव स्वभाव एवं मानवीय भावनाओं को ध्यान में रखकर बनाये जायें।

(2) सुधार कार्यक्रम बनाने से पूर्व उस समाज के लोगों की आवश्यकताओं, स्वभाव एवं भावनाओं का वैज्ञानिक अध्ययन किया जाये।

(3) किसी भी सुधार-कार्यक्रम को बड़े पैमाने पर लागू करने से पूर्व उसे छोटे पैमाने पर लागू करके उसका परीक्षण कर लिया जाये।

नोट

(4) सुधार-कार्यक्रम वैधानिक एवं संवैधानिक ढांचे के दायरे में लागू किये जायें। क्रान्तियों व युद्धों को रोकने के लिए रचनात्मक एवं यथार्थवादी व्यवस्थाओं की स्थापना आवश्यक है।

सामाजिक उद्विकास, प्रगति, विकास और क्रान्ति को हम निम्न चित्र द्वारा व्यक्त कर सकते हैं :

चित्र 4 सामाजिक उद्विकास, प्रगति, विकास और क्रान्ति

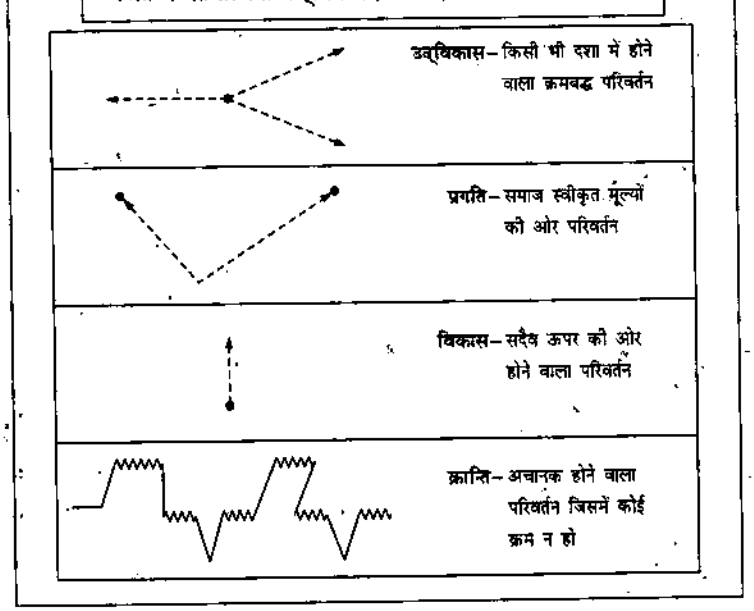

2.23 सारांश (Summary)

- कॉम्ट, स्पेन्सर, हॉबहाउस ने कहा है कि सामाजिक परिवर्तन सीधी रेखा में कुछ निश्चित स्तरों से होकर गुजरता है और प्रत्येक समाज को इन स्तरों से होकर गुजरना पड़ता है।
- मार्क्स ने सामाजिक परिवर्तन को प्रौद्योगिक एवं आर्थिक कारकों से जनित माना है।
- चक्रीय सिद्धान्त के अनुसार परिवर्तन का एक चक्र चलता है हम जहाँ से प्रारंभ होते हैं घूम फिर कर फिर उसी स्थिति में आ जाते हैं।
- चक्रीय सिद्धान्तकारों में स्पेंग्लर, टायनबी, पैरेटो, सोरोकिन प्रमुख हैं।
- समाजशास्त्र के जनक अगस्ट कॉम्ट ने भी उद्विकास, प्रगति और विकास में अंतर नहीं कर पाए। हॉब हाउस ने विकास और प्रगति का एक ही अर्थ में प्रयोग किया है।
- मेकाइवर एवं पेज के अनुसार "जब परिवर्तन में निरंतरता ही नहीं होती वरन् परिवर्तन की एक दिशा भी होती है तो ऐसे परिवर्तन से हमारा तात्पर्य उद्विकास से होता है।"
- प्रगति मूल्यों पर आधारित होती है।
- परिवर्तन की प्रकृति संचयी होती है।

नोट

2.24 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. काम्टे के सामाजिक परिवर्तन के सिद्धान्त क्या हैं?
2. मार्क्स का सामाजिक परिवर्तन का सिद्धान्त क्या है?
3. स्पेंग्लर के चक्रीय सिद्धान्त की व्याख्या करें।
4. सोरोकिन के सांस्कृतिक गतिशीलता के सिद्धांत पर प्रकाश डालें।
5. डार्विन का उद्विकासीय सिद्धांत क्या है?
6. उद्विकास के स्वरूपों का वर्णन करें।
7. प्रगति की अवधारणा एवं विशेषताओं का वर्णन करें।
8. सामाजिक प्रगति में सहायक दशाओं का वर्णन करें।
9. डार्विन का उद्विकासीय सिद्धांत क्या है?
10. प्रगति की अवधारणा को समझाएँ।
11. परिवर्तन के अर्थ समझाएँ।

2.25 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

1. विकास का समाजशास्त्र – *वन्दना वोहरा, ओमेगा पब्लिकेशन।*
2. विकास का समाजशास्त्र – *दूबे श्यामाचरन, वानी पब्लिकेशन।*
3. विकास का समाजशास्त्र– *एम. अहमद, न्यू एज इन्टरनेशनल।*
4. विकास का समाजशास्त्र– *राव राममेहर सिंह, अर्जुन पब्लिकेशन।*

नोट

इकाई–3: सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया (Processes of Social Change)

संरचना (STRUCTURE)

3.1 उद्देश्य (Objectives)
3.2 प्रस्तावना (Introduction)
3.3 संस्कृतीकरण (Sanskritisation)
3.4 पश्चिमीकरण का अर्थ (Meaning of Westernisation)
3.5 पश्चिमीकरण की विशेषताएँ (लक्षण) (Characteristics of Westernisation)
3.6 पश्चिमीकरण एवं सामाजिक परिवर्तन : कुछ प्रभाव (Westernisation and Social Change: Few Effects)
3.7 आधुनिकीकरण (Modernisation)
3.8 आधुनिकीकरण: परिवर्तन की एजेंसियाँ, मास मीडिया, शिक्षा और संचार (Modernisation: Agents of Change, Mass Media, Education and Communication)
3.9 एथनिसिटी, सांस्कृतिक पहचान और परिवर्तन (Ethnicity, Cultural Identity and Change)
3.10 आधुनिकीकरण और परिवर्तन की समस्याएँ (Modernisation and Problems of Change)
3.11 औद्योगीकरण एवं शहरी विकास (Industrialization and Urban Development)
3.12 वैश्वीकरण का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Globalisation)
3.13 वैश्वीकरण सिद्धान्त (Globalisation Theory)
3.14 वैश्वीकरण के पहलू (Aspects of Globalisation)
3.15 वैश्वीकरण के प्रभाव (Impact of Globalisation)
3.16 सारांश (Summary)
3.17 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)
3.18 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

3.1 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- संस्कृतीकरण की अवधारणा की जानकारी।
- पश्चिमीकरण का अभिप्राय समझना।
- आधुनिकीकरण की जानकारी प्राप्त करना।

- औद्योगीकरण एवं शहरी विकास को जानना।
- वैश्वीकरण की परिभाषा और प्रभाव को जानना।

नोट

3.2 प्रस्तावना (Introduction)

डॉ. एम.एन. श्रीनिवास ने भारतीय समाज में परिवर्तन की प्रक्रियाओं का अध्ययन करने हेतु संस्कृतीकरण एवं पश्चिमीकरण की अवधारणाओं को प्रस्तुत किया। इसे इस दिशा में प्रथम व्यवस्थित प्रयत्न माना जा सकता है। सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन का सिद्धांत यह मानकर चलता है कि परिवर्तन के स्रोत व्यवस्था के भीतर भी पाए जाते हैं तथा बाहर भी। संस्कृतीकरण की अवधारणा जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत वास्तविक तथा आकांक्षित, सांस्कृतिक एवं सामाजिक गतिशीलता को व्यक्त करती है, जबकि पश्चिमीकरण की अवधारणा उन परिवर्तनों से परिचित कराती है जो पश्चिमी व विशेषत: ग्रेट ब्रिटेन के साथ सांस्कृतिक सम्पर्क का परिणाम है। **डॉ. श्रीनिवास** ने पश्चिमीकरण शब्द का प्रयोग उन परिवर्तनों को प्रकट करने के लिए किया है जो भारत में 19वीं व 20वीं शताब्दी में अंग्रेजी शासन काल की अवधि में हुए।

3.3 संस्कृतीकरण (Sanskritisation)

दक्षिण-भारत के कुर्ग लोगों के सामाजिक और धार्मिक जीवन के विश्लेषण में, प्रसिद्ध भारतीय समाजशास्त्री **प्रो. एम.एन. श्रीनिवास** ने इस अवधारणा का सर्वप्रथम प्रयोग किया। मैसूर में कुर्ग लोगों का अध्ययन करते समय **प्रो. एम.एन. श्रीनिवास** ने पाया कि निम्न जातियों के लोग ब्राह्मणों की कुछ प्रथाओं का अनुकरण करने और अपनी स्वयं की कुछ प्रथाओं जैसे मांस खाना, शराब का प्रयोग तथा पशु-बलि आदि छोड़ने में लगे हुए थे। वे सब कुछ इसलिए कर रहे थे ताकि जातीय-संस्तरण की प्रणाली में उनकी स्थिति ऊंची उठ सके। ब्राह्मणों की वेशभूषा, भोजन संबंधी आदतें तथा कर्मकाण्ड आदि अपनाकर वे अपनी स्थिति को ऊंचा उठाने का प्रयत्न कर रहे थे। उन्होंने ब्राह्मणों के जीवन-पद्धति का अनुकरण करके एक-दो पीढ़ी में जातीय संस्तरण की प्रणाली में उच्च स्थिति प्राप्त करने की दृष्टि से मांग प्रस्तुत की। गतिशीलता की इस प्रक्रिया का वर्णन करने हेतु **प्रो. श्रीनिवास** ने प्रारम्भ में 'ब्राह्मणीकरण' नामक शब्द का प्रयोग किया। लेकिन बाद में इसके स्थान पर आपने 'संस्कृतीकरण' नामक अवधारणा का प्रयोग ज्यादा उपयुक्त समझा।

प्रो. श्रीनिवास ने अपनी पुस्तक 'रिलीजन एण्ड सोसायटी अमंग दी कुर्ग्स ऑफ साउथ इण्डिया' में गतिशीलता को व्यक्त करने के लिए "संस्कृतीकरण", नामक प्रयत्य का प्रयोग किया। **प्रो. श्रीनिवास** ने संस्कृतीकरण को परिभाषित करते हुए लिखा "संस्कृतीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा कोई निम्न हिन्दू जाति या कोई जनजाति अथवा कोई अन्य समूह, किसी उच्च और प्राय: द्विज जाति 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य' की दिशा में अपने रीति-रिवाज, कर्मकाण्ड, विचारधारा और जीवन पद्धति को बदलता है।" साधारणत: ऐसे परिवर्तनों के बाद निम्न जाति जातीय संस्तरण की प्रणाली में स्थानीय समुदाय में परम्परागत रूप से उसे जो स्थिति प्राप्त है, उससे उच्च स्थिति का दावा करने लगती है।

डॉ. योगेन्द्र सिंह ने लिखा है कि संस्कृतीकरण ब्राह्मणीकरण की अपेक्षा अधिक विस्तृत अवधारणा है। **प्रो. श्रीनिवास** ने स्वयं यह महसूस कर लिया था कि जिस प्रक्रिया ने निम्न जातियों को मैसूर में ब्राह्मणों के रीति-रिवाजों का अनुकरण करने के लिए प्रेरित किया, निम्न जातियों में उच्च जातियों के सांस्कृतिक तरीकों का अनुकरण करने की एक सामान्य प्रवृत्ति का ही एक विशिष्ट उदाहरण था। बहुत से मामलों में उच्च जातियाँ ब्राह्मण थीं। वे देश के विभिन्न भागों में क्षत्रिय, जाट, वैश्य आदि थे।

प्रो. श्रीनिवास के अनुसार, सामान्यत: संस्कृतीकरण के साथ-साथ और प्राय: उसके फलस्वरूप, सम्बद्ध जाति ऊपर की ओर गतिशील होती है, परन्तु गतिशीलता संस्कृतीकरण के बिना भी, अथवा गतिशीलता के बिना भी संस्कृतीकरण संभव है। किन्तु संस्कृतीकरण सम्बद्ध गतिशीलता के परिणामस्वरूप व्यवस्था में केवल पदमूलक परिवर्तन होते हैं और इससे कोई संरचनात्मक परिवर्तन नहीं होते अर्थात् एक जाति अपने पास की जातियों से ऊपर उठ जाती है और दूसरी नीचे आ जाती है। परन्तु यह सब कुछ अनिवार्यत: स्थायी संस्तरणात्मक व्यवस्था में घटित होता है, व्यवस्था स्वयं परिवर्तित नहीं होती है।

डॉ. वी. आर, चौहान ने संस्कृतीकरण नामक अवधारणा का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है, "यह एक उपकरण है जिसके द्वारा हम उस प्रक्रिया को मालूम कर सकते हैं जिसमें निम्न जाति तथा जनजाति अपने व्यवहार एवं जीवन के तरीके हिन्दू समाज के उच्च वर्णों के अनुसार बदलती हैं।"

नोट

संस्कृतीकरण के अर्थ को और अधिक स्पष्ट करते हुए **प्रो. श्रीनिवास** ने लिखा "संस्कृतीकरण का तात्पर्य केवल नई प्रथाओं एवं आदतों को ग्रहण करना नहीं है बल्कि नए विचारों व मूल्यों को भी व्यक्त करना है जिसका संबंध पवित्रता और धर्म निरपेक्षता से है और जो संस्कृत साहित्य में उपलब्ध है। कर्म; धर्म, पाप, पुण्य, माया, मोक्ष आदि ऐसे शब्द हैं जिनका संबंध धार्मिक संस्कृत साहित्य से है। जब लोगों का संस्कृतीकरण हो जाता है तो उनके द्वारा अनायास ही इन शब्दों का प्रयोग किया जाता है।".

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि संस्कृतीकरण वह प्रक्रिया है जिसके माध्यम से कोई निम्न हिन्दू जातीय-समूह अथवा कोई जनजातीय समूह अपनी सम्पूर्ण जीवन-विधि को उच्च जातियों या वर्णों की दिशा में बदल कर अपनी स्थिति को ऊँचा उठाने का प्रयत्न करता है, जातीय संस्तरण की प्रणाली में उच्च होने का दावा प्रस्तुत करता है।

संस्कृतीकरण की प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं–

1. संस्कृतीकरण की प्रक्रिया का सम्बन्ध निम्न हिन्दू जातियों, जनजातियों तथा कुछ अन्य समूहों से है। हिन्दू जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत संस्तरण की प्रणाली में अपने समूह की सामाजिक स्थिति को ऊँचा उठाने की दृष्टि से उपर्युक्त समूहों ने संस्कृतीकरण का सहारा लिया है। भील, ओराँव, संथाल तथा गोंड एवं हिमालय के पहाड़ी लोगों को उन जनजातीय लोगों में सम्मिलित किया जाता है जिन्होंने संस्कृतीकरण के माध्यम से अपनी सामाजिक स्थिति को ऊँचा उठाने और हिन्दू समाज का अंग बनने का प्रयत्न किया। अन्य समूहों के अन्तर्गत वे लोग आते हैं जिनका हिन्दू धर्म व संस्कृति से सम्बन्ध न होकर अन्य धर्मों एवं संस्कृतियों से सम्बन्ध है।
2. संस्कृतीकरण की प्रक्रिया के अन्तर्गत अपने से उच्च जातियों की जीवन-विधि का अनुकरण किया जाता है, उनकी प्रथाओं, रीति-रिवाजों, खान-पान, विश्वासों एवं मूल्यों को अपना लिया जाता है।
3. संस्कृतीकरण के आदर्श या मॉडल एक से अधिक हैं। अर्थात् निम्न जातियों एवं कुछ जनजातीय समूहों ने केवल ब्राह्मणों को ही आदर्श मानकर उनका अनुकरण नहीं किया, बल्कि क्षत्रिय, वैश्य एवं किसी स्थानीय प्रभु जाति का अनुकरण भी किया, उनकी जीवन-शैली को अपनाया। **पोकॉक** ने बतलाया है कि निम्न जातियों के लिए आदर्श अपने ऊपर की वे जातियां होती हैं जिनसे उनकी सबसे अधिक निकटता हो। **प्रो. श्रीनिवास** ने भी **पोकॉक** के इस कथन को सही माना है।
4. संस्कृतीकरण की प्रक्रिया में अग्रिम समाजीकरण का विचार शामिल है। **डॉ. योगेन्द्रसिंह** संस्कृतीकरण को अग्रिम समाजीकरण मानते हैं, अर्थात् कोई निम्न जातीय समूह एक दो पीढ़ी तक किसी उच्च जाति की जीवन-शैली की दिशा में अपना समाजीकरण करता है ताकि भविष्य में उसे उसके स्थानीय समुदाय में उच्च स्थान प्राप्त हो जाये। कोई भी जातीय समूह अपने इस प्रयत्न में उस समय आसानी से सफलता प्राप्त कर पाता है जब उसकी राजनीतिक एवं आर्थिक शक्ति बढ़ने लगती है या उसका संबंध किसी मठ, तीर्थ-केन्द्र आदि से हो जाता है।
5. संस्कृतीकरण की एक प्रमुख विशेषता यह है कि यह पदमूलक परिवर्तन को व्यक्त करने वाली प्रक्रिया है, न कि संरचनात्मक परिवर्तन को। इसका तात्पर्य यही है कि संस्कृतीकरण के माध्यम से किसी जातीय-समूह की स्थिति आस-पास की जातियों से कुछ ऊपर उठ जाती है परन्तु स्वयं जाति-व्यवस्था में कोई परिवर्तन नहीं होता है। संस्कृतीकरण की प्रक्रिया सामाजिक गतिशीलता को व्यक्त करती है। इससे किसी निम्न जातीय समूह के ऊपर उठने की सम्भावना रहती है।
6. संस्कृतीकरण की प्रक्रिया सामाजिक और सांस्कृतिक परिवर्तन को व्यक्त करती है, **मिल्टन सिंगर** ने लिखा है, "एम.एन. श्रीनिवास का संस्कृतीकरण का सिद्धान्त भारतीय सभ्यता में सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवर्तन का अत्यन्त विस्तृत और व्यापक रूप से स्वीकृत मानवशास्त्रीय सिद्धान्त है।" कहने का तात्पर्य यह है कि संस्कृतीकरण केवल सामाजिक परिवर्तन की एक प्रक्रिया नहीं है बल्कि सांस्कृतिक परिवर्तनों

नोट

की भी एक प्रक्रिया है। संस्कृतीकरण के फलस्वरूप भाषा, साहित्य, संगीत, विज्ञान, दर्शन, औषधि तथा धार्मिक विधान आदि के क्षेत्र में होने वाले परिवर्तन सांस्कृतिक परिवर्तनों के अन्तर्गत ही आते हैं।

7. संस्कृतीकरण की प्रक्रिया का संबंध किसी व्यक्ति या परिवार से नहीं होकर समूह से होता है। इस प्रक्रिया के द्वारा कोई जातीय या जनजातीय समूह अपनी स्थिति को ऊँचा उठाने का प्रयत्न करता है। यदि कोई व्यक्ति या परिवार ऐसा करता है तो उसे न केवल अन्य जातियों के बल्कि स्वयं की जाति के अन्य सदस्यों के क्रोध का भी भाजन बनना पड़ता है।
8. **बर्नार्ड कोहन** तथा **हेरोल्ड गोल्ड** नाम के विद्वानों के अध्ययनों के आधार पर **प्रो. श्रीनिवास** ने बताया है जहाँ निम्न जातियाँ अपने जीवन-शैलियों का संस्कृतीकरण कर रहीं हैं, वहीं उच्च जातियां आधुनिकीकरण एवं धर्म-निरपेक्षीकरण की ओर बढ़ रही हैं।

प्रो. श्रीनिवास ने स्वयं यह महसूस किया कि आपने प्रारम्भ में संस्कृतीकरण के ब्राह्मणी आदर्श पर आवश्यकता से अधिक जोर दिया। वास्तविकता यह है कि संस्कृतीकरण के आदर्श सदैव ब्राह्मण ही नहीं रहे हैं। **पोकॉक** ने क्षत्रिय आदर्श के अस्तित्व की चर्चा की है। **मिल्टन सिंगर** ने बतलाया है कि संस्कृतीकरण के एक या दो आदर्श ही नहीं पाये जाते, बल्कि चार नहीं तो कम से कम तीन आदर्श अवश्य मौजूद हैं। प्रथम तीन वर्ण के लोगों को द्विज कहते हैं क्योंकि इनका उपनयन संस्कार होता है और इन्हें वैदिक कर्मकाण्डों के सम्पन्न करने का अधिकार होता है जिनमें वेदों के मंत्रों का उच्चारण किया जाता है। **श्रीनिवास** के अनुसार, "द्विज" वर्णों में ब्राह्मण इन संस्कारों को पूरा करने के संबंध में सबसे अधिक सावधान होते हैं, और इसलिए दूसरों की अपेक्षा उन्हें संस्कृतीकरण का उत्तम आदर्श माना जा सकता है। लेकिन हमें यहाँ यह नहीं भूलना चाहिए कि स्वयं ब्राह्मण वर्ण में भी काफी विभिन्नता पाई जाती है।

ब्राह्मणों के अलावा क्षत्रिय और वैश्य वर्ण भी संस्कृतीकरण के आदर्श रहे हैं। देश के विभिन्न भागों में क्षत्रिय और वैश्य होने का दावा वे सब समूह करते हैं जिनकी क्रमशः सैनिक कार्य तथा व्यापार की परम्पराएँ रही हैं। देश के विभिन्न भागों में भी क्षत्रियों की और सभी वैश्यों की कोई समान कर्मकाण्ड की परम्परा नहीं रही है। इनमें से बहुत से लोगों के वे सब संस्कार नहीं होते जो कि द्विज वर्णों के लिए आवश्यक माने जाते हैं। कहीं कुछ समूहों ने ब्राह्मणों का, तो कहीं क्षत्रियों का और कहीं वैश्यों का अनुकरण किया है, इनकी जीवन-शैली को अपनाया है। नाई, कुम्हार, तेली, बढ़ई, लुहार, जुलाहे, गड़रिये आदि जातियाँ अपवित्रता रेखा के ठीक ऊपर अस्पृश्य या अछूत समूहों के निकट हैं। ये जातियाँ शूद्र वर्ण की जातियों का प्रतिनिधित्व-सा करती हैं। **प्रो. श्रीनिवास** के अवलोकन के आधार पर यह अनुभव है कि शूद्रों की व्यापक श्रेणी में कुछ अन्य जातियों का संस्कृतीकरण बहुत कम हुआ है। लेकिन चाहे उनका संस्कृतीकरण हुआ हो या नहीं हुआ हो, प्रभावी कृषक जातियाँ अनुकरण के स्थानीय आदर्श प्रस्तुत करती हैं और जैसा कि **पोकॉक** तथा **सिंगर** ने अवलोकित किया है कि ऐसी जातियों के माध्यम से ही क्षत्रिय (तथा अन्य) आदर्शों को अपनाया गया है।

स्थानीय प्रभावी जातियाँ (प्रभु जाति) संस्कृतीकरण की प्रक्रिया में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। यदि स्थानीय प्रभावी जाति ब्राह्मण है, तब संस्कृतीकरण का आदर्श ब्राह्मणी प्रकार का होगा और यदि यह राजपूत या वैश्य है, तब आदर्श राजपूती या वैश्यी प्रकार का होगा। **प्रो. श्रीनिवास** के अनुसार, यद्यपि एक लम्बी काल अवधि से ब्राह्मणी कर्मकाण्ड और प्रथाएँ नीची जातियों में फैली हैं, लेकिन बीच-बीच में स्थानीय रूप में प्रभुता-सम्पन्न जाति का भी शेष लोगों के द्वारा अनुकरण किया गया और प्रायः स्थानीय रूप से प्रभावी ये जातियाँ ब्राह्मण नहीं होती थीं। यह कहा जा सकता है कि निम्नस्तर वाली अनेक जातियों में ब्राह्मणी प्रथाएँ एक शृंखलाबद्ध प्रतिक्रिया के रूप में पहुँची हैं अर्थात् प्रत्येक समूह ने अपने से एक स्तर ऊँचे समूह से कुछ ग्रहण किया और अपने से नीचे वाले समूह को कुछ दिया है।

3.4 पश्चिमीकरण का अर्थ (Meaning of Westernisation)

डॉ. श्रीनिवास ने पश्चिमीकरण का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है, "मैंने 'पश्चिमीकरण' शब्द का प्रयोग भारतीय समाज व संस्कृति में उन परिवर्तनों के लिए किया है जो एक सौ पचास वर्षों से अधिक समय के अंग्रेजी राज

के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुए हैं और यह शब्द प्रौद्योगिकी, संस्थाओं, वैचारिक मूल्यों आदि विभिन्न स्तरों पर होने वाले परिवर्तनों का समावेश करता है।"

लिंच (Lynch) ने श्रीनिवास को उद्धृत करते हुए लिखा है, "पश्चिमीकरण में पश्चिमी पोशाक, खान-पान, तौर-तरीके, शिक्षा, विधियाँ और खेल, मूल्यों आदि को सम्मिलित किया जाता है।"

नोट

इन परिभाषाओं से स्पष्ट है कि पश्चिमीकरण की अवधारणा के अन्तर्गत भारत में होने वाले वे सभी सांस्कृतिक परिवर्तन और संस्थात्मक नवीनताएँ आ जाती हैं जो इस देश में पश्चिमी देशों प्रमुखतः इंग्लैण्ड के साथ राजनीतिक एवं सांस्कृतिक सम्पर्क के कारण आयी हैं। पश्चिमीकरण का तात्पर्य विविध प्रकार के परिवर्तनों से है, जैसे वस्त्र, भोजन खाने के तरीके, रहन-सहन के ढंग आदि के परिवर्तनों से। **डॉ. योगेन्द्र सिंह** ने लिखा है कि "मानवतावाद (Humanitarianism) तथा बुद्धिवाद (Rationalism) पर जोर पश्चिमीकरण का एक अंग है जिसने भारत में संस्थागत या सामाजिक सुधारों का सिलसिला प्रारम्भ कर दिया। वैज्ञानिक, औद्योगिक एवं शिक्षण संस्थाओं की स्थापना, राष्ट्रीयता का उदय, देश में नवीन राजनीतिक संस्कृति और नेतृत्व सबके सब पश्चिमीकरण के उत्पादन (byproducts) हैं।" स्पष्ट है कि पश्चिमीकरण ने भारत में मानवतावादी दृष्टिकोण को अपनाने तथा तार्किक ढंग से विचार करने के लिए लोगों को प्रेरित किया। पश्चिमीकरण का तात्पर्य केवल पाश्चात्य रीति-रिवाजों व ढंगों को अपनाना मात्र ही नहीं है। यह एक जटिल एवं सर्वव्यापक अवधारणा है। इसके अन्तर्गत विज्ञान, तकनीकी, प्रयोग-सिद्ध पद्धति इत्यादि आते हैं। पश्चिमीकरण ने समतावादी और लौकिक (Equalitarian and Secular) दृष्टिकोण के विकास में सहायता प्रदान की। लोग विभिन्न समस्याओं के प्रति अब तार्किक दृष्टिकोण अपनाने लगे हैं। पश्चिमीकरण में कुछ मूल्य वरीयताएँ (Value Preferences) भी सम्मिलित हैं। इस प्रकार का मूल्य जिसमें अनेक मूल्य सम्मिलित हैं, मानवतावाद है जिसका अभिप्राय जाति, आर्थिक स्थिति, धर्म, आयु एवं लिंग को ध्यान में नहीं रखते हुए सभी मनुष्यों के कल्याण में सक्रिय रुचि से है। समतावाद एवं लौकिकीकरण दोनों ही मानवतावाद में शामिल हैं।

3.5 पश्चिमीकरण की विशेषताएँ (लक्षण) (Characteristics of Westernisation)

श्रीनिवास ने पश्चिमीकरण की निम्नांकित विशेषताओं का उल्लेख किया है :

1. **नैतिक रूप से तटस्थ**–पश्चिमीकरण नैतिक रूप से तटस्थ अवधारणा है, अर्थात् यह धारणा यह नहीं बताती कि पश्चिम के प्रभाव के कारण भारत में होने वाले परिवर्तन अच्छे हैं या बुरे। यह तो केवल परिवर्तनों को बतलाती है, अच्छाई व बुराई के मूल्यों से यह अवधारणा स्वतन्त्र है।
2. **एक व्यापक अवधारणा**–पश्चिमीकरण एक व्यापक अवधारणा है जिसमें भौतिक और अभौतिक संस्कृति से सम्बन्धित सभी परिवर्तन आ जाते हैं। इसके अन्तर्गत पश्चिम के प्रभाव के कारण उत्पन्न होने वाले वे सभी परिवर्तन आ जाते हैं जो प्रौद्योगिकी, धर्म, परिवार व जाति, राजनीति, प्रथाओं, आदर्शों, विश्वासों, मूल्यों, फैशन, खान-पान, रहन-सहन, यातायात एवं संचार, कला, साहित्य, शिक्षा, न्याय, प्रशासन एवं अन्य संस्थाओं में घटित हुए हैं। **वी.कुण्णूस्वामी** कहते हैं कि श्रीनिवास द्वारा काम में ली गयी पश्चिमीकरण की अवधारणा में निम्नलिखित बातें सम्मिलित हैं : (अ) व्यवहार सम्बन्धी पक्ष, जैसे खाना-पीना, वेश-भूषा, नृत्य आदि (ब) ज्ञान सम्बन्धी पक्ष, जैसे साहित्य, विज्ञान आदि (स) मूल्य सम्बन्धी पक्ष, जैसे मानवतावाद, समतावाद, लौकिकीकरण।
3. **एक वैज्ञानिकी अवधारणा**–पश्चिमीकरण की अवधारणा चूंकि मूल्य की दृष्टि से एक तटस्थ अवधारणा है, अतः यह वैज्ञानिक अवधारणा है। इसके द्वारा हम किसी भी समाज में घटित होने वाले परिवर्तनों का विश्लेषण कर सकते हैं।
4. **अनेक प्रारूप**–पश्चिमीकरण के हमें अंग्रेजी, अमरीकी, रूसी और विभिन्न यूरोपीय देशों के प्रारूप या आदर्श देखने को मिलेंगे। सभी प्रारूपों में कुछ तत्व तो समान रूप से पाये जाते हैं। चूंकि अंग्रेजों ने ही

नोट

भारतीयों को पश्चिमी संस्कृति के विभिन्न सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक एवं भौतिक पक्षों से परिचित कराया, अतः भारत में अंग्रेजी आदर्श ही विद्यमान हैं, यद्यपि वर्तमान में अमरीकी और रूसी प्रारूप भी प्रभावशाली होते जा रहे हैं।

5. **जटिल तथा बहुस्तरीय प्रक्रिया**–श्रीनिवास कहते हैं कि पश्चिमीकरण की प्रक्रिया एक जटिल प्रक्रिया है जिसका प्रभाव सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, धार्मिक, प्रौद्योगिकी एवं अन्य स्तरों पर देखा जा सकता है। एक समाज के विभिन्न पक्षों पर पश्चिमीकरण का प्रभाव भिन्न-भिन्न रहा है। कोई पक्ष अधिक प्रभावित व परिवर्तित हुआ है तो कोई कम। कुछ लोगों ने पश्चिमी खान-पान तथा वस्त्रों को अपनाया है तो कुछ ने पश्चिमी आदर्शों, मूल्यों और विश्वासों को, तो कुछ ने पश्चिमी प्रौद्योगिकी को। समाज के सभी पक्षों पर पश्चिमीकरण का प्रभाव समान रूप से नहीं पड़ा है। भारत में पश्चिमीकरण की गति सर्वत्र ही समान नहीं है। मैसूर में पश्चिमीकरण की दौड़ में ब्राह्मण सबसे आगे रहे हैं।

6. **चेतन और अचेतन प्रक्रिया**–पश्चिमीकरण का प्रभाव भारतीय समाज पर चेतन और अचेतन दोनों ही प्रकार से पड़ा है। कई पश्चिमी तत्वों को तो हम जान-बूझकर प्रयत्नपूर्वक ग्रहण करते हैं और कई हमें अप्रत्यक्ष तथा अचेतन रूप से प्रभावित करते हैं और वे हमारे व्यवहार तथा दैनिक जीवन के अंग बन जाते हैं।

3.6 पश्चिमीकरण एवं सामाजिक परिवर्तन : कुछ प्रभाव (Westernisation and Social Change : Few Effects)

भारत में अंग्रेजों के लगभग 190 वर्षों के शासन के कारण भारतीय समाज एवं संस्कृति में अनेक परिवर्तन हुए। भारतीयों के खान-पान, रहन-सहन, प्रथाओं, आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक एवं सामाजिक संस्थाओं तथा संस्कृति के क्षेत्र में घटित होने वाले परिवर्तनों का हम यहां उल्लेख करेंगे :

1. **खान-पान व रहन-सहन में परिवर्तन** (Change in food and living habits)–अंग्रेजों के सम्पर्क के कारण भारतीयों के खान-पान एवं रहन-सहन में कई परिवर्तन हुए। परम्परात्मक व्यवस्था में ब्राह्मण एवं उच्च वर्ग के व्यक्ति शाकाहारी थे, वे माँस एवं मदिरा का सेवन नहीं करते थे। कई प्रकार के कन्दमूलों, जैसे आलू, लहसुन, प्याज, चुकन्दर आदि का भी प्रयोग वे नहीं करते थे। भोजन करने से पूर्व स्नान किया जाता और आंगन को लीपकर शुद्ध करके, शुद्ध वस्त्र पहनकर भोजन किया जाता था, किन्तु अंग्रेजी प्रभाव के कारण अब सभी जातियों के व्यक्ति मांस, मदिरा व अण्डे आदि का सेवन करने लगे और सभी प्रकार के जमींकन्द; जैसे आलू, लहसुन, प्याज, चुकन्दर आदि का भी प्रयोग करने लगे। अब भोजन से पूर्व स्नान करना और शुद्ध वस्त्र धारण करना आवश्यक नहीं समझा जाता।

   अब भोजन करते समय जूते उतारना आवश्यक नहीं माना जाता। होटलों व जलपान गृहों में बना भोजन, चाय, कॉफी, बिस्कुट, केक, आइसक्रीम, मिठाई, नमकीन आदि का भी अब लोग सेवन करने लगे जिनसे पहले परहेज रखा जाता था। सिगरेट व चुरूट आदि पीने का प्रचलन भी बढ़ा। अब लोग धोती व कुर्ते के स्थान पर पेन्ट, कोट, शर्ट, टाई व हैट का प्रयोग करने लगे व बाल रखने का प्रचलन बढ़ा। स्त्रियाँ लंहगा व साड़ी के स्थान पर जीन्स, मैक्सी, गाउन, 'टापलेस वस्त्र' धारण करने लगीं, जूड़े एवं बॉब कट बाल रखने का प्रचलन बढ़ा। सौन्दर्य प्रसाधनों का भी अधिकाधिक प्रयोग किया जाने लगा।

2. **सामाजिक जीवन एवं संस्थाओं में परिवर्तन** (Change in social life and institutions)–पश्चिमीकरण के कारण भारतीयों के सामाजिक जीवन एवं संस्थाओं में भी अनेक परिवर्तन घटित हुए। जाति-प्रथा, संयुक्त परिवार प्रणाली, विवाह तथा स्त्रियों की सामाजिक प्रस्थिति में परिवर्तन आया।

   (*i*) **जाति-प्रथा में परिवर्तन**–अंग्रेजों के आने से पूर्व भारत में जाति-प्रथा का कठोर रूप पाया जाता था। व्यक्ति के जन्म से लेकर मृत्यु तक के कार्यकलापों का निर्धारण जाति ही करती थी, किन्तु जब अंग्रेज भारत में आये तो उन्होंने यहां बड़े-बड़े उद्योगों की स्थापना की, औद्योगीकरण व नगरीकरण की नींव रखी, यातायात एवं संचार के नवीन साधनों जैसे रेल, बस, रिक्शा, ट्राम, जहाज,

वायुयान, सड़कें, डाक, तार, टेलीविजन, प्रेस, अखबारों आदि से भारतीयों को परिचित कराया। अब विभिन्न जातियों के व्यक्ति एक ही कारखाने में साथ-साथ काम करने लगे, साथ-साथ यात्रा करने लगे, इससे छुआछूत कम हुई तथा जातीय उच्चता और निम्नता की भावना शिथिल हुई। एक जाति के व्यक्ति दूसरी जाति के व्यवसाय को भी करने लगे। अन्तर्जातीय विवाहों का प्रचलन बढ़ा, जजमानी सम्बन्ध समाप्त हुए और पैसा देकर दूसरी जातियों की सेवाएं खरीदी जाने लगीं। व्यक्ति का मूल्यांकन अब जाति के आधार पर नहीं वरन् उसके गुणों के आधार पर होने लगा। खान-पान सम्बन्धी जातीय निषेधों में कमी आयी तथा जाति पंचायतों का महत्त्व घटा। पश्चिम के वैधानिक एवं समानता के मूल्यों ने जातीय भेदभाव कम और समानता के विचारों का प्रसार अधिक किया।

नोट

(*ii*) **विवाह में परिवर्तन**–परम्परात्मक हिन्दू समाज में एक व्यक्ति को अपनी ही जाति में विवाह करना होता था, विधवाओं को पुनर्विवाह की स्वीकृति नहीं थी तथा बाल-विवाह का अधिक प्रचलन था, बहुविवाह, कुलीन विवाह तथा कन्यादान की प्रथा थी और विवाह को एक धार्मिक संस्कार माना जाता था तथा तलाक का प्रचलन नहीं था। विवाह में सपिण्ड, सप्रवर और सगोत्र के नियमों का पालन किया जाता था, किन्तु पश्चिम के विचारों, मूल्यों और आदर्शों ने विवाह के नियमों में कई परिवर्तन किये, बाल-विवाह कम हुएं, विलम्ब-विवाह होने लगे, विधवाओं को पुनर्विवाह की छूट मिली, अन्तर्जातीय विवाह, प्रेम-विवाह और कोर्ट मैरिज होने लगे। प्रवर, सपिण्डता और सगोत्र के नियम भी ढीले हुए। विवाह को धार्मिक संस्कार के स्थान पर समझौता मानने की प्रवृत्ति बढ़ी। पत्नी पति को परमेश्वर न मानकर एक मित्र व सहयोगी समझने लगी। तलाकों का प्रचलन बढ़ा, कुलीन विवाह तथा बहुविवाह समाप्त हुए और एक विवाह को ही उत्तम माना जाने लगा। इस प्रकार भारत में विवाह संस्था में परिवर्तित हुई।

(*iii*) **परिवार में परिवर्तन**–भारत में अंग्रेजों के आने से पूर्व संयुक्त परिवार ही परिवार का प्रमुख स्वरूप था जिसमें तीन-चार पीढ़ियों के व्यक्ति एक साथ रहते भोजन व पूजन करते तथा जिनकी सम्पत्ति सामूहिक होती थी और जिसका संचालन परिवार का वयोवृद्ध व्यक्ति करता था, किन्तु पश्चिमीकरण के प्रभाव के कारण परम्परात्मक संयुक्त परिवार, प्रणाली में परिवर्तन हुआ। पश्चिम ने भारतीयों को व्यक्तिवाद, भौतिकवाद, अस्तित्ववाद और समानता के विचारों से परिचित कराया, फलस्वरूप परिवार के सदस्यों ने व्यक्तिगत अधिकारों एवं कर्ता के नियन्त्रण से स्वतन्त्रता की मांग की। दूसरों के लिए त्याग व बलिदान के स्थान पर लोगों में व्यक्तिगत स्वार्थ की भावना पनपी। इन सभी के सामूहिक प्रभाव के कारण संयुक्त परिवार पर विपरीत प्रभाव पड़ा और वे टूटने लगे तथा पति-पत्नी व बच्चों से निर्मित छोटे परिवार में रहने की प्रवृत्ति बढ़ी।

(*iv*) **स्त्रियों की स्थिति में परिवर्तन**–पश्चिम के प्रभाव के कारण स्त्रियों की परम्परात्मक सामाजिक स्थिति में परिवर्तन हुआ। स्त्रियों को भी शिक्षा दी जाने लगी, इससे उनका मानसिक विकास हुआ, वे पश्चिम के साहित्य के द्वारा मूल्यों और आदर्शों से परिचित हुईं तथा उनमें जागृति आयी। स्त्रियों की स्थिति को सुधारने के भी अनेक प्रयास हुए। सती प्रथा का अन्त हुआ व बाल-विवाह कम हुए तथा विधवा-विवाह प्रारम्भ हुए। स्त्रियों का कार्य-क्षेत्र अब केवल घर ही नहीं रहा वरन् वे पुरुषों के समान सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक सभी क्षेत्रों में कार्य करने लगीं और स्त्री-पुरुष की समानता के विचार पनपे।

3. **धार्मिक जीवन में परिवर्तन** (Changes in religious life)–अंग्रेजी शासन से पूर्व भारत में अनेक धार्मिक अन्धविश्वास, कर्मकांण्ड, पाखण्ड, ढोंग, आदि का प्रचलन था और धर्म के नाम पर यहाँ अनेक बुराइयाँ पनप रही थीं। सती-प्रथा, बाल-विवाह, जाति-प्रथा, देवदासी-प्रथा, छुआछूत, विधवा-पुनर्विवाह निषेध, मानव-बलि, पर्दा-प्रथा, मृत्युभोज आदि बुराइयों का सम्पूर्ण भारत में बोलबाला था। इन सभी की पुष्टि धार्मिक आधार पर की गयी थी। पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव एवं ईसाई धर्म के प्रचार के कारण इन धार्मिक बुराइयों की समाप्ति के लिए प्रयत्न किये गये और अनेक धार्मिक व सुधारवादी आन्दोलन भी

नोट

हुए जिनके परिणामस्वरूप बहुत कुछ सीमा तक धार्मिक बुराइयां भी समाप्त हुई और धर्म में रूढ़िवाद का अन्त हुआ।

4. **राजनीतिक जीवन में परिवर्तन** (Changes in political life)–अंग्रेजों के आने से पूर्व भारत में रियासतें तथा राजे-रजवाड़े थे और छोटे-छोटे भू-क्षेत्रों पर सामन्तों का शासन था। प्रत्येक गाँव में एक ग्राम-पंचायत होती थी जो गाँव का शासन सम्बन्धी कार्य करती थी। शासन कार्य में धार्मिक नियमों का पालन किया जाता था। प्रत्येक सामन्त के शासन के अपने-अपने नियम थे। इस प्रकार अंग्रेजों से पूर्व भारत प्रशासनिक दृष्टि से कई टुकड़ों में बँटा हुआ था और सामन्त लोग परस्पर युद्ध किया करते थे, किन्तु जब भारत में अंग्रेजों का राज्य स्थापित हुआ तो उन्होंने पंचायतों के अधिकार छीन लिए, शासन में धार्मिक सिद्धान्तों का बहिष्कार किया तथा सम्पूर्ण भारत को एक राजनीतिक सत्ता के अधीन संगठित किया। देश के विभिन्न भागों में प्रचलित कानूनों को संहिताबद्ध करवाया और एक समान न्याय-व्यवस्था लागू की। सारे देश के लिए पुलिस एवं फौज की व्यवस्था की गयी। यातायात एवं संचार के नवीन साधनों के कारण प्रशासन का कार्य सरल हो गया। सन्देशवाहन व यातायात के नवीन साधनों, नयी शिक्षा प्रणाली, प्रेस व अखबार एवं विदेशों से सम्पर्क के कारण भारतीयों में राष्ट्रीयता की भावना एवं राजनीतिक जागृति पैदा हुई भारत के विभिन्न क्षेत्रों में निवास करने वाले लोग अपने धर्म, जाति, प्रजातीय एवं प्रान्तीय भेदभाव भुलाकर संगठित हुए और भारत से अंग्रेजों को खदेड़ दिया। अंग्रेजों ने ही भारतीयों को आधुनिक प्रजातन्त्र और संसदीय प्रणाली से परिचित कराया तथा वर्तमान नौकरशाही भी भारत को उन्हीं की देन है। राजनीतिक क्षेत्र में अंग्रेजों के कारण भारत को कई उपलब्धियाँ हुई साथ ही भाषावाद, प्रान्तवाद, क्षेत्रवाद, साम्प्रदायिकता एवं जातिवाद की भावनाओं ने भी यहां जोर पकड़ा।

5. **साहित्य के क्षेत्र में परिवर्तन** (Changes in the field of literature)–पश्चिमीकरण का भारतीय साहित्य पर भी प्रभाव पड़ा क्योंकि अंग्रेजी साहित्य विश्व-प्रसिद्ध समृद्ध साहित्य है। अंग्रेजी भाषा के द्वारा भारतीय विद्वान विश्व के अन्य साहित्यकारों के बारे में जानकारी प्राप्त करने में समर्थ हुए और हिन्दी तथा अन्य प्रान्तीय भाषाओं के साहित्य भी समृद्ध हुए। अंग्रेजी भाषा के अनेक शब्दों का प्रयोग भारतीयों द्वारा किया जाने लगा। हिन्दी में कहानियों, उपन्यासों, लेखों तथा गद्य-साहित्य का प्रयोग बढ़ा।

6. **ललित कला में परिवर्तन** (Changes in fine arts)–ललित कला के क्षेत्र में भी पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव पड़ा।

स्थापत्य कला–अंग्रेजों द्वारा भारत के प्रमुख नगरों में भवन-निर्माण का कार्य करवाया गया जिसमें गॉथिक रोमन तथा विक्टोरिया युग की स्थापत्य कला का सम्मिश्रण पाया जाता है। कोलकाता का विक्टोरिया मेमोरियल पाश्चात्य स्थापत्य कला का एक जीता-जागता उत्कृष्ट नमूना है। उदयपुर, जोधपुर, बीकानेर, मैसूर, दिल्ली आदि में निर्मित कई इमारतों व मन्दिरों में भारतीय और पाश्चात्य कला दोनों का अभिनव मिश्रण देखने को मिलता है। मुम्बई तथा कोलकाता में ऐसे केन्द्रों की स्थापना की गयी जिनमें नवीन ढंग के भवनों के चित्रों व नमूनों को प्रस्तुत किया गया।

चित्रकला–ब्रिटिश शासकों ने भारत में शिक्षा के साथ-साथ कला-केन्द्रों की भी स्थापना की जहाँ पाश्चात्य परम्पराओं के अनुसार ड्राइंग, मॉडल व चित्र आदि बनाने का प्रशिक्षण दिया जाने लगा। इसका प्रभाव भारतीय चित्रकला पर भी पड़ा और चित्रकला के क्षेत्र में भारतीयों में जागृति पैदा हुई है। **ई.बी. हैवेल** ने भारतीय चित्रकला का पुनर्निर्माण किया। 1903-04 में रवीन्द्रनाथ टैगोर ने पाश्चात्य एवं भारतीय कला शैली के मिश्रण से एक नवीन शैली तैयार की जिसे 'बंगाल-शैली' कहा जाता है। गुजरात व अहमदाबाद में भी कई चित्रकार उत्पन्न हुए। नन्दलाल बोस, रविशंकर रावल, कनु देसाई, हल्दनकर तथा गंगोली आदि ऐसे चित्रकार हैं जो पश्चिमी शैली से प्रभावित थे।

नृत्य तथा संगीत कला में परिवर्तन–अंग्रेजों के भारत में आने से पूर्व नृत्य एवं संगीत का क्षेत्र संकुचित हो गया था और यह कुछ राजघरानों तक ही सीमित रह गया था, किन्तु पश्चिमी प्रभाव के कारण नृत्य एवं संगीत के क्षेत्र में जागृति आयी। इस क्षेत्र में रवीन्द्रनाथ टैगोर प्रमुख व्यक्ति थे जिनके संगीत को

'रवीन्द्र संगीत' के नाम से जाना जाता है। पाश्चात्य संगीत से भारतीय शास्त्रीय संगीत तो अप्रभावित रहा। किन्तु सामान्य संगीत पर इसका बहुत अधिक प्रभाव पड़ा। फिल्मों में पाश्चात्य धुन, यन्त्रों एवं नृत्यों का प्रचलन बढ़ा। पार्टियों, क्लबों तथा संगीत सभाओं में हमें पाश्चात्य धुनें अधिक सुनने को मिलेंगी।

नोट

7. **शिक्षा के क्षेत्र में परिवर्तन** (Changes in educational field)—परम्परात्मक भारत में शिक्षा की गुरुकुल प्रणाली प्रचलित थी। शिक्षा सभी लोगों के लिए उपलब्ध नहीं थी वरन् एक विशेष जाति (ब्राह्मणों) तक ही सीमित थी। अन्य लोग अपने जातीय व्यवसाय की ही शिक्षा ग्रहण करते थे और वह भी अपने परिवार में ही, किन्तु जब अंग्रेज भारत में आये तो उन्हें राजकाज चलाने के लिए अंग्रेजी पढ़े-लिखे बाबुओं की आवश्यकता महसूस हुई और उन्होंने अंग्रेजी शिक्षण संस्थाएँ स्थापित कीं। अंग्रेजों ने यहां सार्वभौमिक शिक्षा प्रणाली प्रारम्भ की। अब सभी वर्गों एवं जातियों के व्यक्ति अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करने लगे। इससे शिक्षा का प्रसार हुआ। अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त व्यक्तियों को राजकीय सेवा में प्राथमिकता दी गयी। इस शिक्षा में उदारवाद, धर्म-निरपेक्षवाद, विज्ञानवाद, प्रजातन्त्र, समानता व स्वतन्त्रता के आदर्श निहित थे। अतः इस शिक्षा को ग्रहण करने के बाद भारतीयों के विचारों, आदर्शों, मूल्यों एवं जीवन-शैली में परिवर्तन आया। अंग्रेजी शिक्षा के कारण अनेक धार्मिक एवं सामाजिक कुरीतियों, अन्धविश्वासों एवं आडम्बरों का अन्त हुआ क्योंकि पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त विद्वानों ने धार्मिक एवं सामाजिक सुधार के आन्दोलन चलाये। वर्तमान में की जाने वाली कृषि, विज्ञान, चिकित्सा, इंजीनियरिंग, कानून आदि की शिक्षा और विभिन्न प्रकार का प्रशिक्षण भी अंग्रेजों की ही देन है।

8. **आर्थिक क्षेत्र में परिवर्तन** (Changes in economic field)—अंग्रेजों के भारत में आने से पूर्व भारतीय अर्थव्यवस्था एक ग्रामीण अर्थव्यवस्था थी जो कृषि एवं कुटीर व्यवसायों पर आधारित थी। प्रत्येक गाँव लगभग एक स्वतन्त्र आत्मनिर्भर इकाई था। गाँवों में उत्पादन स्थानीय आवश्यकताओं के अनुसार ही होता था। साप्ताहिक हाट एवं बाजारों या मेलों के अवसर पर आस-पास के लोग अपने द्वारा उत्पादित वस्तुओं को बेचने आ जाते थे। उत्पादन मानव व पशु शक्ति के द्वारा छोटे पैमाने पर होता था, किन्तु अंग्रेजों ने भारत में बड़े-बड़े कारखाने स्थापित किये जिनमें उत्पादन जड़ शक्ति द्वारा मशीनों की सहायता से तीव्र गति व बड़े पैमाने पर होने लगा। अब स्थानीय, प्रान्तीय व राष्ट्रीय ही नहीं वरन् अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों के लिए उत्पादन होने लगा। यातायात एवं संचार के साधनों ने औद्योगीकरण में सहायता प्रदान की और कच्चे माल को कारखानों तक तथा बने माल को मण्डियों तक पहुंचाने में सहायता की। औद्योगीकरण के कारण कुटीर व्यवसाय नष्ट हो गये क्योंकि गृह-उद्योगों में बना माल मशीन से बने माल का मुकाबला नहीं कर सका। औद्योगीकरण के कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में वृद्धि हुई कृषि में भी आधुनिक यन्त्रों, खाद व बीजों का प्रयोग होने लगा जिससे उत्पादन बढ़ा। किसान आर्थिक फसलें, जैसे तिलहन, गन्ना, कपास, जूट, तम्बाकू आदि की अधिकाधिक खेती करने लगे। ब्रिटिश शासन ने भूमि व्यवस्था में परिवर्तन किया और जमींदारी प्रथा लागू की जिसके परिणामस्वरूप किसानों की आर्थिक दशा गिरती गयी। औद्योगीकरण के कारण व्यापार में वृद्धि हुई, बैंकों की स्थापना हुई, श्रम-विभाजन और विशेषीकरण पनपा तथा पूंजीवादी व्यवस्था ने जन्म लिया।

9. **मानवतावाद** (Humanitarianism)—**डॉ. श्रीनिवास** का मत है कि पश्चिमीकरण ने भारत को मानवतावादी मूल्य प्रदान किया। मानवतावाद का अर्थ है किसी धर्म, जाति, लिंग, आयु तथा आर्थिक स्थिति को ध्यान में रखे बिना सभी लोगों के कल्याण में समान रुचि रखना। प्राचीन भारत में प्रचलित कानूनों में समान अपराध के लिए समान दण्ड की व्यवस्था नहीं थी वरन् धर्म, जाति एवं पद के आधार पर अलग-अलग प्रकार का दण्ड दिया जाता था। अंग्रेजों ने विषमता को समाप्त कर सारे देश में समान कानून लागू किया और उसे मानवतावादी आधार प्रदान किया। मानवतावाद में दो तत्व सम्मिलित हैं—समतावाद एवं लौकिकीकरण। मानवतावाद के अन्तर्गत भारत में अंग्रेजों के द्वारा उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में किये गये अनेक सुधार सम्मिलित हैं। उन्होंने सभी धर्मों, जातियों व प्रजातियों के लिए समान शिक्षा की व्यवस्था की। स्कूल, अस्पताल एवं अनाथालयों की स्थापना की गयी।

नोट

इस प्रकार हम देखते हैं कि पश्चिमीकरण के प्रभाव के कारण भारतीय समाज और संस्कृति में अनेक परिवर्तन हुए और उनका परम्परागत स्वरूप बदला।

पश्चिमीकरण : एक आलोचनात्मक दृष्टिकोण (Westernisation : A Critical View)

अनेक समाजशास्त्रियों एवं सामाजिक मानवशास्त्रियों ने पश्चिमीकरण की अवधारणा की आलोचना की है। **लर्नर** की मान्यता है कि पश्चिमीकरण अनुपयुक्त एवं संकुचित अवधारणा है क्योंकि रूसी साम्यवाद भी एक शक्तिशाली आधुनिकीकरण करने वाला प्रारूप है। **डॉ. श्रीनिवास** का पश्चिमीकरण से तात्पर्य भारत पर ब्रिटिश प्रभाव से है, लेकिन यह बहुत संकुचित प्रारूप है। इसका कारण यह है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् भारत पर रूसी और अमरीकी प्रारूपों का प्रभाव भी स्पष्टत: पड़ रहा है। **डॉ. योगेन्द्र सिंह** ने बताया है कि भारत में नवीन अभिजात-वर्ग के बहुत-से लोगों के लिए और साथ ही एशिया के भी नये राज्यों में पश्चिमीकरण एक निदानात्मक अर्थ लिए हुए है, क्योंकि वह पश्चिम के द्वारा इन देशों के पूर्ववर्ती औपनिवेशिक शासन से सम्बन्धित रहा है। यह, इसलिए आधुनिकीकरण की बजाय अधिक मूल्य-भारयुक्त (Value-loaded) है और यही कारण है कि आधुनिकीकरण हमें अधिक उत्तम विकल्प प्रतीत होता है।

देवराज चेन्ना पश्चिमीकरण को एक सरल प्रक्रिया नहीं मानते हैं। आपका कथन है कि वर्तमान में (पंजाब की स्थिति) यह कहना अधिक उपयुक्त है कि भारतीयकरण की प्रक्रियां चालू है; इससे हमारा तात्पर्य बाह्य बातों में काफी सीमा तक पश्चिमीकरण से तथा अधिकांशत: भारतीय मूल्यों, जो पश्चिम में मानवतावादी मूल्यों के साथ मिश्रित हैं, पर पुन: जोर देने से है। **डॉ. योगेन्द्र सिंह** का कथन है कि **"संस्कृतीकरण और पश्चिमीकरण ऐसी अवधारणाएँ हैं जिनमें सैद्धान्तिक दृष्टि से निश्चितता का अभाव है, लेकिन सत्यता पर जोर देने वाली अवधारणाओं के रूप में उनमें काफी उपयुक्तता और व्यवहार्यता है।" ये अवधारणाएँ आनुभविक अवलोकनों पर आधारित हैं और सांस्कृतिक परिवर्तनों के कई पक्षों के सम्बन्ध में अन्तर्दृष्टि प्रदान करती हैं। ये अवधारणाएँ सांस्कृतिक परिवर्तन का ही विश्लेषण कर पाती हैं, परन्तु सामाजिक संरचना में होने वाले परिवर्तनों की व्याख्या नहीं।** स्वयं **डॉ. श्रीनिवास** ने माना है कि संस्कृतीकरण तथा पश्चिमीकरण के माध्यम से आधुनिक भारत में होने वाले सामाजिक परिवर्तनों का वर्णन सांस्कृतिक दृष्टि से ही किया जा सकता है न कि संरचनात्मक दृष्टि से। हम **बी. कुप्पूस्वामी** के इन विचारों से सहमत हैं कि संस्कृतीकरण और पश्चिमीकरण की अवधारणाएँ हमें उन्नीसवीं शताब्दी के बाद वाले पचास वर्षों और बीसवीं शताब्दी के प्रथम दो दशकों में सतही परिवर्तन प्रक्रियाओं को समझने में मदद करती हैं। भारतीय समाज में चल रही परिवर्तन-प्रक्रियाओं का विश्लेषण करने में सहायता प्रदान करने की दृष्टि से इन अवधारणाओं की उपयुक्तता काफी सीमित है।

3.7 आधुनिकीकरण (Modernisation)

परम्परात्मक समाजों में होने वाले परिवर्तनों या औद्योगीकरण के कारण पश्चिमी समाजों में आये परिवर्तनों को समझने तथा दोनों में भिन्नता प्रकट करने के लिए विद्वानों ने आधुनिकीकरण की अवधारणा को जन्म दिया। एक तरफ उन्होंने परम्परात्मक समाज को रखा और दूसरी तरफ आधुनिक समाज को। इस प्रकार उन्होंने परम्परात्मक बनाम आधुनिकता को जन्म दिया। इसके साथ ही जब पाश्चात्य विद्वान उपनिवेशों एवं विकासशील देशों में होने वाले परिवर्तनों की चर्चा करते हैं तो वे आधुनिकीकरण की अवधारणा का सहारा लेते हैं।

कुछ लोगों ने आधुनिकीकरण को एक प्रक्रिया के रूप में माना है, तो कुछ ने एक प्रतिफल के रूप में। आइजनस्टैंड ने इसे एक प्रक्रिया मानते हुए लिखा है, "ऐतिहासिक दृष्टि से आधुनिकीकरण उस प्रकार की सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक व्यवस्थाओं की ओर परिवर्तन की प्रक्रिया है जो सत्रहवीं से उन्नीसवीं शताब्दी तक पश्चिमी यूरोप तथा उत्तरी अमेरिका में और बीसवीं शताब्दी तक दक्षिणी अमेरिका, एशियाई व अफ्रीकी देशों में विकसित हुई।" आधुनिकीकरण की प्रक्रिया किसी एक ही दिशा या क्षेत्र में होने वाले परिवर्तन को प्रकट नहीं करती वरन् यह एक बहु-दिशा वाली प्रक्रिया है। साथ ही यह किसी भी प्रकार के मूल्यों से भी बंधी हुई नहीं है। परन्तु कभी-कभी इसका अर्थ अच्छाई और इच्छित परिवर्तन से लिया जाता है। उदाहरण के लिए, जब कोई यह कहता

है कि सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक संस्थाओं का आधुनिकीकरण हो रहा है, तब उसका उद्देश्य आलोचना करना नहीं वरन् अच्छाई बताना है।

नोट

आधुनिकीकरण की अवधारणा को स्पष्ट करने के लिए अब तक कई पाश्चात्य और भारतीय विद्वानों ने समय-समय पर अपने विचार प्रकट किए हैं और इस अवधारणा को अनेक नामों से सम्बोधित किया है। आधुनिकीकरण पर अपने विचार प्रकट करने वाले विद्वानों में कुछ प्रमुख ये हैं: **वाईनर, एपटर, लर्नर, ब्लैक, एलेक्स इन्कलेक्स, ए.आर. देसाई, वाई सिंह, एम.एन. श्रीनिवास, एडवर्ड शिल, डब्ल्यू. सी. स्मिथ आदि।** आधुनिकीकरण शब्द के पर्यायवाची रूप में अंग्रेजीकरण, यूरोपीकरण, पाश्चात्यकरण, शहरीकरण, उद्विकास, विकास, प्रगति आदि शब्दों का प्रयोग भी हुआ है। औद्योगीकरण, नगरीकरण एवं पश्चिमीकरण की तरह आधुनिकीकरण भी एक जटिल प्रक्रिया है।

बैनडिक्स के अनुसार, "आधुनिकीकरण से मेरा तात्पर्य उस किस्म के सामाजिक परिवर्तनों से है जो 1760-1830 में इंग्लैण्ड की औद्योगिक क्रान्ति तथा 1789-1794 में फ्रांस की राजनैतिक क्रान्ति के दौरान उत्पन्न हुए।" वर्तमान प्रजातन्त्र, शिक्षा-प्रणाली और औद्योगिक क्रान्ति का प्रारम्भ अधिकांश पश्चिमी देशों में ही हुआ। अतः यदि उन परिवर्तनों का जो सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और अन्य क्षेत्रों में पश्चिमी देशों में हुए, दूसरे देशों में अनुकरण होता है तो वह आधुनिकीकरण के नाम से जाना जायेगा। अतः इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि प्रारम्भ में आधुनिकीकरण का प्रारूप पश्चिमी देश ही रहे हैं, अब चाहे रूस, चीन, जापान या अन्य देश आधुनिकीकरण के आदर्श के रूप में हों। **रूडोल्फ** एवं **रूडोल्फ** ने भी इस बात की पुष्टि की है। **लर्नर** का मत है कि पश्चिमी मॉडल केवल ऐतिहासिक दृष्टि से पश्चिमी है, समाजशास्त्रीय दृष्टि से विश्वव्यापी।

मैरियन जे.लेवी ने आधुनिकीकरण को प्रौद्योगिक वृद्धि के रूप में परिभाषित किया है, "मेरी आधुनिकीकरण की परिभाषा शक्ति के जड़ स्रोतों और प्रयत्न के प्रभाव को बढ़ाने के लिए उपकरणों के प्रयोग पर आधारित है। इन दो तत्वों में से प्रत्येक को सातत्य का आधार मानता हूँ।" उपरोक्त परिभाषा से स्पष्ट है कि **लेवी** ने शक्ति के जड़ स्रोत जैसे, पैट्रोल, डीजल, कोयला जल-विद्युत और अणु-शक्ति और यन्त्रों के प्रयोग को आधुनिकीकरण के आधार के रूप में माना है। किसी समाज विशेष को कितना आधुनिक कहा जायेगा; यह इस बात पर निर्भर करता है कि वहां जड़ शक्ति तथा यन्त्रों का कितना प्रयोग हुआ है।

डॉ. योगेन्द्र सिंह ने बताया है कि साधारणतः आधुनिक होने का अर्थ 'फैशनेबल' से लिया जाता है। वे आधुनिकीकरण को एक सांस्कृतिक प्रयत्न मानते हैं जिसमें तार्किक अभिवृत्ति, सार्वभौम, दृष्टिकोण, परानुभूति, वैज्ञानिक विश्व दृष्टि, मानवता, प्रौद्योगिक प्रगति आदि सम्मिलित हैं। **डॉ. सिंह** आधुनिकीकरण पर किसी एक ही जातीय समूह या सांस्कृतिक समूह का स्वामित्व नहीं मानते वरन् सम्पूर्ण मानव समाज का अधिकार मानते हैं।

डेनियल लर्नर ने अपनी पुस्तक 'दी पासिंग ऑफ ट्रेडिशनल सोसायटी : मॉडर्नाईजिंग दा मीडिल ईस्ट' में आधुनिकीकरण का पश्चिमी मॉडल स्वीकार किया है। वे आधुनिकीकरण में निहित निम्नलिखित विशेषताओं का उल्लेख करते हैं :

(अ) बढ़ता हुआ नगरीकरण

(ब) बढ़ती हुई साक्षरता

(स) बढ़ती हुई साक्षरता विभिन्न साधनों जैसे समाचारपत्रों, पुस्तकों, रेडियो आदि के प्रयोग द्वारा शिक्षित लोगों के अर्थपूर्ण विचार-विनिमय में सहभागिता को बढ़ाती है।

(द) इन सभी से मनुष्य की क्षमता में वृद्धि होती है, राष्ट्र का आर्थिक लाभ होता है, जो प्रति व्यक्ति आय को बढ़ाने में योग देता है।

(य) यह राजनैतिक जीवन की विशेषताओं को उन्नत करने में सहायता देता है।

लर्नर उपर्युक्त विशेषताओं को शक्ति, तरुणाई, निपुणता तथा तार्किकता के रूप में व्यक्त करते हैं। वे आधुनिकीकरण को प्रमुखतः मस्तिष्क की एक स्थिति के रूप में स्वीकार करते हैं, प्रगति की अपेक्षा, वृद्धि की ओर झुकाव तथा परिवर्तन के अनुरूप अपने को ढालने की तत्परता के रूप में मानते हैं। परानुभूति भी आधुनिकीकरण का एक मुख्य तत्व है जिसमें अन्य लोगों के सुख-दुःख में भाग लेने और संकट के समय उनको सहायता देने की प्रवृत्ति बढ़ती है।

नोट

आइजनस्टैंड ने अपनी पुस्तक आधुनिकीकरण : विरोध एवं परिवर्तन में विभिन्न क्षेत्रों में आधुनिकीकरण को निम्न प्रकार से व्यक्त किया है–

(अ) आर्थिक क्षेत्र में–प्रौद्योगिकी का उच्च स्तर।

(ब) राजनीतिक क्षेत्र में–समूह में शक्ति का प्रसार तथा सभी वयस्कों को शक्ति प्रदान करना (मताधिकार द्वारा) एवं संचार के साधनों द्वारा प्रजातन्त्रों में भाग लेना।

(स) सांस्कृतिक क्षेत्र में–विभिन्न समाजों के साथ अनुकूलन की क्षमता में वृद्धि तथा दूसरे लोगों की परिस्थितियों के प्रति परानुभूति में वृद्धि।

(द) संरचना के क्षेत्र में–सभी संगठनों के आकार का बढ़ना, उनमें जटिलता एवं विभेदीकरण की दृष्टि से वृद्धि।

(य) परिस्थितिकीय क्षेत्र में–नगरीकरण में वृद्धि।

सी. ई. ब्लेक ने आधुनिकीकरण को ऐतिहासिक रूप में स्वीकार किया है और इसे परिवर्तन की एक ऐसी प्रक्रिया माना है जो पश्चिमी यूरोप और उत्तरी अमेरिका में सत्रहवीं सदी में विकसित, सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक व्यवस्थाओं से बीसवीं सदी के अमेरिका तथा यूरोप आदि देशों की ओर अग्रसर हो चुकी है। आधुनिकीकरण एक ऐसी मनोवृत्ति का परिणाम है जिसमें यह विश्वास किया जाता है कि समाज को बदला जा सकता है और बदला जाना चाहिए तथा परिवर्तन वांछनीय है। आधुनिकीकरण में व्यक्ति को संस्थाओं के बदलते हुए कार्यों के अनुरूप समायोजन करना होता है, इससे व्यक्ति के ज्ञान में वृद्धि होती है जिसके परिणामस्वरूप वह पर्यावरण पर नियन्त्रण प्राप्त कर लेता है। ब्लेक के अनुसार, आधुनिकीकरण का प्रारम्भ तो यूरोप व अमेरिका से हुआ परन्तु बीसवीं सदी तक इसका प्रसार सम्पूर्ण विश्व में हो गया और इसने मानवीय सम्बन्धों के स्वरूप को ही परिवर्तित कर दिया।

डॉ. एम.एन. श्रीनिवास ने 'सोशल चेन्ज इन मॉडर्न इन्डिया' (1966) तथा 'मॉडर्नाईजेशन : ए 'फ्यू क्यूरीज' (1969) में आधुनिकीकरण के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किये हैं। आप आधुनिकीकरण को एक तटस्थ शब्द नहीं मानते। आपके अनुसार आधुनिकीकरण का अर्थ अधिकांशत: 'अच्छाई' से लिया जाता है। किसी भी पश्चिमी देश के प्रत्यक्ष या परोक्ष सम्पर्क के कारण किसी गैर-पश्चिमी देशों में होने वाले परिवर्तनों के लिए प्रचलित शब्द आधुनिकीकरण है। आप आधुनिकीकरण में निम्नलिखित बातों को सम्मिलित करते हैं: बढ़ा हुआ नगरीकरण, साक्षरता का प्रसार, प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि; वयस्क मताधिकार तथा तर्क का विकास।

डॉ. श्रीनिवास ने आधुनिकीकरण के तीन प्रमुख क्षेत्र बताये हैं :

1. भौतिक संस्कृति का क्षेत्र (इसमें तकनीक भी सम्मिलित की जाती है);
2. सामाजिक संस्थाओं का क्षेत्र; और
3. ज्ञान, मूल्य एवं मनोवृत्तियों का क्षेत्र।

ऊपरी तौर पर तो ये तीनों क्षेत्र भिन्न-भिन्न मालूम पड़ते हैं, परन्तु ये परस्पर सम्बन्धित हैं। एक क्षेत्र में होने वाले परिवर्तन दूसरे क्षेत्र को भी प्रभावित करते हैं।

बी.वी. शाह ने 'प्रोब्लम आफ मॉडर्नाईजेशन आफ एजुकेशन इन इंडिया,' (1969) नामक लेख में आधुनिकता पर अपने विचार प्रकट किये हैं। शाह आधुनिकीकरण को बहु-दिशीय प्रक्रिया मानते हैं जो आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक आदि सभी क्षेत्रों में व्याप्त है।

(अ) आर्थिक क्षेत्र में आधुनिकीकरण का अर्थ है—औद्योगीकरण का बढ़ना, अधिक उत्पादन, मशीनीकरण, मुद्रीकरण व शहरीकरण में वृद्धि। व्यक्ति व सामूहिक सम्पत्ति में भेद किया जाता है। रहने और काम करने के स्थान अलग-अलग होते हैं। लोगों को व्यवसाय चुनने की स्वतन्त्रता होती है। उनमें तर्क और गतिशीलता की वृद्धि होती है। आय, खरीद, बचत तथा पूंजी लगाने के क्षेत्र में नये दृष्टिकोण का विकास होता है।

(ब) राजनैतिक क्षेत्र में धर्म-निरपेक्ष व कल्याण राज्य की स्थापना होती है जो शिक्षा, स्वास्थ्य, मकान एवं रोजगार की व्यवस्था करता है। कानून के समक्ष सभी को समानता प्रदान की जाती है तथा सरकार को चुनने अथवा बदलने में स्वतन्त्रता व्यक्त करने की छूट होती है।

(स) सामाजिक क्षेत्र में संस्तरण की खुली व्यवस्था होती है। प्रदत्त पद के स्थान पर अर्जित पदों का महत्त्व होता है तथा सभी को अवसर की समानता दी जाती है। विवाह, धर्म, परिवार तथा व्यवसाय के क्षेत्र में वैयक्तिक स्वतन्त्रता पर बल दिया जाता है।

(द) वैयक्तिक क्षेत्र में सामाजिक परिवर्तन के लिए मानव प्रयत्नों में विश्वास किया जाता है। धर्म-निरपेक्ष, तार्किक, वैज्ञानिक और विश्वव्यापी दृष्टिकोण का विकास होता है। सामाजिक समस्याओं के प्रति समानतावादी और स्वतन्त्रतात्मक दृष्टिकोण अपनाया जाता है।

नोट

ए.आर. देसाई आधुनिकीकरण का प्रयोग केवल सामाजिक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं मानते बल्कि जीवन के सभी पहलुओं तक विस्तृत मानते हैं।

बौद्धिक क्षेत्र में आधुनिकीकरण का अर्थ तर्क-शक्ति का बढ़ना है। भौतिक व सामाजिक घटनाओं की तार्किक व्याख्या की जाती है। ईश्वर को आधार मानकर किसी भी घटना को स्वीकार नहीं किया जाता। धर्मनिरपेक्ष तार्किकता का ही परिणाम है जिसके फलस्वरूप अलौकिक जाति के स्थान पर इस दुनिया का दृष्टिकोण पनपता है।

सामाजिक क्षेत्र में–

(अ) सामाजिक गतिशीलता बढ़ती है। पुरानी सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक तथा मनोवैज्ञानिक धारणाओं को तोड़ कर व्यक्ति नये प्रकार के व्यवहार को अपनाने को प्रस्तुत होता है।

(ब) सामाजिक संरचना में परिवर्तन—व्यक्ति के व्यावसायिक एवं राजनैतिक कार्यों में परिवर्तन आता है, प्रदत्त के स्थान पर अर्जित पदों का महत्त्व बढ़ता है।

(स) समाज की केन्द्रीय, कानूनी, प्रशासकीय तथा राजनैतिक संस्थाओं का विस्तार एवं प्रसार।

(द) प्रशासकों द्वारा जनता की भलाई की नीति अपनाना।

सांस्कृतिक क्षेत्र में–

(अ) शिक्षा का विस्तार तथा विशेष प्रकार की शिक्षा देने वाली संस्थाओं में वृद्धि।

(ब) नये सांस्कृतिक दृष्टिकोण का विकास जो उन्नति व सुधार, योग्यता सुख अनुभव व क्षमता पर जोर दे।

(स) सभी प्रकार के समाजों के साथ समायोजन करने की धारणा का विकास, रुचि का बढ़ना, दूसरे लोगों के प्रति परानुभूति का बढ़ना, दूसरों का सम्मान करना, ज्ञान व तकनीकी में विश्वास पैदा होना तथा व्यक्ति को उसके कार्य का प्रतिफल मिलना और मानवतावाद में विश्वास।

(द) समाज द्वारा ऐसी संस्थाओं और योग्यताओं का विकास करना जिससे कि लगातार बदलती हुई मांगों और समस्याओं से समायोजन किया जा सके।

इस प्रकार **श्री देसाई** ने आधुनिकीकरण को एक विस्तृत क्षेत्र के सन्दर्भ में देखा है जिसमें समाज व संस्कृति के सभी पहलू आ जाते हैं।

आधुनिकीकरण पर भारतीय और पश्चिमी विद्वानों के उपर्युक्त विचारों से स्पष्ट है कि उन्होंने इस अवधारणा का प्रयोग परम्परात्मक, पिछड़े तथा उपनिवेश वाले देशों की पश्चिमी, पूंजीवादी एवं औद्योगीकरण व शहरीकरण कर रहे देशों के साथ तुलना करने के लिए किया है जो कि उनमें हो रहे नवीन परिवर्तनों की ओर इंगित करती है। बौद्धिक क्षेत्र में आधुनिकीकरण का अर्थ भौतिक एवं सामाजिक घटनाओं की तार्किक व्याख्या करना तथा उन्हें कार्य-कारण के आधार पर स्वीकार करना है। सामाजिक क्षेत्र में आधुनिकीकरण होने पर गतिशीलता बढ़ती है, पुरानी प्रथाओं के स्थान पर नवीन मूल्य पनपते हैं, जटिल संस्थाओं का जन्म होता है, परिवार, रक्त-सम्बन्ध आदि में शिथिलता आती है। राजनैतिक क्षेत्र में सत्ता को अलौकिक शक्ति की देन नहीं माना जाता, सत्ता का लोगों में विकेन्द्रीकरण और वयस्क मताधिकार द्वारा सरकार का चयन होता है। आर्थिक क्षेत्र में मशीनों का उपयोग बढ़ता है तथा उत्पादन जड़-शक्ति के प्रयोग द्वारा होता है। यातायात के साधनों का विकास होता है और औद्योगीकरण बढ़ता है। परिस्थितिजन्य क्षेत्र में नगरीकरण बढ़ता है। सांस्कृतिक क्षेत्र में आधुनिकीकरण का तात्पर्य नये सांस्कृतिक दृष्टिकोण का विकास और व्यक्ति में नवीन गुणों के प्रादुर्भाव से है।

नोट

विभिन्न विद्वानों के उपर्युक्त विचारों से आधुनिकीकरण की निम्नलिखित विशेषताओं का पता चलता है : घटनाओं की विवेकपूर्ण व्याख्या, सामाजिक गतिशीलता में वृद्धि, धर्म-निरपेक्षता व लौकिकीकरण, वयस्क मताधिकार द्वारा राजनैतिक सत्ता का लोगों में हस्तांतरण, बढ़ता हुआ नगरीकरण, वैज्ञानिक दृष्टिकोण, औद्योगीकरण, प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि, शिक्षा का प्रसार, परानुभूति, जड़ शक्ति का प्रयोग, नवीन व्यक्तित्व का विकास, प्रदत्त के स्थान पर अर्जित पदों का महत्त्व, वस्तु-विनियम के स्थान पर द्रव्य-विनियम, व्यवसायों में विशिष्टता, यातायात एवं संचार व्यवस्था का विकास, चिकित्सा एवं स्वास्थ्य में वृद्धि तथा प्राचीन कृषि विधि के स्थान पर नवीन विधियों का प्रयोग।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिकीकरण एक जटिल प्रक्रिया है जिसमें अनेक तत्वों का समावेश है तथा जो जीवन के भौतिक, आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक एवं बौद्धिक सभी पहलुओं से सम्बन्धित है। यह अवधारणा हमें परम्परात्मक समाजों में होने वाले परिवर्तनों को समझने में योगदान देती है। आज विश्व में कहीं परम्परात्मक समाज दिखलाई पड़ता है, तो कहीं आधुनिक समाज। इनकी तुलना करने तथा परिवर्तन की प्रकृति और दिशा को समझने में यह अवधारणा उपयोगी है।

3.8 आधुनिकीकरण : परिवर्तन की एजेंसियाँ, मास मीडिया, शिक्षा और संचार (Modernisation : Agents of Change, Mass Media, Education and Communication)

यह सही है कि हमारे देश में आधुनिकीकरण का प्रारम्भ ब्रिटिश राज के समय से है। जब हमें लगा कि ब्रिटिश सम्पर्क के कारण इस देश में परिवर्तन आ रहे हैं तब हमने व्यवस्थित रूप से हमारी परम्पराओं का अध्ययन किया। 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही **डी. पी. मुखर्जी** ने कहा कि उपनिवेशवादी संस्कृति के संदर्भ में हमें अपनी परम्पराओं को अपने ऐतिहासिक संदर्भ में समझना होगा। **यह देखना होगा कि हमारी परम्पराएँ किस भाँति विदेशी संस्कृति को अपनाती हैं।** योगेन्द्र सिंह कहते हैं कि पिछले पचास वर्षों में भारतीय समाजशास्त्रियों ने इस बात का विश्लेषण किया कि बाह्य स्रोतों से निर्मित पाश्चात्य संस्कृति का स्वरूप हमारी परम्पराओं को क्या रूप देता है। इन दशकों में भारतीय संस्कृति का **आनुभविक-एथनोग्राफिक** Empirical-ethnographic) अध्ययन समाजशास्त्रियों ने किया। इन अध्ययनों की एक धारा भारतीय समाजशास्त्रियों की है जिन्होंने विभिन्न परम्पराओं का अध्ययन करके उनके बीच में जो **संयोजन** (Linkage) हैं उसकी पहचान की। दूसरी धारा अमेरीकी सामाजिक मानवशास्त्रियों की है जिन्होंने भारतीय संदर्भ में यहाँ के समुदायों का अध्ययन किया। **इन्होंने बताया कि भारतीय सामाजिक परिवर्तन लोक समुदाय** से चलकर कृषक समुदाय तक आता है और फिर आधुनिक समाज पर रुकता है।

हाल में सामाजिक अध्ययन की एक तीसरी धारा भी सामने आयी है। यह धारा **पीपल ऑफ इण्डिया** (POI) के प्रकाशन से आई है **के.एस. सिंह** के नेतृत्व में भारत के 4000 से ऊपर समुदायों का अध्ययन हुआ है। इसके निष्कर्ष दूरगामी हैं। उदाहरण के लिये **के.एस. सिंह** बताते हैं कि भारत में अब क्षेत्रीय स्वायत्तता उभर कर आ रही है। प्रत्येक अंचल अपनी माँगों को लेकर दावे कर रहा है। अब ये अंचल अधिक सुदृढ़ हो रहे हैं। इस अनुसंधान की इन तीनों धाराओं को ध्यान में रखकर हम भारतीय समाज में आधुनिकीकरण के कारण आने वाले परिवर्तन का विस्तार से विश्लेषण करेंगे।

अर्वाचीन परिवर्तन (Contemporary Changes)

पिछले कुछ वर्षों में भारतीय समाज में बहुत बड़े परिवर्तन आये हैं और सन् 1991 के बाद वैश्वीकरण और उदारीकरण के कारण जो परिवर्तन आया है उसके बहुत बड़े परिणाम भारतीय समाज पर पड़े हैं। ढाँचागत परिवर्तन को सरकार की अर्थनीति बनाने के कारण बाज़ार तथा विदेशी निवेश इस देश की **ज़मीनी हकीकत** (Grassroot Reality) बन गये हैं। इस नई आर्थिक नीति के कारण महँगाई तेजी से बढ़ गयी है; निर्यात-वृद्धि की दर कम हुई है और आयात लगातार बढ़ रहा है। आज गरीबी रेखा के नीचे, आर्थिक सुधारों के आरम्भ होने के समय की अपेक्षा कई अधिक लोग रह रहे हैं। मतलब हुआ देश में गरीबी बढ़ी है। वैश्वीकरण और उदारीकरण की नीतियों का सामाजिक विकास के उद्देश्यों जैसे गरीबी हटाने, रोजगार में वृद्धि करने तथा सामाजिक सेवाएँ बढ़ाने पर उल्टा प्रभाव पड़ा है। **एक प्रकार से देश में अभिजात्यकरण हो रहा है।** पूँजीवाद की जड़ें मजबूत हो रही हैं।

आधुनिकीकरण द्वारा पैदा किये गये इस सामाजिक परिवर्तन में मास मीडिया की भूमिका बहुत शक्तिशाली है, जिसे हम आधुनिक समाज कहते हैं। इसका बहुत बड़ा लक्षण मास मीडिया और बाज़ार है। यह मीडिया के कारण ही है कि दूर-दराज के गाँव भी सीधे न्यूयार्क और पेरिस से जुड़ गए हैं। सामान्यतया मीडिया को प्रिन्ट मीडिया और इलेक्ट्रोनिक मीडिया के अर्थ में लिया जाता है। जहाँ प्रिन्ट मीडिया में समाचार पत्र, पुस्तकें, पत्र-पत्रिकाएं आदि सम्मिलित हैं वहाँ इलेक्ट्रोनिक मीडिया में टेलीविजन, कम्प्यूटर, सेल्यूलर फोन, रेडियो, फैक्स आदि सम्मिलित हैं। मीडिया के इन माध्यमों ने दूरियों को समेट लिया है। आधुनिकीकरण के जिन परिवर्तनों की हम चर्चा करते हैं, उनमें शिक्षा और संचार भी महत्त्वपूर्ण साधन हैं। हमारे देश में **इन्फोरमेशन टेक्नोलोजी** ने जो क्रान्ति उपस्थित की है, वह अन्यान्य है। इधर वाणिज्य में प्रबन्ध पाठ्यक्रम तथा विज्ञान में तकनीकी के पाठ्यक्रम इतने विकसित हुए हैं कि संसार भर में भारतीय विशेषज्ञों की धाक बैठ गयी है।

योगेन्द्र सिंह कहते हैं कि आर्थिक तथा तकनीकी क्षेत्रों में होने वाले परिवर्तनों के अतिरिक्त आधुनिकीकरण ने सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में भी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन प्रस्तुत किये हैं। सम्पूर्ण देश में लोगों की **जीवनपद्धति** (Life Style) और **अवकाश** (Leisure) की गतिविधियाँ बदल गयी हैं। अब उपयोग की पद्धतियाँ कुछ दूसरी ही हो गयी हैं। किसी भी शहर के नुक्कड़ पर फास्ट फूड की दुकानें मिल जाती हैं; पोशाक का तौर-तरीका बदल गया है; सिन्थेटिक वस्तुएँ अधिक काम में आने लगी हैं; आवागमन के साधन एक से बढ़कर एक नये हैं. अब माँस खाना, मुर्गा खाना और शराब पीना उपभोग के शौकिया साधन हो गये हैं। मज़ेदार बात है कि सामान्य लोग भी फल-फूल खाने लगे हैं, सब्जियाँ खाने का रिवाज बढ़ गया है और लोग दूध तथा दूध की वस्तुओं को अधिक काम में लेने लगे हैं। हरित क्रान्ति जो 1970 के दशक में हुई थी अब उसकी पूरक **श्वेत क्रान्ति** (White Revolution) आ गयी है। ये सब परिवर्तन भारतीय समाज में बहुत बड़े परिवर्तन हैं। इस हिन्दू प्रवासी समाज में, **के.एस. सिंह** बताते हैं, 90 प्रतिशत लोग माँसाहारी हैं और केवल 10 प्रतिशत शाकाहारी। **नेशनल सेम्पल सर्वे** भी ऐसे ही परिवर्तन को प्रमाणित करता है।

सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में परिवर्तन की दिशा एकदम क्रान्तिकारी है। अब जातियों, जनजातियों, अल्पसंख्यकों या आँचलिक समूहों में क्षेत्रीयता की भावना अधिक आने लगी है। इस बात के भी प्रमाण हैं कि प्रजातान्त्रिक और धर्म निरपेक्ष शक्तियाँ ताकतवर होने लगी हैं। हमने पंचायती राज में पिछड़े वर्गों को आरक्षण देकर प्रोत्साहित किया है। स्त्रियों का सबलीकरण किया है। इस क्षेत्र से लोग दूसरे क्षेत्र में यानी राजस्थान के मारवाड़ी दक्षिण भारत में और केरल के ईसाई सारे उत्तर-भारत में बिना हिचकिचाहट के आ-जा रहे हैं। यह एक एकीकरण की नयी शक्ति है। **पीपल ऑफ इण्डिया** (POI) प्रोजेक्ट बताता है कि देश में कुल 91 सांस्कृतिक क्षेत्र हैं और लगभग प्रत्येक राज्य में एकाधिक क्षेत्र हैं। केवल गोवा ही ऐसा है जिसमें कोई उपक्षेत्र नहीं है।

भारतीय समाज में आधुनिकीकरण के परिणामस्वरूप जो विभिन्नता और एकता आयी है वह स्पष्ट रूप से बताती है कि इस समाज में परम्पराओं का केन्द्रीय स्थान है। ये परम्पराएँ ही हैं जो इतने परिवर्तनों के बाद भारतीय समाज की पहचान को बनाये हुए हैं। अब हम इस समाज की एथनिसिटी और सांस्कृतिक पहचान को आधुनिकीकरण द्वारा लाये गये परिवर्तन के संदर्भ में देखेंगे।

3.9 एथनिसिटी, सांस्कृतिक पहचान और परिवर्तन (Ethnicity, Cultural Identity and Change)

राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक विकास के परिणामस्वरूप इस देश में व्यापार के क्षेत्र में बहुत बड़े परिवर्तन आये हैं। हुआ यह है कि बहुत बड़े परिवर्तन के होते हुए भी समाज के विभिन्न अंगों में संयोजन बना हुआ है। जाति, जनजाति, धार्मिक समूहों, सांस्कृतिक अंचल आदि पृथक् होते हुए भी आपस में जुड़े हुए हैं। यहाँ तक सब ठीक है। देश में एकीकरण आया है। लेकिन राजनीतिक कारकों ने एक नई माँग भी उत्पन्न कर दी है। अब लोग अपनी **सांस्कृतिक पहचान** (Cultural Autonomy) की बात करने लगे हैं। उदाहरण के लिये अब देश के आदिवासी यह कहने लगे हैं कि हमें पुनः अपने धर्म की ओर लौटना चाहिये। एक तरफ उन्हें हिन्दू बनाया

नोट

जा रहा है, और दूसरी ओर ईसाई। घबराये हुए वे कहते हैं: अपने धर्म की ओर लौटो। **के.एस. सिंह** कहते हैं कि अब दलित लोग अपनी इस माँग को बुलन्द कर रहे हैं कि हम अपनी सांस्कृतिक पहचान को बनाये रखेंगे। दलितों का इस तरह की माँग करना बताता है कि वे ब्राह्मणवाद से अपने आपको पृथक् करना चाहते हैं। उच्च हिन्दू जातियों से भी उनका मोह भंग हो गया है। **के.एस. सिंह** की इस बात का समर्थन **गेल ओम्वेट** (Gail Omvredt) और **एम.एस. गोरे** भी करते हैं। इस प्रक्रिया को मीडिया, सामाजिक गतिशीलता और राजनीतिक भागीदारी ने और अधिक गति दी है। धर्म का जो राजनीतिकरण हुआ है इसने भी समस्याओं को बढ़ा दिया है।

3.10 आधुनिकीकरण और परिवर्तन की समस्याएँ (Modernisation and Problems of Change)

आधुनिकीकरण ने भारतीय समाज में कई समस्याएँ पैदा कर दी हैं। हमारे यहाँ औद्योगीकरण से पहले व्यवस्था में जो साम्यानुकूलन था उसे आधुनिकीकरण ने बिगाड़ दिया है। उत्पादन की विधियाँ बदल गयी हैं और इसके परिणामस्वरूप सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओं में बदलाव आ गया है। **देखा जाये तो पिछले 50-70 वर्षों में इस देश में क्रान्तियाँ आयी हैं। पहली क्रान्ति तो औद्योगिक क्रान्ति है और दूसरी प्रजातान्त्रिक। इन दोनों क्रान्तियों ने परम्परागत साम्यानुकूलन** (Traditional Equilibrium) **को उलट-पुलट दिया है।** औद्योगिक क्रान्ति राष्ट्र निर्माण की बात करती है। इसका परिणाम यह होता है कि हम एक विश्व समुदाय या वैश्वीय सभ्यता के साथ जुड़ जाते हैं। जब ऐसा होने लगता है **तब सबसे बड़ा खतरा स्थानीय और आँचलिक संस्कृतियों की पहचान का पैदा हो जाता है। जब हम राष्ट्र निर्माण के काम में जुट जाते हैं तो इससे आर्थिक और औद्योगिक विकास होता है। यह विकास गैर-बराबरी को बढ़ावा देता है।** उदाहरण के लिये, हरित और श्वेत क्रान्ति ने गाँवों में गैर-बराबरी को बढ़ा दिया है। इसी तरह औद्योगिक विकास ने पर्यावरण को नष्ट कर दिया है। गंदी बस्तियाँ आ गयी हैं।

रुचिकर बात यह है कि इन प्रक्रियाओं के परिणामस्वरूप देश के विभिन्न अँचलों में सांस्कृतिक पहचान का मुद्दा उभरकर सामने आ गया। अब आदिवासी जातियाँ और धार्मिक समूह अपनी पहचान पर जोर देने लगे हैं। आये दिन नये देवी-देवताओं का आविर्भाव हो रहा है। नित नई शोभा यात्राएँ निकल रही हैं। कहीं भी ऐसा नहीं लग रहा है कि उद्योग और उत्तर-उद्योग के विकास के स्तर पर पहुँच कर हम मानवीय समस्याओं के साथ रू-ब-रू हो रहे हों। परिणाम यह हो रहा है कि **हमारी संयुक्त परिवार की परम्परा टूट रही है। गाँवों की एकता समाप्त हो रही है और शहरों का पर्यावरण जानलेवा हो गया है।** आधुनिकीकरण की इस प्रक्रिया में हमारे परम्परागत मूल्य खतरे में आ गये हैं। यदि यही चलता रहा तब हम विध्वंस के कगार पर खड़े हो जायेंगे। योगेन्द्र सिंह कहते हैं: आधुनिकीकरण का हमारे मूल्यों, सांस्कृतिक व्यवहारों, पारिस्थितिकी और मानसिक तथा शारीरिक स्वास्थ्य और जीवन की गुणवत्ता पर ऐसा प्रभाव पड़ा है कि इसका परिणाम हमारे लिये विध्वंसकारी होगा।

हमारा सांस्कृतिक संघर्ष बहुत गहरा है। आधुनिकीकरण ने हमारी परम्पराओं और नये मूल्यों में एक अद्भुत भेंट करवा दी है। इसके कारण हमारे परम्परागत मूल्यों का क्षय हुआ है, जन संस्कृति की संरचना कमजोर हो गयी है और इससे हमारी मुख्यधारा की सांस्कृतिक परम्परा ढीली पड़ गयी है और इस सबका सम्बन्ध एक नये बाजार की संस्कृति के साथ जुड़ गया है। हमारा विचार है कि यदि आधुनिकीकरण के इस दौर में हमारी परम्परागत परिवार व्यवस्था टूट गयी और गाँव तथा मोहल्ले के सम्बन्ध कमजोर हो गये तब अन्य विकसित समाजों की तरह हमारे समाज की सामाजिक तथा सांस्कृतिक व्यवस्था में संकट आ जायेगा।

3.11 औद्योगीकरण एवं शहरी विकास (Industrialization and Urban Development)

वर्तमान युग में विकसित समाजों की सबसे प्रमुख विशेषता है उनका अत्यधिक औद्योगीकरण। औद्योगीकरण से राष्ट्र की आर्थिक समृद्धि बढ़ती है, उसकी सामरिक शक्ति तथा अन्तर्राष्ट्रीय प्रस्थिति भी सुदृढ़ होती है। यही कारण है

नोट

कि आज सभ्य और उन्नत देशों की सामर्थ्य का प्रतीक उद्योग है। औद्योगिकवाद सभ्यता का मूल दर्शन हो गया है। यदि हम आधुनिक उन्नत समाजों के जीवन का विश्लेषण करें तो हमें ज्ञात होगा कि उसके प्रत्येक पहलू पर औद्योगीकरण का गहरा संघात हुआ है और औद्योगिक दृष्टि से बिल्कुल अछूते अथवा कम विकसित देशों के सामाजिक जीवन पर भी औद्योगीकरण का प्रभाव कम नहीं है। औद्योगीकरण के कारण सामाजिक संरचना, आर्थिक और राजनैतिक संस्थाओं, मूल्यों और रुखों, धर्म व संस्कृति आदि में जो परिवर्तन-परिवर्द्धन हुए हैं उन्हें औद्योगीकरण के सामाजिक उपलक्षण कहते हैं। आइए, अब उन्हीं की विवेचना करें।

औद्योगीकरण का मुख्य उद्देश्य आर्थिक है। बड़े-बड़े उद्योगों की स्थापना का मूल उद्देश्य वस्तुओं का विशद् मात्रा में उत्पादन है। यदि ये उद्योग गैर-सरकारी निजी व्यक्तियों अथवा समूहों के स्वामित्व में होते हैं तो उनसे बहुत बड़ी मात्रा में सस्ते माल का उत्पादन कर अधिकतम लाभ कमाया जाता है। लाभ कमाने की लालसा ज्यों-ज्यों बढ़ती जाती है उद्योगों पर स्वामित्व और नियंत्रण समाज हित की दृष्टि से न होकर निजी लाभ के लिए होता है जिसका उग्र रूप हमें पाश्चात्य देशों के पूँजीवाद में देखने को मिलता है। किन्तु जहाँ उत्पत्ति के सभी बड़े साधनों पर समाज या राज्य का अधिकार होता है वहाँ बड़े-बड़े उद्योगों की स्थापना का मूल उद्देश्य राष्ट्रीय सम्पदा में वृद्धि कर जनसाधारण के जीवन स्तर को उन्नत करना होता है। औद्योगीकरण के आर्थिक विकास की गति को बढ़ाया जा सकता है। यह स्पष्ट है कि आधुनिक युग में वही देश अपनी स्वतंत्रता और सम्मान की रक्षा कर सकता है जो आर्थिक दृष्टि से समृद्ध हो। सैनिक सामर्थ्य का आधार भी आर्थिक सम्पन्नता है।

औद्योगीकरण के आर्थिक प्रभाव बड़े महत्त्वपूर्ण होते हैं। विशद्मात्र, सस्ते और अच्छे माल के उत्पादन से जनसाधारण की पार्थिव आवश्यकताओं की उत्तरोत्तर अच्छी सन्तुष्टि होती है। उसका जीवन-स्तर ऊँचा होता है। ऊँचे जीवन-स्तर से लोगों की आवश्यकताएँ भी फिर खूब बढ़ती हैं। उनकी पूर्ति के लिए नए-नए काम-धंधों, पेशे और व्यवसाय कायम होते हैं। जीवन की सुख-सुविधा के लिए शिक्षा, स्वास्थ्य, मनोरंजन, भवननिर्माण, परिवहन और संचार सभी क्षेत्रों की उन्नति होती है। उन सबमें विविध विशेष पेशों या व्यवसायों का विकास होता है। रूस या अमेरिका, जो औद्योगिक दृष्टि से अत्यधिक उन्नत देश हैं, श्रम विभाजन और विशेषीकरण की जटिल व्यवस्था इस तथ्य की साक्षी है। उद्योगों के केन्द्रीकरण से लाखों की संख्या में श्रमिक तथा अन्य संबन्धित कर्मचारी, व्यापारी, दुकानदार, व्यवसायी आदि के जमघट से बड़े-बड़े नगर बनते हैं। यद्यपि औद्योगीकरण के पहले भी नगर थे किन्तु औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात संसार में नगरों की विशालता और संख्या में अपूर्व वृद्धि हुई है। औद्योगीकरण और नगरीकरण के विकास के साथ प्रविधि की उत्तरोत्तर प्रगति अवश्यंभावी है। प्राविधिक उन्नति से उद्योगों में अभिनवीकरण का विस्तार होता है। इससे नई-नई और अधिक कुशल मशीनें लगाकर, उत्पादन प्रक्रियाओं को श्रेष्ठ कर उत्पादन बढ़ाया जा सकता है। मशीनों की कार्यक्षमता में वृद्धि से श्रमिकों की संख्या में कमी करना आवश्यक हो जाता है। मजदूरों की छँटनी से बेकारी बढ़ती है। उधर छोटे उद्योगों तथा कृषि पर औद्योगीकरण का बड़ा हानिकारक प्रभाव पड़ता है। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था में कृषि तथा छोटे उद्योग बहुधा समाप्तप्राय हो जाते हैं। छोटे उद्योगों के विनाश से भी बेकारी बढ़ती है और यदि कृषि का यन्त्रीकरण भी किया जाए तो कृषि मजदूरों में बेकारी बढ़ती है। बेकारी की यह समस्या औद्योगीकरण तथा प्राविधिक उन्नति के साथ भयंकरतर होती जाती है, जब तक कि अतिरिक्त श्रमशक्ति को अन्य उचित रोजगार न मिले या फिर उनके उचित निर्वाह के लिए राज्य या समाज की ओर से समुचित प्रबन्ध न किया जाए। औद्योगीकरण के विकास से राष्ट्रीय साधनों का बड़ा कुशल उपयोग तो निश्चित हो जाता है और राष्ट्रीय सम्पदा में अपूर्व वृद्धि होती है किन्तु यदि औद्योगीकरण का समाज हित में नियंत्रण या संचालन न हो तो आर्थिक विषमता, शोषण व वर्ग संघर्ष की बड़ी भयानक स्थिति उत्पन्न हो जाती है। पूँजीवादी देशों के भयंकर गृहयुद्ध अथवा अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध बीसवीं शताब्दी की सबसे कलुषित घटनाएँ हैं और यह शताब्दी अपूर्व औद्योगिक प्रगति का गर्व कर सकती है। औद्योगीकरण के विकास से श्रमिकों तथा पूँजीपतियों या सेवायोजकों को अपनी सौदेबाजी की शक्ति मजबूत करने के लिए प्रतिपक्षी संघों में संगठित होना पड़ता है। हड़तालें, तालाबन्दी और खुले संघर्ष होते हैं। शान्ति और सुरक्षा तथा देश के आर्थिक हित के रक्षार्थ सरकार को उद्योगपतियों और मजदूरों के सम्बन्धों को सुधारने के प्रयत्न करने पड़ते हैं। इसी प्रकार कृषकों और छोटे उद्योगजीवियों के हितों की रक्षा के लिए राज्य का बड़े उद्योगों की संघबंदी, उत्पादन नीति तथा व्यापार नीति पर नियंत्रण करना पड़ता है। पूँजीवादी देशों में राज्य के बढ़ते हुए नियन्त्रण तथा राजकीय उपक्रमों का जिक्र हम

पहले भी कर चुके हैं। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि अनियन्त्रित तथा निजी लाभ से प्रेरित औद्योगीकरण के कई गंभीर आर्थिक कुप्रभाव होते हैं, किन्तु नियंत्रित और समाज के कल्याण की दृष्टि से औद्योगिक विकास में अधिकांश आर्थिक दुष्प्रभाव बिल्कुल नहीं होते और बेकारी आर्थिक विषमता तथा गांवों द्वारा नगरों की अधीनता जैसे दुष्प्रभावों को न्यूनतम कर लिया जाता है। रूस तथा अन्य समाजवादी देशों में कृषि का विकास कतई उपेक्षित नहीं है और न कृषि और छोटे उद्योगधन्धों को औद्योगीकरण से कुचल ही दिया गया है। राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के प्रत्येक खण्ड को उचित महत्त्व दिया जाता है।

पेशेवर खेलों, सिनेमा, रेडियो, टेलिविजन आदि का जनसाधारण के मनोरंजन के लिए अभूतपूर्व विकास होता है। जनसाधारण की इन तक पहुँच होती है। उनकी रुचियों के विचार से ही चलचित्रों तथा अन्य कार्यक्रमों का आयोजन होता है। कलाओं का विकास भी इसी दिशा में होता है। कला और मनोरंजन की सर्वसाधारण के लिए उपयोगी होने की प्रवृत्ति को जनतंत्रीकरण होना पड़ता है। यह कला के लिए नहीं जीवन के लिए होती है।

स्त्रियों तथा श्रमिकों को उच्च प्रस्थिति—उद्योगों की उन्नति से स्त्रियों को लगभग पुरुष के समान ही प्रस्थिति मिल गई है। उसका कार्य-क्षेत्र केवल घर तक सीमित नहीं रहा है। वह संसार के विशाल प्रांगण में क्रियाशील है। सामाजिक जीवन का कोई भी अंचल स्त्रियों के बिना सप्रभावी एवं सुन्दर नहीं हो पाता। श्रमिकों को अब केवल श्रम बेचकर अकिंचन जीवन बिताना नहीं पड़ता। सभी प्रकार के उत्पादन में श्रम का वास्तविक स्थान स्वीकार किया जाने लगा है। बुद्धिजीवी भी अपने को श्रमिक कहने में गर्व समझता है। वास्तव में श्रमिक ही उत्पादनकर्ता है। सामाजिक सम्पदा में उसको उचित भाग मिलना चाहिए और उसे कम प्रतिष्ठित या सम्मानित समझना मूर्खता होगी। श्रमिकों के संगठन राष्ट्रव्यापी और अन्तर्राष्ट्रीय हैं और उनकी शक्ति के सामने राज्य तथा समाज के अन्य वर्गों को झुकना पड़ता है।

सामाजिक भेदों में कमी—औद्योगीकरण ने विभिन्न रंगों, जातियों, धर्मों और शिक्षा तथा संस्कृति के स्तरों के लोगों को साथ-साथ काम करने और रहने को विवश कर दिया है। ऊँच-नीच की भावना अत्यधिक कम हो गई है। सामाजिक सांस्कृतिक अन्तरों पर किसी मनुष्य या वर्ग को हीन नहीं समझा जाता है। जनसाधारण तथा नेताओं, बौद्धिकों आदि ... के बीच में भी कम से कम अन्तर रह गया है। नेतृत्व भी किसी विशेष वर्ग की बपौती नहीं रह जाता है। उद्योगों के संचालन के लिए प्रबन्धक वर्ग अथवा समाजवादी देशों की नौकरशाही में सम्मिलित होना सबके लिए सम्भव है यदि उनमें अपेक्षित योग्यता हो।

समृद्ध जीवन की समस्याएँ—लोगों का जीवन-स्तर बराबर ऊँचा होता जाता है। सामाजिक सेवाओं की अभिवृद्धि से जीवन में वास्तविक सुख-सुविधा बढ़ जाती है। इससे दो प्रमुख समस्यायें उत्पन्न होती हैं— अति दीर्घजीवन और अधिक अवकाश। आर्थिक चिन्ताओं से मुक्त, सुरक्षित और सुखी जीवन से मनुष्य खूब स्वस्थ रहता है। औसत जीवन-काल बढ़ जाता है। अनेक लोगों की आयु 100 साल से आगे बढ़ जाती है। इन लोगों के भरण-पोषण और मनोरंजन की समस्या पैदा होती है। दूसरी समस्या लोगों के निरन्तर बढ़ते हुए अवकाश के उपयोग की है। समृद्धि बढ़ने पर काम के घंटे कम हो जाते हैं और देश की पार्थिव आवश्यकताओं की भरपूर पूर्ति के लिए थोड़ी श्रम-शक्ति से काम चल जाता है। श्रमाधिक्य के उपयोग के नए ढंग ढूंढने पड़ते हैं। इसकी विफलता से समाज में एक निठल्ले वर्ग का आविर्भाव होता है। इसका अस्तित्व समाज को घोर विलासिता और पुरुषार्थहीनता में धकेल सकता है। प्राचीन काल में अनेक भव्य सभ्यताओं का पतन घोर विलासिता और निठल्लेपन के कारण हुआ है।

सामाजिक विघटन के अधिक अवसर—विशाल औद्योगिक समाजों में परिवर्तन बड़ी तेजी से होता है। संस्थाएँ स्वभावतः संरक्षणात्मक होती हैं। वे शीघ्र परिवर्तन में समाज के लक्ष्यों से बहुत पीछे छूट जाती हैं। इसी तरह, असंतुलन और विघटन पैदा करने वाली अनेक शक्तियाँ उमड़ा करती हैं। परिणामतः इस स्थिति में सामाजिक विघटन के अधिक अवसर होते हैं। औद्योगिक बीमारियाँ और खतरे भी सामाजिक विघटन उत्पन्न करते हैं। तीसरे, सामाजिक मामलों पर विशाल भीड़—मानसिकता, अपराधी तथा समाज-विरोधी प्रवृत्ति को उभारती हैं। साम्यवादी देशों में भी दंगे, उपद्रव और गृह-युद्ध भड़क उठते हैं।

सामाजिक आयोजन—उपरोक्त कारणों से सामाजिक नियंत्रण की समस्या बड़ी कठिन हो जाती है। सामाजिक सुरक्षा, शान्ति और व्यवस्था प्रगति के लिए अनिवार्य होती है। अतः औद्योगिक समाजों में सामाजिक आयोजन का महत्त्व बढ़ जाता है। सामाजिक जीवन का संचालन पूर्व निर्धारित लक्ष्यों के अनुसार अनिवार्य आवश्यकता बन जाती है।

3.12 वैश्वीकरण का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Globalisation)

नोट

वैश्वीकरण वह प्रक्रिया है जिसके जरिये विश्वस्तर पर संकुचन हो रहा है। जो राष्ट्र-स्तर पर था, वह आज विश्व-स्तर पर हो गया है। वैश्वीकरण के नाम पर जो चल रहा है उसमें कभी-कभी विश्वग्राम की बात कही जाती है। यह धोखा है। वैश्वीकरण के पीछे विश्व बाज़ार एवं संचार क्रान्ति की भूमिका है। विश्व बाज़ार पर कब्जा करने की होड़ लगी हुई है। विश्व बाज़ार पर कब्जा करने के लिये जो कुछ किया जा सकता है उसमें उनका योगदान है। यहाँ 'उनका' का आशय उन देशों से है जो अपने बाज़ार का विस्तार कर रहे हैं।

समाजशास्त्र में वैश्वीकरण की अवधारणा हाल के कुछ दशकों में विकसित हुई है। भूमण्डलीकरण अथवा वैश्वीकरण के समर्थक विद्वान पारम्परिक समाजशास्त्र की आलोचना करते हैं। उनका कहना है कि पारम्परिक समाजशास्त्र अभी तक विश्व को समाजों की एक व्यवस्था मानने के बजाये राष्ट्र-राज्य की पुरानी अवधारणा से बंधा हुआ है। यद्यपि, वैश्वीकरण का सिद्धान्त भी पूर्णतया निरापद नहीं है। इसकी अपनी कमज़ोरियाँ हैं। यथा: कुछ विद्वान प्रश्न खड़ा करते हैं कि वैश्वीकरण वास्तव में साम्राज्यवाद का आधुनिक स्वरूप है। इन दोनों के बीच आखिर अन्तर क्या है? भारत तथा अन्य विकासशील देशों में नयी वैश्विक संचार व्यवस्था विशेष रूप से विभिन्न टेलीविजन चैनलों द्वारा फैलायी जा रही एक विशिष्ट प्रकार की अत्याधुनिक संस्कृति के प्रति विरोध के स्वर मुखर होने लगे हैं। कुछ विद्वान वैश्वीकरण और आधुनिकीकरण के बीच के सम्बन्धों में व्याप्त भ्रांतियों पर भी प्रश्न खड़ा करते हैं। वैश्वीकरण पूर्णतया एक नयी प्रक्रिया नहीं; तथापि इसे उपनिवेशवाद और आधुनिकीकरण के सदृश्य भी नहीं माना जा सकता है। इसके अनुसार वैश्वीकरण की अवधारणा नई है। 1980 के दशक से द्विआयामी विश्व का परिदृश्य बदलने लगा। संयुक्त सोवियत संघ के विघटन के बाद से एक ऐसे अनियंत्रित पूँजीवाद का विकास हुआ, जिसे कोई चुनौती देने वाला नहीं रहा। इससे एक आयामी विश्व प्रभावी हो गया। पूँजीवाद ने विश्व के मानचित्र पर अभूतपूर्व सामाजिक, राजनीतिक परिवर्तनों को प्रस्तुत किया। इस नवीन परिवर्तित व्यवस्था के साथ अपने को पुनर्समायोजित करने का दुनिया ने प्रयास किया।

ब्रेटन उड्डस सम्मेलन (Bretton Woods Conference) द्वारा नयी आर्थिक नीति का परिचय (NEP) तथा उदारीकरण कार्यक्रमों (Liberalisation Programmes) का परिचय देने वाला चतुर्थ संरचनात्मक समायोजन कार्यक्रम (SAP) किया गया। इस दौरान सूचना प्रौद्योगिकी (I.T.) विशेष रूप से इन्टरनेट ने वैश्विक सम्बन्धों तथा सम्पर्कों की तीव्रता को और अधिक बढ़ा दिया। विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों में बेहतर सम्भावना की तलाश में लोग उत्प्रवासित होने लगे। इस सबके चलते एक नवीन आर्थिक और राजनीतिक बुनियादी पुनर्संरचना के निर्माण की वैश्विक परिस्थिति उत्पन्न हुई। औद्योगिक क्रान्ति के समय से ही एक प्रकार के वैश्विक एकीकरण का विकास हुआ। यह विकास राष्ट्र-राज्य की सीमाओं से ऊपर उठकर हुआ है। **फ्रीडमैन** के अनुसार, वैश्वीकरण वास्तव में बाज़ारों, वित्त और प्रौद्योगिकियों का एकीकरण है। इस एकीकरण में दुनिया मध्य आकार से सूक्ष्म आकार में सिकुड़ रही है, जिससे दुनिया के एक कोने से दूसरे कोने में तत्काल तथा कम से कम लागत में हम सभी पहुँच सकें। पूर्व की समस्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्थाओं की भाँति यह प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से घरेलू राजनीतियों, आर्थिक नीतियों तथा सभी राष्ट्रों की विदेश नीतियों को स्वरूप प्रदान कर रही है।

अत: वैश्वीकरण एक बहुआयामी जटिल प्रक्रिया है। इसके अन्तर्गत बाजारों, वित्त और प्रौद्योगिकीयों का एकीकरण हो रहा है। विश्व का ऐसा संकुचन हो रहा है कि जिसके प्रत्येक कोने में हम इतनी जल्दी और सस्ते में पहुँच जायें जितने में पहले कभी सम्भव नहीं था। पूर्व की सभी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्थाओं की भाँति यह प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में घरेलू राजनीतियों, आर्थिक नीतियों तथा सभी देशों के विदेशी सम्बन्धों को स्वरूप प्रदान कर रहा है।

आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक आदि वैश्वीकरण के विविध पक्षों का मानव-जीवन में अत्यधिक महत्त्व है।

आर्थिक वैश्वीकरण के अर्थ को इस प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है : अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक बाजारों में चलने वाले आन्दोलनों द्वारा किसी देश की राष्ट्रीय सरकार की आर्थिक नीतियों का निर्धारण होता है। इसमें राष्ट्र-राज्य की आर्थिक स्वायत्तता में कमी आती है। वैश्वीकरण सम्पूर्ण विश्व को एक समग्र आर्थिक इकाई के रूप में तथा

बाज़ार को इसके एक उपकरण के रूप में स्वीकार करता है। एक वैश्वीकृत दुनिया में अर्थव्यवस्था की प्रमुख विशेषतायें इस प्रकार हैं; खुला, उदार, मुक्त बाज़ार तथा मुक्त व्यापार। इसे अन्तर्राष्ट्रीय निवेश और तात्कालिक पूँजी के प्रवाहों द्वारा चिह्नित किया जाता है। राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्थाएँ श्रेष्ठ आर्थिक परिधियों में आ रही हैं और इनका अन्तर्राष्ट्रीय व्यवसाय तथा वित्तीय बाजारों की दुनिया से एकीकरण हो रहा है, जो तत्काल कम्प्यूटर के माध्यम से सम्पन्न हो रहा है। विदेशी सीधा निवेश की गति तथा इसके विस्तार तथा दुनिया के विभिन्न हिस्सों में तात्कालिक पूँजी के प्रवाह को आर्थिक वैश्वीकरण के रूप में देखा जा सकता है।

परिणामस्वरूप, अन्तर्राष्ट्रीय कम्पनियाँ उस देश और क्षेत्र में पहुँचने के लिये प्रयासरत हैं जहाँ सस्ता श्रम उपलब्ध है। विभिन्न राष्ट्र-राज्य की सीमाओं से लोग बाहर निकल रहे हैं और अपना कार्य-क्षेत्र और निवास परिवर्तित कर रहे हैं तथा अपने आपको एक नये सांस्कृतिक परिवेश में समायोजित कर रहे हैं।

वैश्विक वित्तीय संस्थाओं द्वारा अमीर और गरीब के बीच की खाई को बढ़ाया जाता है। वैश्वीकरण द्वारा संस्कृति, राष्ट्रीयता, पर्यावरणीय सम्बन्धों तथा सामाजिक जीवन के अन्य विभिन्न क्षेत्रों के प्रति एक नई समझ को विकसित किया जाता है, जो हमारे जीवन के परम्परागत तरीकों और दुनिया से जुड़े विविध मुद्दों को प्रभावित करता है। सांस्कृतिक संदर्भ में वैश्वीकरण सम्पूर्ण विश्व में बढ़ी हुई सांस्कृतिक अन्तर्सम्बन्धता का द्योतक है।

लोगों के उत्प्रवास, पर्यटन, वैश्विक अर्थव्यवस्था और राजनीतिक संस्थाओं के कारण दुनिया के विभिन्न भागों में सादृश्य जीवन-पद्धति के रूप में उसे देखा जा सकता है। वैश्वीकरण क्षेत्रीय संस्कृति के लिये विकल्प उपलब्ध कराता है। मानव अधिकारों, जनतंत्र, बाजार अर्थव्यवस्था, उत्पादन के नये तरीकों, उपभोग हेतु नये उत्पादों तथा विश्राम की आदतों आदि के विचारों को क्षेत्रीय संस्कृति के नवीन दृष्टिकोण द्वारा उपस्थित किया जाता है। इससे आविर्भाव होता है नई संस्कृति की समझ, राष्ट्रीयता, दुनिया में 'स्व', एक विदेशी हेतु क्या है? एक नागरिक हेतु क्या है? कैसे लोगों की राजनीतिक भागीदारी हो? तथा अन्य सामाजिक जीवन के विविध पक्षों आदि का।

वैश्वीकरण की परिभाषा (Definition of Globalisation)

वैश्वीकरण एक नयी अवधारणा है। इसके विविध पक्षों का गम्भीर विश्लेषण अभी जारी है। अभी तक इसकी सर्वमान्य परिभाषा नहीं बन पायी है। इसे परिभाषित करने के कतिपय सार्थक प्रयास हुये हैं। इसी क्रम में इसकी कुछ परिभाषायें निम्नलिखित हैं :

मैलकोल्म वाटर्स के अनुसार–वैश्वीकरण एक सामाजिक प्रक्रिया है जिसमें भूगोल द्वारा सामाजिक और सांस्कृतिक व्यवस्थाओं को दबाया जाता है जिससे लोग इस बात के लिये जागरूक होने लगते हैं कि उनका पश्चप्रवण हो रहा है।

फ्राइडमैन के अनुसार–वैश्वीकरण वास्तव में बाज़ारों, अर्थव्यवस्था और प्रौद्योगिकीयों का एकीकरण है। इसमें विश्व का मध्यम से छोटे रूप में ऐसा संकुचन हो रहा है जिससे हम सभी दुनिया के हर कोने में इतनी जल्दी और सस्ते में पहुँच जायें जितने में पहले कभी सम्भव नहीं था। पूर्व की सभी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्थाओं की भाँति यह प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में घरेलू राजनीतियों, आर्थिक नीतियों तथा सभी देशों के विदेशी सम्बन्धों का स्वरूप प्रदान कर रहा है।

3.13 वैश्वीकरण सिद्धान्त (Globalisation Theory)

वैश्वीकरण का सिद्धान्त एक वैश्विक सांस्कृतिक व्यवस्था के प्रादुर्भाव का परीक्षण करता है। वैश्वीकरण सिद्धान्त के अनुसार सामाजिक और सांस्कृतिक विकास के एक प्रकार द्वारा वैश्विक संस्कृति उत्पन्न की जाती है। एक विश्व सेटेलाइट सूचना व्यवस्था का अस्तित्व, उपभोग और उपभोक्तावाद का एक वैश्विक स्वरूप, सार्वभौम जीवन-पद्धति का संवर्धन, ओलम्पिक खेल, विश्वफुटबाल प्रतियोगिता, अन्तर्राष्ट्रीय टेनिस मैच जैसे सार्वभौमिक खेलों का विकास, विश्व पर्यटन का विस्तार, राष्ट्र-राज्य की प्रभुसत्ता का ह्रास, वैश्विक मिलिटरी व्यवस्था का विकास, विश्वस्तरीय परिस्थितिकीय-संकट की पहचान, विश्वस्तरीय स्वास्थ्य समस्याओं के प्रति जागरूकता का विकास, लीग ऑफ नेशन्स तथा संयुक्त राष्ट्र संघ (यू.एन.ओ.) जैसी विश्व राजनीतिक व्यवस्था का विकास, वैश्विक राजनीतिक आन्दोलनों का विकास, मानव अधिकारों की अवधारणा का विस्तार, दुनिया के धर्मों के बीच जटिल अन्तरपरिवर्तन, मुख्य रूप से वैश्विकता द्वारा दुनिया को एक स्थान के रूप में देखने की चेतना को बढ़ाया जाता है।

वैश्वीकरण द्वारा दुनिया को एक समग्र के रूप में देखने की दृष्टि पर बल दिया जा रहा है जिसमें दुनिया को एक अनवरत निर्मित होते रहने वाले पर्यावरण के स्तर पर देखा जाता है।

वैश्वीकरण एक प्रकार से अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का समाजशास्त्र है। वैश्वीकरण को विश्व-व्यवस्था सिद्धान्त के रूप में भी देखा जा सकता है। वैश्विक आर्थिक अन्योन्याश्रय के विकास को विश्लेषित करने वाला विश्व-व्यवस्था सिद्धान्त यह दावा करता है कि सांस्कृतिक वैश्वीकरण महज आर्थिक वैश्वीकरण का परिणाम है। पहले यह दलील दी जाती थी कि राष्ट्र-राज्य का अभिसरण (Convergence) सुसंगत तथा एकरूपता वाले एक औद्योगिक समाज में हो रहा है। यह अवधारणा वास्तव में वैश्वीकरण की अवधारणा से नितान्त भिन्न है। समकालीन वैश्वीकरण सिद्धान्त की दलील है कि वैश्वीकरण वास्तव में विभेदीकरण और सजातीयताकरण जैसी दो परस्पर विरोधाभासी प्रक्रियाओं को एक साथ समेटे हुये है। जहाँ एक ओर क्षेत्रीयता की वैश्विकता के साथ जटिल अन्तर्क्रियाएँ चल रही हैं वहीं दूसरी ओर वैश्वीकरण की प्रक्रिया के खिलाफ जोरदार आन्दोलन भी चल रहे हैं। यह दलील देने वाले परम्परागत समाजशास्त्र के आलोचक हैं। ये अपनी आलोचना में कहते हैं कि "दुनिया, समाजों की एक व्यवस्था है", इस बात पर बल देने के बजाए परम्परागत समाजशास्त्र 'राष्ट्र-राज्य' पर जोर देता है।

वैश्वीकरण-सिद्धान्त के साथ अनेकों समस्यायें हैं। कतिपय उदाहरण द्वारा इसे स्पष्ट किया जा सकता है। जैसे-वैश्वीकरण को किस प्रकार साम्राज्यवाद के नये प्रतिमान से पृथक किया जा सकता है? किस प्रकार से आर्थिक और सांस्कृतिक वैश्वीकरण के बीच विभाजक-रेखा खींची जाये? वैश्वीकरण और आधुनिकता के बीच के अन्तर को कैसे स्पष्ट किया जाये?

सन् 1990 से, वैश्वीकरण समाजशास्त्रियों के परम्परागत ज्ञान का हिस्सा बन चुका है। समकालीन समाजशास्त्र (Contemporary Sociology) नामक जर्नल ने सितम्बर 1996 के अपने अंक में पुस्तकों की विषय-वस्तु पर आधारित एक सर्वेक्षण प्रकाशित किया था। जिसका निष्कर्ष इस प्रकार है : नारी आन्दोलन, अन्तर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था, जीव-प्रजनन, आव्रजनन (Immigration), प्रजाति-पार्थक्य (Apartheid), प्रजातिवाद, जंगल उत्पादित उद्योग, महासागरपारीय कम्पनियाँ (Transnational Corporations), खाद्य उत्पादन एवं वितरण, केन्द्रीय बैंक और अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक व्यवस्थायें, अमेरिकी विदेश-नीति, तीसरी दुनिया के नगरों का विकास, आधुनिक समाजों के मूल्यों में परिवर्तन आदि इन सभी के शीर्षकों में वैश्विक, वैश्वीकरण, वैश्विकता जैसे शब्द अवश्य पाये गये हैं। यह निर्विवाद रूप से सत्य है कि आज की दुनिया एक ऐसा ग्रह (Planet) बन चुकी है जिस पर देशों की सीमाओं से ऊपर उठकर फैशन के सभी सामान बनाये और बेचे जाते हैं। दुनिया के एक कोने से दूसरे कोने तक इलेक्ट्रानिक मेल भेजा और प्राप्त किया जा सकता है। दुनिया के एक कोने पर बैठा कोई व्यक्ति दुनिया के दूसरे कोने के सामान को ई-कामर्स द्वारा खरीद सकता है तथा ई-बैंकिंग सेवा के अन्तर्गत मास्टर कार्ड द्वारा कहीं से उसका भुगतान कर सकता है। उपयोगी वस्तुओं की शृंखला (Commodity Chains), साइबर समाज का विकास, पर्यावरण का समाजशास्त्र, लचर रोजगार (Flexible Employment), लचर कार्य (Flexible work), अन्तर्राष्ट्रीय श्रम विभाजन, इण्टरनेट, बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ, नव उपनिवेशवाद आदि के रूप में रेखांकित किया जा सकता है।

3.14 वैश्वीकरण के पहलू (Aspects of Globalisation)

वैश्वीकरण की प्रक्रिया हमारे यहाँ और अन्यत्र भी आर्थिक सुधारों के साथ जुड़ी हुई है। **अमित भादुड़ी** और **दीपक नैय्यर** कहते हैं कि भारत सरकार ने जिस उदारीकरण की नीति को अपनाया है वह अपने आप में एक रूढ़िवादी व्यवस्था है। इस नीति के कारण वैश्वीकरण हाल में नये आयामों को पहुँच रहा है। **इन अर्थशास्त्रियों के अनुसार वैश्वीकरण के तीन महत्त्वपूर्ण आर्थिक पहलू हैं। पहला तो पहलू यह है कि इससे यानी वैश्वीकरण से अन्तर्राष्ट्रीय बाजार खुल गया है।** अब कोई भी व्यक्ति देश के किसी भी कोने से दूसरे देश के किसी भी कोने के साथ व्यापार कर सकता है। **वैश्वीकरण का दूसरा पहलू यह है कि अब अन्तर्राष्ट्रीय निवेश** (International Investment) **सरलता से किया जा सकता है। किसी भी देश का व्यक्ति हमारे यहाँ उद्योग चलाने के लिए, कारखाना खोलने के लिए पूंजी लगा सकता है।** एक तीसरा पहलू और है

नोट

और वह यह कि अर्थव्यवस्था में अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय सहायता को काम में लिया जा सकता है। इस भाँति अगर हम आर्थिक संदर्भ में देखें तो वैश्वीकरण ने भारत के अर्थ बाजार में तीन नयी प्रक्रियाएँ प्रारम्भ कर दी हैं–

(1) खुला अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार (Open International Trade)

(2) अन्तर्राष्ट्रीय निवेश (International Investment)

(3) अन्तर्राष्ट्रीय वित्त (International Finance)

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और विश्व बैंक ने जिस कार्य पद्धति को आर्थिक सुधारों के तत्वावधान में चलाया है इसके कई परिणाम हमें देखने को मिले हैं। **अब आये दिन नई तकनीकी इस देश में आ रही है, सूचना का एक पूरा नेटवर्क देश में फैल गया है और आर्थिक सेवाओं ने सम्पूर्ण देश को अपने में समेट लिया है।** यहाँ यह अवश्य कहना चाहिए कि वैश्वीकरण ने सांस्कृतिक क्षेत्र में भी कई नये आयाम प्रस्तुत किये हैं। लेकिन अभी हम वैश्वीकरण के आर्थिक परिणामों को भी देखेंगे। अब बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ हमारे देश में स्थापित हो गयी हैं। इसके परिणामस्वरूप धड़ाधड़ नये उत्पादन बाहर आ रहे हैं। देश में उपभोक्तावाद निरन्तर बढ़ रहा है। जो भी बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ देश में काम कर रही हैं, स्पष्ट रूप से उनका उद्देश्य मुनाफा कमाना है। वे यह इरादा नहीं रखती कि विकासशील देशों को विकसित किया जाये। इस अर्थ में देश में जो भी विदेशी निवेश हो रहा है **उसका उद्देश्य स्थानीय बाजार को अपने हाथ में ले लेना है।** सरकार ने देशी और विदेशी निवेश के लिये कर का एक ही **टेरिफ** (Tariff) लागू किया है। यह समानता वर्ल्ड बैंक और **अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष** के आग्रह से लायी गयी है। सरकार ने उदारीकरण के नाम पर इसे लागू कर दिया है। वास्तव में इसका लाभ विदेशी निवेशक लेते हैं और यह सब धन बाहर चला जाता है। बात यह है कि उदारीकरण और निजीकरण की नीति के अन्तर्गत हमने स्थानीय निवेश को प्रोत्साहित नहीं किया है और परिणामस्वरूप इसका लाभ विदेशी निवेशकों को मिलता है। हमारी निजीकरण की नीति में एक और दोष है। **हम पूँजी के निवेश को देशी और विदेशी दोनों के लाभ के लिए समझते हैं। हमें जोर यह देना चाहिए कि निजी निवेश का उद्देश्य विकास होना चाहिए, मुनाफा नहीं। इस भाँति वैश्वीकरण का बहुत सशक्त आधार आर्थिक है और इसलिए वैश्वीकरण उत्पादन का विदेशी निवेश है और इसी तरह वैश्वीकरण वित्तीय समायोजन का एक साधन है।**

लेकिन वैश्वीकरण अन्तर्राष्ट्रीय बाजार ही नहीं है, अन्तर्राष्टीय व्यापार ही नहीं है, अन्तर्राष्ट्रीय निवेश ही नहीं है, **यह एक ताकतवर सांस्कृतिक प्रक्रिया भी है।** इस पहलू के आलोचक कहते हैं कि **वैश्वीकरण और कुछ न होकर अमेरिका और यूरोप का सांस्कृतिक साम्राज्यवाद** (Cultural Imperialism) **है। अब हम इसके सांस्कृतिक और सामाजिक पक्ष को देखेंगे।**

वैश्वीकरण : सांस्कृतिक और सामाजिक पहलू (Globalisation : Cultural and Social Aspects)

इन्टरनेशनल सोशियोलॉजी (International Sociology) अन्तर्राष्ट्रीय समाजशास्त्रीय समुदाय का एक मुख्य पत्र है। इसने अपने खण्ड 15 जून, 2001 के अंक में वैश्वीकरण की एक बहुत बड़ी व्याख्या की है। यह अंक विशेषांक है और इसका **थीम** वैश्वीकरण ही है। इसके सम्पादकीय में **गोरन थेरबोर्न** (Goran Therborn) ने एक सशक्त टिप्पणी वैश्वीकरण पर लिखी है। वे कहते हैं कि इक्कीसवीं सदी की बहुत नजदीकी धरोहर जो समाज विज्ञानों को है वह वैश्वीकरण की है। इसका प्रारम्भ सन् 1930 के मध्य से है। अगर हम सन् 1980 के अंग्रेजी, फ्रेन्च, स्पेनिश और जर्मन शब्द कोषों को देखें तो हमें इनमें वैश्वीकरण नाम का कोई शब्द नहीं मिलेगा। यह अवश्य है कि अरब भाषा में चार शब्द ऐसे हैं जिनका अर्थ यदि खींच-खींच कर लगाया जाये तो वैश्वीकरण से निकलता है। जापान के व्यवसाय में इस शब्द का प्रयोग सन् 1980 के आसपास हुआ है। चीन में तो इसका प्रयोग सन् 1990 के दशक में हुआ है। ये सब उल्लेख बताते हैं कि वैश्वीकरण एकदम नयी प्रक्रिया है जिसके विकास का प्रारम्भ सन् 1990 से है। अन्तर्राष्ट्रीय समाजशास्त्र के सम्पादक एक और सूचना देते हैं। वे कहते हैं कि स्वीडन की सरकार ने 1990 में एक समिति बनायी थी जिसका उद्देश्य दुनियाँ भर में आधुनिकता की जो संस्थाएँ हैं उनकी पड़ताल करना था। इस समिति में कुछ पत्र आमंत्रित किये गये थे उन्हीं को इस विशेषांक में रखा गया है। **यह अंक बड़ी खूबी के साथ बताता है कि समाजशास्त्री वैश्वीकरण का क्या अर्थ लगाते हैं और इसका किस भाँति प्रयोग करते हैं।**

नोट

यदि आर्थिक पहलुओं को छोड़ दें तो वैश्वीकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जो सांस्कृतिक फैलाव की चर्चा करता है। **यह एक तरह का सांस्कृतिक पेराडिम या ऐजेण्डा है।** वैश्वीकरण के अन्तर्गत जहाँ दुनियाभर की विभिन्नताओं को पहचाना जाता है वहीं दुनियाँ की सजातीयता को भी समझा जाता है। वैश्वीकरण दो तथ्यों पर बराबर जोर देता है। यह सारे संसार की बात करता है और आकाशीय (Spatial) तत्त्वों की चर्चा करता है। जब सन् 1990 में वैश्वीकरण आया तब इसके समर्थकों ने परम्परागत समाजशास्त्र की यह कहकर आलोचना की कि समाजशास्त्र केवल **राष्ट्रीय-राज्यों** (Nation-States) तक ही सीमित है। समाजशास्त्र यह नहीं देखता कि **यह दुनियाँ वास्तव में कई समाजों की एक व्यवस्था है।** वैश्वीकरण समाज के सभी क्षेत्रों का अध्ययन करता है और **ऐसा करने में वह यह देखता है कि दुनिया भर में विभिन्नताएँ** (Variations) **कितनी हैं और उनको जोड़ने वाली कितनी इकाइयाँ हैं।** जब वैश्वीकरण सांस्कृतिक पहलुओं का विश्लेषण करता है तब आग्रह करता है कि संसार के कुछ ऐसे तत्व हैं जिनमें आदान-प्रदान होना चाहिए। इस दृष्टि से वैश्वीकरण एक सांस्कृतिक प्रक्रिया है। यह सामाजिक परिवर्तन को बताती है और सम्पूर्ण विश्व को अपने में बाँध लेना चाहती है।

भारत जैसे देश में जहाँ वैश्वीकरण की प्रक्रियाएँ हमें देखने को मिलती हैं, राष्ट्रीय और स्थानीय संस्कृति पर इसका बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा है। इस प्रभाव के कारण ऐसा लगता है कि कहीं विदेशी संस्कृति का प्रभाव हमारी स्थानीय संस्कृति की पहचान को न समाप्त कर दे। **योगेन्द्रसिंह** ने इन दोनों संस्कृतियों के आदान-प्रदान का विश्लेषण किया है। उन्हें लगता है कि **वैश्वीय संस्कृति** के कुछ तत्त्वों को अपनाकर भी भारतीय स्थानीय संस्कृति अपनी मौलिक पहचान को अवश्य बनाये रखेगी।

3.15 वैश्वीकरण के प्रभाव (Impact of Globalisation)

वैश्वीकरण में सकारात्मक और नकारात्मक दोनों प्रकार की ऊर्जा है। वैश्वीकरण एक दोधारी तलवार है। वैश्वीकरण के परिणामस्वरूप विविध क्षेत्रों में सकारात्मक परिवर्तन हो रहे हैं। जबकि, इसके परिणामस्वरूप विविध क्षेत्रों में नकारात्मक परिवर्तन भी हो रहे हैं। इससे हानि तथा विनाश की स्थिति भी सामने आ रही है। इन दोनों पक्षों की विवेचना द्वारा ही वैश्वीकरण के परिणामों को समझना तार्किक और वैज्ञानिक मूल्यांकन होगा।

वैज्ञानिक, चिकित्सकीय तथा इसी प्रकार के अन्य आविष्कार सभी के लिये उपलब्ध हुये हैं। आज अधिकांश क्षेत्रों में गैरदेशीय (Transational) संगठनों का तेजी से निर्माण हो रहा है। हरित शांति (Green Peace), नारीवादी आन्दोलन (Women's Movements), स्थानीय समुदायों तथा देशीय लोगों के सशक्तीकरण से सम्बन्धित (Concern for Empowerment of Local Communities and Indigenous People) आदि आन्दोलनों के माध्यमों से दुनिया भर के लोग आपस में एकता का अनुभव कर रहे हैं। अन्तर्राष्ट्रीय सरकारी संगठनों के व्यापक जाल से एन.जी.ओ. (NGO's) के माध्यम से आज दुनिया के साथ जुड़ रहे हैं तथा एक अन्तर्राष्ट्रीय शासन व्यवस्था को विकसित करने का मार्ग प्रशस्त कर रहे हैं।

वैश्वीकरण के नकारात्मक परिणाम भी बहुत अधिक हैं। बेरोजगारी को बढ़ावा मिल रहा है। दलील दी जाती है कि बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ उत्तर उपनिवेशवादी श्रम के विभाजन को बरकरार रखे हुये हैं, जो मुख्यतया विकसित देशों द्वारा संचालित होते हैं तथा दुनिया के अविकसित देशों के सस्ते श्रम और कच्चे माल का भरपूर उपभोग करते हैं। विकसित राष्ट्रों के पास आंकड़ों का संकलन तथा सूचना प्रौद्योगिकी पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है। इसका विकसित राष्ट्रों द्वारा उत्पादन और वित्तीय विनियोग में इस्तेमाल किया जाता है। लम्बी दूरी तक तत्काल सम्प्रेषण स्थापित करने, समुद्रपार के देशों की कम्पनियों की वित्तीय व्यवस्थाओं को संचालित करने तथा बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के प्रबंधन को अंजाम देने में इस्तेमाल किया जाता है।

सेटेलाइट, टेलीविजन, इण्टरनेट, ई-मेल जैसे दूरसंचार के माध्यमों द्वारा पर्दे पर हरपल एक नई प्रतिमा परोसी जा रही है। फैशन की एक नई दुनिया प्रस्तुत की जा रही है। इसके माध्यम से एक नई वैश्विक प्रस्थिति निर्मित की जा रही है। सांस्कृतिक वस्तुओं, खान-पान, वेष-भूषा, संगीत, स्थापत्य, कला, फिल्म आदि के माध्यम से एक नया स्वाद उत्पन्न किया जा रहा है जो नये वैश्विक व्यवहार को बढ़ावा दे रहा है तथा स्थानीय पहचान को नष्ट कर रहा है।

नोट

वैश्वीकरण के प्रभावों को मुख्य रूप से निम्नलिखित बिन्दुओं पर स्पष्ट किया जा सकता है–

विश्व अर्थव्यवस्था का एकीकरण (Integration of World Economy)—आज दुनिया में उदारीकरण, खुली अर्थव्यवस्था एवं मुक्त बाजार प्रणाली लागू है। इसका सीधा अर्थ है विश्व अर्थ व्यवस्था का एकीकरण। विश्व बैंक, डब्ल्यू.टी.ओ. (विश्व व्यापार संगठन) सहित विभिन्न आर्थिक तथा वाणिज्यिक संगठनों द्वारा विकासशील तथा अविकसित राष्ट्रों की अर्थव्यवस्था को नियंत्रित किया जा रहा है। इसमें विकसित राष्ट्रों की अर्थनीति प्रभावी भूमिका निभा रही है।

सामान्य मुद्रा (Common Currency)—वैश्वीकरण के दौरान मुद्रा का एकीकरण हो रहा है। वर्ष 2001 में यूरोप के सभी देशों की एक सामान्य मुद्रा (A Common Currency) हो गयी है। 'इसका नाम है यूरो'। इससे सम्पूर्ण यूरोप के देशों को मुद्रा-विनियम में सहजता हो गयी है। मुद्रा के विनिमय (Exchange of currency) की समस्या से छुटकारा मिल गया।

नवम्बर 2003 में शार्क देशों का सम्मेलन सम्पन्न हुआ। इसमें एशियाई देशों की एक सामान्य मुद्रा (Common Currency) बनाने की आवाज उठी। यदि भविष्य में ऐसा सम्भव हुआ तो विकासशील देशों के लिये एक नयी आशा की किरण दिखाई पड़ेगी।

विकासशील और अविकसित राष्ट्रों की अर्थव्यवस्था मुख्य रूप से कृषि क्षेत्र पर निर्भर होती है। विशाल मानव पूँजी इसी पर निर्भर है। विश्व हेतु कृषि क्षेत्र को मुक्त करना इन देशों के लिये आत्मघाती होगा। जबकि, ऐसा करने के लिये दबाव पड़ रहा है। यह अर्थ व्यवस्था के एकीकरण का नकारात्मक पक्ष है। इस संदर्भ में तथ्य इस प्रकार हैं। दिसम्बर 2003 में दक्षिण एशियाई देशों के सम्पन्न कानकुन सम्मेलन में विकासशील तथा अविकसित राष्ट्रों पर अपने कृषि क्षेत्रों को भी मुक्त करने हेतु दबाव पड़ा। दलील दी गयी कि इससे सकल घरेलू उत्पादन (जी.डी.पी.) में बढ़ोत्तरी होगी। कृषि क्षेत्र औद्योगिक क्षेत्र तथा रोजगार के क्षेत्र, ये तीनों क्षेत्रों के योगदान के सकल घरेलू उत्पादन (जी.डी.पी.) की दर निर्धारित की जाती है। औद्योगिक तथा रोजगार के क्षेत्र में अधिकांश देशों ने उदारीकरण तथा खुली अर्थव्यवस्था स्वीकार कर ली है। किन्तु, भारत जैसे कृषि प्रधान देश ने अभी तक कृषि क्षेत्र को विश्व हेतु नहीं खोला है। इसके लिये लगातार आर्थिक दबाव पड़ रहे हैं।

विश्व बाजार का एकीकरण (Integration of World Market)—20वीं शताब्दी दुनिया में औपनिवेशिक शासनतंत्रों की समाप्ति की शताब्दी रही। इसमें अनेकों राष्ट्र-राज्य से औपनिवेशिक शासनतंत्र समाप्त हुये। इसके लिये स्वतंत्रता संग्राम चले। इसी शताब्दी ने प्रथम और द्वितीय विश्वयुद्ध भी झेले। अत: 20वीं शताब्दी को राष्ट्र-राज्य के राष्ट्रीय संघर्षों की शताब्दी के रूप में देखा जा सकता है। राष्ट्रीय संघर्षों के गर्भ से तीव्र राष्ट्रीयता ने जन्म लिया। राष्ट्रीयता, राष्ट्र-निर्माण की पूर्वगामिनी होती है। राष्ट्र-निर्माण के क्रम में तीव्र राष्ट्रीयता ने राष्ट्रीय बाजारों की पुनर्स्थापना की।

1980 के दशक में राजनीतिक उपनिवेशवाद ने आर्थिक उपनिवेशवाद के रूप में पुनर्जन्म ले लिया। इसे वैश्विक व्यवस्था का नाम दिया गया। मुक्त बाज़ार व्यवस्था, मुक्त अर्थव्यवस्था, उदारीकरण की नीति, नवीन सूचना प्रौद्योगिकी आदि ने इसे पुष्पित पल्लवित होने के लिये उर्वरा भूमि उपलब्ध करायी। आज विश्वबाजार का एकीकरण हो रहा है। अधिकांश देशों के माल की खपत हेतु अधिकांश देशों के बाजार खुले हैं। इसके सकारात्मक और नकारात्मक दोनों परिणाम सामने आ रहे हैं। विश्व बाजार के एकीकरण से सबके लिये सभी बाज़ारों के द्वारा खुले हैं। इससे व्यापार और वाणिज्य की पर्याप्त सम्भावनायें उपलब्ध हुई हैं। अविकसित और विकासशील देशों की मानव पूँजी को कार्य के नये अवसर उपलब्ध हुये हैं तथा विदेशी मुद्रा के भंडार में वृद्धि हुई है।

इसके नकारात्मक परिणाम भी हैं। बाजार के दबाव से राष्ट्र-राज्य की नीतियाँ निर्धारित हो रही हैं। राष्ट्रीय मुद्दों में बाज़ार का सीधा दखल बढ़ रहा है। बहुराष्ट्रीय कम्पनियों तथा ट्रांसनेशनल कम्पनियों के मजबूत आर्थिक शिकंजे में बाज़ार फँस चुका है। बाज़ार द्वारा लघु तथा कुटीर उद्योग को हाशिये पर किया जा रहा है। आर्थिक दृष्टि से कमजोर लोगों की बाज़ार में भागीदारी महत्त्वहीन हो रही है। इससे शोषण तथा बेकारी जैसी सामाजिक समस्याओं को बढ़ावा मिल रहा है। बाज़ारवाद हावी हो रहा है। विज्ञापन आदि के माध्यम से उत्पादन के अनुरूप बाज़ार पैदा किया जा रहा है। इससे उपभोक्तावाद में तेजी से वृद्धि हो रही है। परिणामस्वरूप मानवीय चेतना

नोट

सुसुप्त हो रही है। भारत सरकार ने दिनांक 26 मई, 2004 को विनिवेश मंत्रालय समाप्त कर दिया। फिर दिनांक 8 जुलाई, 2004 को संसद में बजट पेश करते हुये वित्तमंत्री ने अधिक विदेशी निवेश का प्रावधान किया। इससे बाजार के एकीकरण का एक नया स्वरूप सामने आ रहा है।

राष्ट्रवाद बनाम वैश्विकवाद (Nationalism Versus Globalisation)–अन्य सामाजिक तथ्यों की तरह राष्ट्रवाद भी ऐतिहासिक तथ्य है। लोक जीवन के विकास-क्रम में वस्तुनिष्ठ और भावनिष्ठ दोनों प्रकार के ऐतिहासिक तत्वों की परिपक्वता के पश्चात् राष्ट्रवाद का उद्भव हुआ। जैसा ई. एच. कार ने लिखा है, 'सही अर्थों में राष्ट्र का उदय मध्य युग की समाप्ति पर ही हुआ।' ए. आर. देसाई मानते हैं कि सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक विकास के खास दौर में राष्ट्रों का जन्म हुआ। सामाजिक अस्तित्व के पूर्ववर्ती कालों के अराष्ट्रिक जनसमुदायों से आधुनिक युग के राष्ट्र अपने निम्नलिखित गुणों के कारण भिन्न हैं : राष्ट्र के सारे सदस्य किसी निश्चित भू-भाग में एक ही अर्थतंत्र के अन्तर्गत परस्पर जैविक रूप से संपृक्त होते हैं, जिसके फलस्वरूप उनमें सम्मिलित आर्थिक अस्तित्व का अभाव होता है, वे प्राय: एक ही भाषा का प्रयोग करते हैं, उनकी एक-सी मनोवैज्ञ. ानिक टेलीफोन टेलेक्स, टेलीप्रिन्टर, टेलीविजन, रेडियो, डिजिटल माइक्रोसाफ्ट, आप्टिकल फाइवर, केबल, डाटकाम, इन्टरनेट, साफ्टवेयर, हार्डवेयर अर्थात नवीनतम संचार उपकरण पुरानी तकनीकों से कहीं अधिक प्रभावकारी हैं। इसका प्रभाव क्षेत्र भी कई गुना अधिक विस्तृत है। आधुनिक संचार तकनीक का मूल आधार है–कम्प्यूटर। इंटरनेट विश्व का सबसे बड़ा कम्प्यूटर नेटवर्क है, जो पूरी दुनिया के कोने-कोने में फैला है। इससे दुनिया के दृष्टिकोण में बुनियादी परिवर्तन आ रहा है। ई–बैंकिंग, ई-लर्निंग का प्रयोग धड़ल्ले से हो रहा है। कोई व्यक्ति दुनिया के किसी कोने में बैठकर हजारों मील दूर दूसरे कोने से धनराशि जमा कर सकता और निकाल सकता है। इसी प्रकार से कोई व्यक्ति एक स्थान पर बैठे-बैठे हजारों मील दूर से प्रशिक्षण प्राप्त कर सकता है।

विभिन्न टी. वी. चैनल्स द्वारा प्रतिपल हमारे घर के अन्दर दुनिया के सभी कोने के समाचारों का संजीव प्रसारण किया जा रहा है। इसके माध्यम से विश्व एक परिवार में सिमट-सा गया है।

सेटेलाइट ने दुनिया के तार को एक में पिरो दिया है। आई. टी. अर्थात सूचना प्रौद्योगिकी (Information Technology) के अधिकांश उपकरण विकास का मार्ग प्रशस्त कर रहे हैं तथा ज्ञान का वर्धन कर रहे हैं। आई. टी. (Information Technology) के सूचकों के प्रयोग सम्बन्धी आंकड़ों से वैश्वीकरण के बारे में एक प्रस्थापना निर्मित की जा सकती है। यह निम्नलिखित हैं–

वैश्वीकरण और सूचना प्रौद्योगिकी के बीच सह-सम्बन्ध है। जिन देशों में वैश्वीकरण की तीव्रता की दर उच्च है उसमें सूचना प्रौद्योगिकी के सूचकों के प्रयोग की दर भी उच्च है।

ई-जर्नलिज्म–संचार क्रान्ति ने वैश्वीकरण को गति और ऊर्जा प्रदान की है। मीडिया विशेषज्ञ मार्शल मैक्लूहन की पुस्तक 'द मीडियम इन मैसेज' (The Medium is Massage), माध्यम ही संदेश है द्वारा स्पष्ट होता है कि सूचना की तुलना में सूचनातंत्र का विशेष महत्त्व है। सूचना आज निर्णायक ताकत के रूप में उभरी है। इसका तंत्र आज न केवल विचारधारा के नियंत्रण से मुक्त है अपितु विचारधारा ही सूचना तंत्र के ज़रिए नियंत्रित हो रही है। आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक आदि हर क्षेत्र में सूचना तंत्र की निर्णायक भूमिका है। शेयर बाजार का मिजाज तीव्र सूचना माध्यम तय करते हैं, न कि गतिशील विकास-दर। सूचना तथा सूचना तंत्रों का आज वैश्विक स्तर पर एकीकरण हो रहा है।

सूचना के प्रसारक, टेलीफोन, टेलीग्राफ और टेलेक्स अब पुराने पड़ते जा रहे हैं। ई-मेल (इलेक्ट्रानिक डाक), ई-फैक्स, सेल्यूलर फोन, पेजर, टेलीटेक्स्ट तथा कम्प्यूटर डेटा बैंक आगे बढ़ रहे हैं। माइक्रोचिप्स, उपग्रहों, माइक्रो तरंगों, रोबोट शोध प्रचलित हैं। कम्प्यूटर नेटवर्किंग ने पैर जमाना प्रारम्भ कर दिया है। विदेश संचार निगम लिमि. टेड, नेशनल इन्फार्मेटिक्स सेंटर, सी-डॉट (सेंसर फार डेवलपमेंट ऑफ टेलीकम्युनिकेशन्स) द्वारा सूचना का प्रवाह अत्यन्त द्रुत गति से चल रहा है। इंटरनेट की बहुआयामी सक्रियता और तकनीकी कौशल को समाचारों की विशाल दुनिया से जोड़कर सूचना जगत में उस क्रान्ति का रास्ता आसान किया जा रहा है जहाँ खबर देने और लेने वाले एक-दूसरे को अच्छी तरह समझते हैं, जहाँ उपभोक्ता को महज कूड़ापात्र नहीं समझा जाता बल्कि उसे उसकी रुचि के मुताबिक ठोस-सूचनाएँ पेश की जाती हैं।

नोट

सम्प्रति, ई-जर्नलिज्म जीवन और जगत का एक अनिवार्य अंग बन चुका है। इसने अपनी उपयोगिता तथा गुणवत्ता सिद्ध कर दी है। दुनिया के लिये यह एक वरदान सिद्ध हो रहा है। किन्तु इसका एक दूसरा पक्ष भी है।

संचार क्रान्ति ने जिस वैश्वीकरण के शिशु को युवा बनाया है उस पर बहुत सारे आरोप भी लग रहे हैं। प्रोफेसर **हर्बर्ट शिलर** के अनुसार मीडिया का राजनीतिक और आर्थिक सत्ता के साथ गहरा सम्बन्ध है। 'मास कम्युनिकेशन एण्ड अमेरिकन एम्पायर' (1969) और 'दि माइण्ड मैनेजर्स' (1973) नामक पुस्तक में शिलर ने भूमंडलीय वर्चस्व की व्याख्या प्रस्तुत करते हुये मीडिया की भूमिका को रेखांकित किया है। वे मानते हैं कि 'सुपर हाइवे' के नाम से जितने भी परिवर्तन आ रहे हैं वे सब जनता की सम्पत्ति की कीमत पर आ रहे हैं। 'रेडियो स्पैक्ट्रम फ्रीक्वेंसी' का कारपोरेट हितों के विस्तार के लिये इस्तेमाल हो रहा है। इस पर कोई बहस या चर्चा नहीं हो रही है। 'रेडियो स्पैक्ट्रम फ्रीक्वेंसी' राष्ट्रीय सम्पत्ति है। प्राकृतिक संसाधन है। रेडियो का आरम्भ में जनता के संसाधन के रूप में इस्तेमाल शुरू हुआ था। किन्तु, बाद में इसका दुरुपयोग हुआ। जिन्हें रेडियो प्रसारण के लिये लाइसेंस दिये गये वे जनता को दिये गये वायदों को भूल गये। वे मुनाफे के विस्तार के लिये रेडियो का इस्तेमाल करने लगे। 'रेडियो स्पैक्ट्रम फ्रीक्वेंसी' का जनता की स्वीकृति के बगैर व्यापारिक उद्देश्यों के लिये इस्तेमाल किया जा रहा है। यही स्थिति आर्थिक उदारीकरण के कारण हमारे देश में भी है। रेडियो स्पैक्ट्रम फ्रीक्वेंसी का निजी व्यापारिक हितों के लिये इस्तेमाल हो रहा है। खासकर मीडिया और दूरसंचार के क्षेत्र में। मीडिया और दूरसंचार के विभिन्न माध्यमों द्वारा जनता को उपभोक्ता बनाया जा रहा है। जनता के चित्त और मनोविज्ञान को बदला जा रहा है। आधुनिक उपभोग के साधनों के प्रति भूख पैदा की जा रही है। उपभोक्तावादी संस्कृति का प्रचार-प्रसार जमकर किया जा रहा है। शिलर के विचारों के क्रम में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित होता है। संचार क्रान्ति ने दुनिया के फायदे के लिये अपार सम्भावनायें उपस्थित की हैं। जबकि, संचार के अत्याधुनिक साधनों का अपने स्वार्थ-पूर्ति हेतु व्यापक दुरुपयोग भी किया जा रहा है। अतः प्रश्न यह खड़ा होता है कि आखिर दोष किसका है क्रान्ति का? अथवा इसका दुरुपयोग करने वालों का यह विचार-मंथन का विषय है।

सांस्कृतिक बहुलवाद (Cultural Pluralism)—जब किसी समाज में अधिकाधिक संस्कृतियों के लोग साथ-साथ रहते हैं तथा उनके इस प्रकार के सह-अस्तित्व का समर्थन भी किया जाता है; तब यह स्थिति सांस्कृतिक बहुलवाद के नाम से जानी जाती है। इसका उत्कृष्ट उदाहरण भारत है। यहाँ विभिन्न मत-मतान्तर वाले समुदायों को भारतीय समाज की महत् परम्पराओं में सहभागी रहते हुए अपनी-अपनी सांस्कृतिक परम्पराओं के पालन की स्वच्छंदता रहती है।

वैश्वीकरण के दौर में एक संस्कृति के व्यक्ति की दूसरे संस्कृति वाले व्यक्ति के साथ अन्तर्क्रियाएँ अपरिहार्य हैं। इन अन्तर्क्रियाओं को विश्व समुदाय की स्वीकृति होती है। इसी के साथ-साथ एक देश के व्यक्ति का दूसरे देश में आवागमन भी बढ़ा है। व्यवसाय, वाणिज्य, राजनीतिक, सामाजिक अथवा अन्यान्य कारणों से आवागमन बढ़ा है। इसके परिणामस्वरूप सांस्कृतिक बहुलवाद को बढ़ावा मिल रहा है।

आज सांस्कृतिक आन्तरिक सम्बन्धता को बढ़ावा मिल रहा है। इसका मुख्य कारण है जनसंचार, उत्प्रवास, पर्यटन, विदेशी कम्पनियाँ, आदि। वैश्वीकरण के कारण विकसित और विकासशील देशों के बड़े नगरों की ओर उत्प्रवास तेजी से बढ़ रहा है। इससे लोगों के समक्ष यह समस्या खड़ी हो रही है कि वे अपने ही मूल निवास स्थान पर अपनी परम्परागत तथा लोकसंस्कृति, राष्ट्रीयता, नागरिकता, तथा सामाजिक जीवन के अन्य पक्षों के साथ समायोजन करके किस प्रकार से जीवन व्यतीत करें।

कुछ समाज वैज्ञानिक यह मानते हैं कि वैश्वीकरण के फलस्वरूप बहुसंस्कृतिवाद (Multiculturism) को बढ़ावा मिल रहा है। खान-पान, रहन-सहन, वेश-भूषा सहित जीवन की विभिन्न आवश्यकताओं की सामग्री तथा एक देश के उत्पादन की दूसरे देश में आज खपत हो रही है। इसके माध्यम से भी एक देश की संस्कृति दूसरे देश में पहुँच रही है। आकाशीय मार्ग से विदेशी संस्कृति हमारे घरों में प्रवेश कर रही है। विभिन्न टी. वी. चैनल्स विदेशी संस्कृति के वाहक हैं। कुछ लोग इसे सांस्कृतिक आक्रमण की संज्ञा भी प्रदान करते हैं।

भाषाई वर्चस्व (Linguistic Dominance)—वैश्वीकरण का एक दुष्परिणाम यह हुआ कि कमजोर देशों की भाषायें मार खा गयीं। हिन्दी उतनी मार नहीं खायेगी। क्योंकि, हिन्दी देश की अपनी आन्तरिक शक्ति है।

लेकिन जो कमज़ोर देश हैं, गरीब देश हैं, जिनकी आबादी कम है, उनकी भाषायें यदि निश्चिह्न न भी हों तो भी बहुत दुर्बल हो जायेंगी। यदि उनको दुनिया के मुकाबले में आना है तो इण्टरनेट में आना होगा। इण्टरनेट में आने के लिये अंग्रेजी सीखनी पड़ेगी। सारा का सारा आधुनिकतम ज्ञान अगर हमको किसी एक भाषा से जल्दी मिल सकता है तो वह अंग्रेजी है। वैश्वीकरण का सबसे प्रभावी और उदीयमान उपकरण इण्टरनेट अंग्रेजी का सबसे बड़ा वाहक बन गयी है। बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ तथा ट्रांसनेशनल कम्पनियाँ भी अंग्रेजी की वाहक हैं। अंग्रेजी का आक्रमण आकाशीय मार्ग अर्थात् विदेशी टी.वी. चैनलों द्वारा भी हो रहा है।

आज भूमण्डलीकरण के कारण राष्ट्रीयता और भाषा निरपेक्षता, राष्ट्र निरपेक्षता और भाषा निरपेक्षता दोनों के आगे एक भविष्य बन रहा है। हम वैश्वीकरण के सांस्कृतिक पक्ष से ही सरोकार रखें तो साम्राज्यवादी संस्कृति या साम्राज्यवाद के सांस्कृतिक मोर्चे सम्बन्धी विवाद तत्काल ध्यान आकर्षित करते हैं। इस संदर्भ में भाषाओं के विलोपीकरण का मुद्दा, जिससे यूनेस्को भी चिन्तित है, नए रूप में आ खड़ा होता है। क्या वैश्वीकरण के कारण कुछ का या अंतत: अंग्रेजी का वर्चस्व कायम हो जायेगा और अन्य भाषाएँ गौण से गौणतर होती हुई विलुप्त हो जायेंगी? यह प्रश्न विशेषकर अविकसित और विकासशील देशों की भाषाओं के बारे में खास तौर पर प्रासंगिक होता जा रहा है। अंतर्राष्ट्रीय उद्योग-व्यवसाय की भाषा अधिकाधिक अंग्रेजी होती जा रही है।

आउट सोर्सिंग (Out Sourcing)—वैश्वीकरण का एक प्रमुख एजेंट है आउट सोर्सिंग। अमेरिका तथा यूरोप के देशों में आज आउट सोर्सिंग पर गर्मागर्म बहस चल रही है। इसकी शुरुआत अमेरिका ने ही की थी। किन्तु, आज वही इसे बंद करने के लिये प्रयासरत है। क्योंकि, इससे विकासशील राष्ट्रों को फायदा पहुँच रहा है। अमेरिकी खुफिया विभाग की एक महत्त्वपूर्ण शाखा है एन. टी. सी. (नेशनल इंटेलिजेंस काउंसिल)। यह अमेरिकी सरकार को खुफिया जानकारियाँ तथा सलाह उपलब्ध कराती हैं। एन.टी.सी. प्रमुख श्री राबर्ट एल. हिकिक्स ने मार्च 2004 में अमेरिकी सरकार को एक रिपोर्ट सौंपी है। दिनांक 21 मार्च, 2004 को यह रिपोर्ट दुनिया के अखबारों में छपी। रिपोर्ट के अनुसार व्यवसाय संबंधी आउट सोर्सिंग एक नवीन रुझान है। यह कम्पनियों को अपनी उत्पादन दर को घटाने में मदद करता है। इसके द्वारा भविष्य में आने वाले खतरों से अमेरिकियों को आगाह करते हुये रिपोर्ट में कहा गया कि बड़े पैमाने पर विदेशी कम्पनियाँ आउट सोर्सिंग द्वारा अमेरिकी सूचनाएँ और प्रौद्योगिकी चुरा रही हैं। इससे विदेशों से कम्प्यूटर कोड्स और हार्डवेयर के आयात सम्बन्धी सुरक्षा का गम्भीर संकट आने वाला है।

रिपोर्ट में खुफिया प्रमुख ने आर्थिक तथा अन्य गोपनीयताओं की आउट सोर्सिंग द्वारा की जा रही चोरी से सावधान करते हुये कहा है कि आने वाले पन्द्रह वर्षों में सिर्फ सॉफ्टवेयर के क्षेत्र में तीस लाख रोजगार अमेरिका से बाहर चले जायेंगे। इसमें से 70 प्रतिशत भारत में, 20 प्रतिशत फिलीपीन्स में तथा 10 प्रतिशत चीन में रोजगार चले जायेंगे। **'वैश्वीकरण के परिणामस्वरूप आउट सोर्सिंग तेजी से। आउट सोर्सिंग के माध्यम से विकासशील देशों में लाखों रोजगार का आगमन'।** यह समाचार विकासशील देशों के लिये उत्साहजनक है तथा विकसित देशों के लिये निराशाजनक है। इसीलिये आज अमेरिका में विदेशियों के लिये आउट सोर्सिंग पर प्रतिबंध लगाने की पहल जारी है।

प्रव्रजन अथवा देशान्तर (Migration)—किसी एक भौगिलक/राष्ट्रीय क्षेत्र से दूसरे भौगोलिक राष्ट्रीय क्षेत्र में सापेक्षत: स्थायी गमन की प्रक्रिया प्रव्रजन या देशान्तर के नाम से जानी जाती है। भ्रमण और प्रव्रजन में अन्तर है। भ्रमण पूर्णत: अस्थायी होता है, जबकि प्रव्रजन की स्थिति में स्थायित्व का तत्व विद्यमान होता है।

इसी से मिलती-जुलती दो अन्य अवधारणाएँ यथा उत्प्रवास और आव्रजन हैं। किसी व्यक्ति द्वारा अपने देश को छोड़कर दूसरे देश में जाने की प्रक्रिया 'उत्प्रवास' (एमिग्रेशन) कहलाती है। इसके विपरीत, देश में आने की प्रक्रिया को 'आव्रजन' या आप्रवास (इमिग्रेशन) कहते हैं। इसके अतिरिक्त प्रव्रजन का एक दूसरा रूप भी है जिसे 'आन्तरिक प्रव्रजन' कहते हैं। इस प्रकार के प्रव्रजन में एक ही देश में एक स्थान से दूसरे स्थान जैसे गाँव से शहर की ओर निष्क्रमण अथवा शहर के मध्य क्षेत्र से उपनगरों की ओर गमन की प्रक्रिया भी सम्मिलित की जाती हैं।

वैश्वीकरण द्वारा प्रव्रजन की प्रक्रिया तीव्र हुई है। एक देश के नागरिक द्वारा दूसरे देश में पूँजी निवेश किया जा रहा है। इसके लिये उसका दूसरे देश में आना-जाना बढ़ रहा है। अविकसित तथा विकासशील देशों के दक्ष लोग रोजगार की तलाश में अमेरिका तथा यूरोप में तेजी से अधिक संख्या में जा रहे हैं। वहीं निवास कर रहे हैं। वैश्वीकरण ने इस प्रक्रिया को गति प्रदान की है। इससे उत्प्रवास (एमिग्रेशन) की गति तीव्र हुई है।

अप्रवासी भारतीयों (एन.आर.आई.) को भारत में पूँजी निवेश के लिये आमंत्रित किया जा रहा है। इसके लिये अप्रवासी भारतीयों को सरकारी और कानूनी स्तर पर बहुत सारी सहूलियतें मुहैया करायी गयी हैं। देश में एन.आर.आई.

द्वारा पूँजीनिवेश को बढ़ाने हेतु उन्हें दोहरी नागरिकता की वकालत की गयी। इससे आकर्षित होकर अप्रवासी भारतीय बड़ी संख्या में भारत आ रहे हैं। वे यहाँ पूँजी निवेश के लिये तत्पर हैं। यह प्रक्रिया दुनिया के विभिन्न देशों में जारी है। इससे आव्रजन या आप्रवास (इमिग्रेशन) की प्रक्रिया तीव्र हुई है। यद्यपि भारत सरकार द्वारा दिनांक 26 मई, 2004 को विनिवेश मंत्रालय समाप्त किये जाने तथा दिनांक 8 जुलाई, 2004 को संसद में बजट पेश करते हुये विदेशी निवेश को बढ़ाने हेतु प्रावधान करने के बाद भविष्य में इसका क्या प्रभाव पड़ेगा यह विचारणीय विषय है।

प्रव्रजन, उत्प्रवास, आव्रजन अथवा अप्रवास के बहुआयामी परिणाम सामने आते हैं। नये देश की नयी संस्कृति में समायोजन की समस्या। नये प्रकार के प्रकार्यात्मक सम्बन्धों (Functional Relationships) का उदय। एक संस्कृति के लोगों का दूसरे संस्कृति के लोगों के साथ मूल्य, मानक, जीवन-पद्धति, व्यवहार, अन्तर्क्रियाएँ आदि के स्तर पर एका अथवा द्वन्द्व। जनांकिकी (Demography) सम्बन्धी समस्या। ये मुद्दे वैश्वीकरण के परिणामस्वरूप सामने आये हैं। इन मुद्दों का समाजशास्त्रीय अध्ययन आवश्यक है। इससे वैश्वीकरण के प्रभाव का अध्ययन किया जा सकता है।

वैश्वीकरण का वाहक : मध्यम वर्ग (Middle Class : Carrier of Globalisation)—किसी समाज की आर्थिक तथा सामाजिक स्तरीकरण की व्यवस्था का वह भाग जिसका स्तर न तो अत्यधिक निम्न होता है और न ही अत्यधिक ऊँचा। यह सामाजिक वर्ग कुलीन वर्ग तथा सर्वहारा द्वारा बने सामाजिक माप के दो छोर बिन्दुओं के मध्य में स्थिर होता है। इस वर्ग में मुख्यत: सफेदपोश तथा निम्न प्रबंधकीय व्यवसायों में कार्यरत व्यक्तियों को सम्मिलित किया जाता है।

यूरोपीय पुनर्जागरण के फलस्वरूप एक नयी सामाजिक व्यवस्था सामने आयी। इसमें आधुनिकता ने बहुआयामी परिवर्तन किये। भारतीय पुनर्जागरण इसी की एक कड़ी है। रोजगार और व्यवसाय के नये अवसर उपलब्ध हुये। कर्मचारी तंत्र (Bureaucracy), तकनीकी तंत्र (Technocracy), वकील, डॉक्टर, इंजीनियर, अध्यापक, मझोले व्यापारिक प्रतिष्ठानों के प्रबंध निदेशक, क्षेत्रीय और प्रांतीय राजनेता, जैसे अनेकों वर्ग न सिर्फ अस्तित्व में आये वरन् ये धीरे-धीरे एक प्रभावशाली वर्ग के सदस्य बन गये। यही मध्यम वर्ग के नाम से जाना जाता है। इसने परिवर्तन के निर्वाहक की भूमिका अदा की है। आज वैश्वीकरण का मुख्य वाहक मध्यम वर्ग है। यही बाजारवाद में मुख्य उपभोक्ता है। आज विभिन्न टी.वी. चैनल्स को सबसे अधिक मध्यमवर्ग देख रहा है। बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के माल की खपत करने वालों में मध्यम वर्ग अग्रणी है।

श्रम का भूमण्डलीकरण (Globalisation of Labour)—जब से वैश्वीकरण ने दुनिया को एक बाजार के रूप में परिवर्तित किया है तब से श्रमिकों की आवाज कमजोर हो गयी है। राष्ट्रीय सरकार अपने अधिकारों से वंचित हो रही है। सामूहिक असुरक्षा तथा वित्तीय पूँजी को बढ़ावा मिल रहा है। धनी देशों में गैर विशेषज्ञ श्रमिकों के सम्मुख रोजगार की समस्या खड़ी हो गयी है। वैश्वीकरण द्वारा गैर विशेषज्ञ लोगों को रोजगार की मुख्य धारा से अलग-थलग किया जा रहा है। निजीकरण के कारण रोजगार की गारंटी समाप्त हो रही है। कम पढ़े लिखे तथा गैर विशेषज्ञों में सुरक्षित तथा उत्साहजनक भविष्य के प्रति निराशा घर कर रही है। इससे वे अपने समुदाय से परकीकृत हो रहे हैं। इससे नृजाति चेतना, सामाजिक अशांति तथा हिंसा को फलने-फूलने के लिये उर्वरा भूमि प्राप्त हो रही है।

अन्तर्राष्ट्रीय औद्योगिक प्रतिष्ठानों की तुलना में लघु तथा कुटीर उद्योग मार खा रहे हैं। लघु तथा कुटीर उद्योगों में लगे शिल्पकार तथा परम्परागत व्यवसायों के विशेषज्ञों को बेराजगारी का सामना करना पड़ रहा है। श्रम संघों की भूमिका निष्प्रभावी हो रही है।

3.16 सारांश (Summary)

- दक्षिण-भारत के कुर्ग लोगों के सामाजिक और धार्मिक जीवन के विश्लेषण में प्रसिद्ध भारतीय समाजशास्त्रीय **प्रो. एम.एन. श्रीनिवास** ने इस अवधारणा का सर्वप्रथम प्रयोग किया।
- **प्रो. श्रीनिवास** ने अपनी पुस्तक 'रिलीजन एण्ड सोसायटी अमंग दी कुर्ग्स ऑफ साउथ इण्डिया' में गतिशीलता को व्यक्त करने के लिए "संस्कृतीकरण" नामक प्रयत्य का प्रयोग किया। **प्रो. श्रीनिवास** ने संस्कृतीकरण को परिभाषित करते हुए लिखा ''संस्कृतीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा कोई निम्न हिन्दू

जाति या कोई जनजाति अथवा कोई अन्य समूह, किसी उच्च और प्राय: द्विज जाति 'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य' की दिशा में अपने रीति-रिवाज, कर्मकाण्ड, विचारधारा और जीवन पद्धति को बदलता है।"

नोट

- **डॉ. श्रीनिवास** ने पश्चिमीकरण का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है, "मैंने 'पश्चिमीकरण' शब्द का प्रयोग भारतीय समाज व संस्कृति में उन परिवर्तनों के लिए किया है जो एक सौ पचास वर्षों से अधिक समय के अंग्रेजी राज के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुए हैं और यह शब्द प्रौद्योगिकी, संस्थाओं, वैचारिक मूल्यों आदि विभिन्न स्तरों पर होने वाले परिवर्तनों का समावेश करता है।"
- पश्चिमीकरण की अवधारणा चूंकि मूल्य की दृष्टि से एक तटस्थ अवधारणा है, अत: यह वैज्ञानिक अवधारणा है। इसके द्वारा हम किसी भी समाज में घटित होने वाले परिवर्तनों का विश्लेषण कर सकते हैं।
- **डॉ. योगेन्द्र सिंह** ने बताया है कि साधारणत: आधुनिक होने का अर्थ 'फैशनेबल' से लिया जाता है। वे आधुनिकीकरण को एक सांस्कृतिक प्रयत्न मानते हैं जिसमें तार्किक अभिवृत्ति, सार्वभौम, दृष्टिकोण, परानुभूति, वैज्ञानिक विश्व दृष्टि, मानवता, प्रौद्योगिक प्रगति आदि सम्मिलित हैं।
- आधुनिकीकरण एक ऐसी मनोवृत्ति का परिणाम है जिसमें यह विश्वास किया जाता है कि समाज को बदला जा सकता है और बदला जाना चाहिए तथा परिवर्तन-वांछनीय है।
- **ए.आर. देसाई** आधुनिकीकरण का प्रयोग केवल सामाजिक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं मानते बल्कि जीवन के सभी पहलुओं तक विस्तृत मानते हैं।
- आधुनिकीकरण ने भारतीय समाज में कई समस्याएँ पैदा कर दी हैं। हमारे यहाँ औद्योगीकरण से पहले व्यवस्था में जो साम्यानुकूलन था उसे आधुनिकीकरण ने बिगाड़ दिया है। उत्पादन की विधियाँ बदल गयी हैं और इसके परिणामस्वरूप सामाजिक और राजनीतिक संस्थाओं में बदलाव आ गया है।
- वर्तमान युग में विकसित समाजों की सबसे प्रमुख विशेषता है उनका अत्यधिक औद्योगीकरण। औद्योगीकरण से राष्ट्र की आर्थिक समृद्धि बढ़ती है, उसकी सामरिक शक्ति तथा अन्तर्राष्ट्रीय प्रस्थिति भी सुदृढ़ होती है। यही कारण है कि आज सभ्य और उन्नत देशों की सामर्थ्य का प्रतीक उद्योग है। औद्योगिकवाद सभ्यता का मूल दर्शन हो गया है।
- अत: वैश्वीकरण एक बहुआयामी जटिल प्रक्रिया है। इसके अन्तर्गत बाजारों, वित्त और प्रौद्योगिकीयों का एकीकरण हो रहा है। विश्व का ऐसा संकुचन हो रहा है कि जिसके प्रत्येक कोने में हम इतनी जल्दी और सस्ते में पहुँच जायें जितने में पहले कभी सम्भव नहीं था।
- आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक आदि वैश्वीकरण के विविध पक्षों का मानव-जीवन में अत्यधिक महत्त्व है।

3.17 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. संस्कृति की अवधारणाओं को समझाते हुए उसकी विशेषता का वर्णन करें।
2. सामाजिक परिवर्तन में पश्चिमीकरण के प्रभावों का वर्णन करें।
3. आधुनिकीकरण की अवधारणा को समझाएँ।
4. वैश्वीकरण शब्द का अर्थ बताएँ।
5. वैश्वीकरण के विभिन्न पहलू पर प्रकाश डालें।
6. वैश्वीकरण के प्रभावों की विवेचना करें।

3.18 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

1. सैद्धांतिक समाजशास्त्र – *वीरेन्द्र प्रकाश शर्मा।*
2. विकास का समाजशास्त्र – *एम. अहमद, न्यू एज इन्टरनेशनल।*

नोट

इकाई–4: सामाजिक नियंत्रण (Social Control)

संरचना (STRUCTURE)

4.1 उद्देश्य (Objectives)
4.2 प्रस्तावना (Introduction)
4.3 सामाजिक नियन्त्रण (Social Control)
4.4 सामाजिक नियन्त्रण की अवधारणा (Concept of Social Control)
4.5 समाजीकरण एवं सामाजिक नियन्त्रण (Socialization and Social Control)
4.6 सामाजिक नियन्त्रण के स्वरूप (प्रकार) (Forms or Types of Social Control)
4.7 औपचारिक सामाजिक नियन्त्रण (Formal Social Control)
4.8 औपचारिक नियन्त्रण के साधन (Means of Formal Control)
4.9 अनौपचारिक सामाजिक नियन्त्रण (Informal Social Control)
4.10 औपचारिक तथा अनौपचारिक नियन्त्रण में अंतर (Distinction between Formal and Informal Control)
4.11 सामाजिक नियन्त्रण के साधन तथा अभिकरण (Means and Agencies of Social Control)
4.12 सामाजिक नियंत्रण में कानून की भूमिका (Role of Law in Social Control)
4.13 सामाजिक नियन्त्रण में राज्य की भूमिका (Role of State in Social Control)
4.14 सामाजिक नियन्त्रण में धर्म की भूमिका (Role of Religion in Social Control)
4.15 नैतिकता एवं सामाजिक नियन्त्रण (Morality and Social Control)
4.16 सामाजिक नियन्त्रण के साधन के रूप में शिक्षा की भूमिका (Role of Education as a Means of Social Control)
4.17 सारांश (Summary)
4.18 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)
4.19 संदर्भ पुस्तकें (Further Readings)

4.1 उद्देश्य (Objectives)

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् विद्यार्थी योग्य होंगे–

- सामाजिक नियंत्रण के द्वारा व्यक्तियों के व्यवहारों को समाज के स्थापित प्रतिमानों के अनुरूप ढालने के प्रयत्न को समझना।
- सामाजिक नियंत्रण समाज में व्यक्तियों को उसकी संस्कृति, व्यवहार-प्रतिमानों, प्रथाओं, रीति-रिवाजों, मूल्यों, आदर्शों के अनुरूप आचरण करना सिखाता है को जानना।

- सामाजिक नियंत्रण के स्वरूप– औपचारिक एवं अनौपचारिक नियंत्रण के बारे में जानना।
- सामाजिक नियंत्रण में कानून, धर्म, राज्य, शिक्षा आदि की भूमिका को समझना।

4.2 प्रस्तावना (Introduction)

नोट

समाजशास्त्रीय साहित्य में सामाजिक नियंत्रण तथा सामाजिक परिवर्तन की अवधारणा का पर्याप्त महत्त्व है। अमेरिकन समाजशास्त्री E. A. Ross ने सर्वप्रथम 1901 में अपनी पुस्तक 'Social Control' में सामाजिक नियंत्रण के बारे में व्यवस्थित तौर पर विचार व्यक्त किए हैं। सामाजिक नियंत्रण के द्वारा व्यक्तियों के व्यवहारों अथवा आचरणों को समाज के स्थापित मूल्यों तथा प्रतिमानों के अनुरूप ढालने का प्रयास किया जाता है। समाज के प्रारंभ से ही सामाजिक नियंत्रण की आवश्यकता का अनुभव किया गया है। यदि समाज में नियंत्रण न हो तो व्यक्तिगत स्वतंत्रता इतनी बढ़ जाएगी कि किसी भी व्यक्ति का जीवन सुरक्षित नहीं रह पाएगा।

समाज एक गतिशील संगठन है। इसमें निरंतर परिवर्तन होता रहता है। मूलभूत सामाजिक प्रक्रियाओं में अंतर्निहित गत्यात्मकता हमें सामाजिक परिवर्तन की जांच के लिए प्रवृत्त करती है। हम देखते हैं कि मूलभूत सामाजिक प्रक्रियाएँ सामाजिक संगठन में अंतर्भूत होती हैं। सामाजिक परिवर्तन व्यक्तियों और समाज के जीवन में इतने जटिल होते हैं कि हमें जानना पड़ेगा कि ये परिवर्तन क्यों और कैसे होते हैं।

4.3 सामाजिक नियन्त्रण (Social Control)

सामाजिक नियन्त्रण की अवधारणा का समाजशास्त्रीय साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है। सामाजिक संरचना में दृढ़ता एवं समन्वय रखने वाली शक्तियों के सन्दर्भ में जितना साहित्य रचा गया, उसे 'सामाजिक नियन्त्रण' शीर्षक के अन्तर्गत रखा गया है। मैकाइवर कहते हैं कि समाजशास्त्रीय साहित्य का एक बहुत बड़ा भाग सामाजिक नियन्त्रण का विवेचन करता है। अमेरिकन समाजशास्त्री **ई.ए. रॉस** पहला व्यक्ति था जिसने सामाजिक नियन्त्रण विषय पर 1901 में अपनी कृति 'Social Control' में व्यवस्थित विचार व्यक्त किये।

सामाजिक नियन्त्रण के द्वारा व्यक्तियों के व्यवहारों को समाज के स्थापित प्रतिमानों के अनुरूप ढालने का प्रयत्न किया जाता है। इस प्रकार सामाजिक नियन्त्रण वह विधि है जिसके द्वारा एक समाज अपने सदस्यों के व्यवहारों का नियमन करता है। सामाजिक नियंत्रण के द्वारा एक समाज अपने सदस्यों को उनकी निर्धारित भूमिकाएँ निभाने, नियमों का पालन करने एवं व्यवस्था बनाये रखने के लिए प्रेरित करता है। प्रत्येक समाज अपने सदस्यों से यह अपेक्षा करता है कि वे एक निर्धारित तरीके से समाज में आचरण करें, उचित रूप से अपनी भूमिकाओं एवं कर्तव्यों का निर्वाह करें अन्यथा समाज में व्यवस्था बनाये रखना एवं लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति करना कठिन हो जायेगा। प्रत्येक समाज अपने सदस्यों से यह अपेक्षा करता है कि वे उसकी संस्कृति के अनुरूप व्यवहार-प्रतिमानों, प्रथाओं, रीति-रिवाजों, मूल्यों, आदर्शों एवं कानूनों के अनुरूप आचरण कर समाज को स्थायित्व एवं व्यवस्था प्रदान करें। इसलिए वह अपने सदस्यों पर कुछ नियन्त्रण लगाता है। इसी प्रकार समाज में जब नयी परिस्थितियाँ उत्पन्न होती हैं तब भी समाज अपने सदस्यों के व्यवहारों पर अंकुश रखता है जिससे कि नयी परिस्थितियों से प्रभावित होकर लोग सामाजिक ढांचे को तोड़ न दें। सामाजिक नियन्त्रण एक अन्य दृष्टि से भी आवश्यक है—मानव अपनी प्रकृति से स्वार्थी, व्यक्तिवादी, अराजक, लड़ाकू, हिंसक एवं संघर्षकारी है। यदि उसकी इन प्रवृत्तियों पर अंकुश नहीं रखा जाए और उसे पूरी तरह स्वच्छन्द छोड़ दिया जाए तो समाज युद्ध-स्थल बन जायेगा व मानव का जीना कठिन हो जायेगा। इस क्लेशकारी, अराजक एवं अव्यवस्थित स्थिति से बचने के लिए ही प्रत्येक समाज नियन्त्रण की व्यवस्था करता है, नियमों एवं कानूनों का निर्माण करता है व आवश्यकतानुसार बल प्रयोग करता है। सामाजिक नियन्त्रण के अभाव में मानवीय सम्बन्धों की व्यवस्था एवं सम्पूर्ण मानव जीवन ही अस्त-व्यस्त हो जायेगा। डेविस ने उचित ही लिखा है कि समाज का निर्माण ही 'सामाजिक सम्बन्धों' एवं 'नियन्त्रण की व्यवस्था' द्वारा होता है, एक की अनुपस्थिति में दूसरे का अस्तित्व कदापि सुरक्षित नहीं है। सामाजिक नियन्त्रण के द्वारा ही समाज में

नोट

सन्तुलन, दृढ़ता एवं एकरूपता कायम की जाती हैं। इसके अभाव में सामाजिक मूल्य एवं आदर्श चकनाचूर हो जायेंगे एवं सामाजिक प्रगति सम्भव नहीं हो सकेगी।

4.4 सामाजिक नियन्त्रण की अवधारणा (Concept of Social Control)

सामाजिक नियन्त्रण का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Social Control)

सामाजिक नियन्त्रण का प्रयोग विभिन्न अर्थों में किया जाता रहा है। एक सामान्य धारणा यह है कि लोगों को समूह द्वारा स्वीकृत नियमों के अनुसार आचरण करने के लिए बाध्य करना ही सामाजिक नियन्त्रण है, किन्तु यह एक संकुचित धारणा है। प्रारम्भ में सामाजिक नियन्त्रण का अर्थ केवल दूसरे समूहों से अपने समूह की रक्षा करना और मुखिया के आदेशों का पालन करना मात्र था। बाद में धार्मिक और नैतिक नियमों के अनुसार व्यवहार करने को सामाजिक नियन्त्रण माना गया, किन्तु वर्तमान समय में सामाजिक नियन्त्रण का तात्पर्य सम्पूर्ण समाज व्यवस्था के नियमन से लिया जाता है जिसका उद्देश्य सामाजिक आदर्शों एवं उद्देश्यों को प्राप्त करना है।

मैकाइवर एवं पेज के अनुसार, "सामाजिक नियन्त्रण का अर्थ उस तरीके से है जिससे सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था की एकता और उसका स्थायित्व बना रहता है। इसके द्वारा यह समस्त व्यवस्था एक परिवर्तनशील सन्तुलन के रूप में क्रियाशील रहती है।"

रॉस (Ross) के अनुसार, "सामाजिक नियन्त्रण का तात्पर्य उन सभी शक्तियों से है जिनके द्वारा समुदाय व्यक्ति को अपने अनुरूप बनाता है।"

गिलिन और गिलिन के अनुसार, "सामाजिक नियन्त्रण सुझाव, अनुनय, प्रतिशोध, उत्पीड़न तथा बल-प्रयोग जैसे साधनों की वह व्यवस्था है जिसके द्वारा समाज किसी समूह के व्यवहार को मान्यता-प्राप्त प्रतिमानों के अनुरूप बनाता है अथवा जिसके द्वारा समूह सभी सदस्यों को अपने अनुरूप बना लेता है।"

ऑगबर्न तथा निमकॉफ लिखते हैं, "दबाव का वह प्रतिमान, जिसे समाज के द्वारा व्यवस्था बनाये रखने और नियमों को स्थापित रखने के उपयोग में लाया जाता है, सामाजिक नियन्त्रण कहा जाता है।"

पी. एच. लैण्डिस के अनुसार, "सामाजिक नियन्त्रण एक प्रक्रिया है जिसके द्वारा सामाजिक व्यवस्था स्थापित की जाती है और बनाये रखी जाती है।"

गुरविच एवं मूर के अनुसार, "सामाजिक नियन्त्रण का सम्बन्ध उन सभी प्रक्रियाओं और प्रयत्नों से है जिनके द्वारा समूह अपने आन्तरिक तनावों और संघर्षों पर नियन्त्रण रखता है और इस प्रकार रचनात्मक कार्यों की ओर बढ़ता है।" स्पष्ट है कि सामाजिक नियन्त्रण का उद्देश्य समाज में पैदा होने वाले तनावों एवं संघर्षों को दूर करना एवं सामाजिक व्यवस्था को बनाये रखना है।

ब्रियरली के अनुसार, "सामाजिक नियन्त्रण नियोजित अथवा अनियोजित प्रक्रियाओं और अभिकरणों (agencies) के लिए एक सामूहिक शब्द है जिनके द्वारा व्यक्तियों को यह सिखाया जाता है, उनसे आग्रह किया जाता है अथवा बाध्य किया जाता है कि वे अपने समूह की रीतियों तथा सामाजिक मूल्यों के अनुसार कार्य करें।"

पारसन्स (Parsons) का मत है कि सामाजिक नियन्त्रण के द्वारा सामाजिक प्रतिमानों के अनुरूप व्यवहार एवं वास्तविक व्यवहार के बीच पाये जाने वाले अन्तर को कम किया जाता है। वे लिखते हैं, "सामाजिक नियन्त्रण वह सामान्य प्रक्रिया है जिसके द्वारा अपेक्षित व्यवहार एवं किये गये व्यवहार के बीच अन्तर को कम-से-कम किया जाता है।"

पारसन्स के अनुसार, "विपथगामी प्रवृत्तियों की कली को फूल बनने से पहले ही कुचल देना सामाजिक नियन्त्रण है।"

जॉनसन कहते हैं कि व्यक्ति कई बार तो स्वयं ही अपनी अन्तरात्मा के द्वारा नियन्त्रण करता है, जब यह आत्म-नियन्त्रण अचेतन एवं अनौपचारिक रूप से ही होता है तो उसे कुचल दिया जाता है। किन्तु कई बार विपथगामी प्रवृत्तियाँ जब तक कली के रूप में विकसित नहीं होतीं, तब तक रोकी नहीं जातीं। इस सन्दर्भ में एक बात उल्लेखनीय है कि आत्म-नियन्त्रण एवं सामाजिक नियन्त्रण में अन्तर है। आत्म-नियन्त्रण का सम्बन्ध व्यक्ति से है, इसकी प्रकृति वैयक्तिक है जबकि सामाजिक नियन्त्रण का सम्बन्ध सम्पूर्ण समाज से है और इसकी प्रकृति

संस्थापक है, यद्यपि कई बार ये एक-दूसरे के पूरक भी होते हैं। आत्म-नियन्त्रण सामाजिक नियन्त्रण का एक छोटा भाग माना जा सकता है।

विभिन्न परिभाषाओं के आधार पर हमें सामाजिक नियन्त्रण के बारे में निम्न निष्कर्ष निकाल सकते हैं :

नोट

1. सामाजिक नियन्त्रण में व्यक्ति से यह अपेक्षा की जाती है कि वह सामाजिक प्रतिमानों के अनुरूप आचरण करे।
2. सामाजिक नियन्त्रण समाज में संगठन एवं एकरूपता पैदा करता है।
3. सामाजिक नियन्त्रण तीन स्तरों पर होता है - समूह का समूह पर नियन्त्रण, समूह का व्यक्तियों पर नियन्त्रण तथा व्यक्तियों का व्यक्तियों पर नियन्त्रण।
4. सामाजिक नियन्त्रण से सामाजिक सम्बन्धों में स्थिरता एवं एकरूपता आती है।
5. सामाजिक नियन्त्रण से तनाव एवं संघर्षों को कम तथा सहयोग स्थापित किया जाता है।
6. सामाजिक नियन्त्रण उन साधनों एवं विधियों की ओर संकेत करता है जिनके द्वारा व्यक्तियों के व्यवहारों को एक आवश्यक सांचे में ढाला जाता है।
7. सामाजिक नियन्त्रण द्वारा विपथगामी प्रवृत्तियों पर अंकुश रखा जाता तथा उन्हें कुचल दिया जाता है।
8. सामाजिक नियन्त्रण के लिए दण्ड एवं पुरस्कार दोनों विधियों का प्रयोग किया जाता है।

इस प्रकार सम्पूर्ण समाज में एकता एवं व्यवस्था बनाये रखने के लिए लोगों के व्यवहार का नियमन करना ही सामाजिक नियन्त्रण है।

4.5 समाजीकरण एवं सामाजिक नियन्त्रण (Socialization and Social Control)

समाजीकरण एवं सामाजिक नियन्त्रण परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं। समाजीकरण सामाजिक नियन्त्रण बनाये रखने में और सामाजिक नियन्त्रण समाजीकरण करने में एक-दूसरे के सहयोगी हैं। समाजीकरण के द्वारा व्यक्ति को सामाजिक मूल्यों, आदर्शों एवं प्रतिमानों के अनुरूप आचरण करना सिखाया जाता है जिससे कि वह समूह का क्रियाशील सदस्य बन सके। समाजीकरण का उद्देश्य भी सामाजिक नियन्त्रण की पुष्टि करना है। समाजीकरण सामाजिक नियन्त्रण का एक सशक्त साधन है। व्यक्ति का समाजीकरण इस प्रकार से किया जाता है कि वह अपनी भूमिकाओं का निर्वाह समाज की अपेक्षाओं के अनुरूप करे। समाजीकरण के दौरान सामाजिक नियन्त्रण की प्रक्रिया भी चलती रहती है और सामाजिक नियन्त्रण स्वत: होता रहता है। समाजीकरण की प्रक्रिया जन्म से मृत्यु तक चलती है, व्यक्ति समाज की प्रथाओं, मूल्यों एवं आदर्शों को आत्मसात् कर स्वत: ही उनके अनुरूप आचरण करता है। हम क्या खायें, कैसे खायें, कैसे वस्त्र पहनें, क्या व्यवसाय करें, किनसे विवाह करें आदि से सम्बन्धित अनेक नियम समाज में प्रचलित हैं। समाज में व्यवस्था बनाये रखने एवं कार्य करने की सुनिश्चित प्रणालियाँ पायी जाती हैं। समाजीकरण के दौरान धीरे-धीरे इन सभी को सीखा एवं आत्मसात् किया जाता है क्योंकि ये सभी तरीके समाज द्वारा मान्य और स्वीकृत होते हैं, अत: इनके द्वारा व्यक्ति शीघ्र ही समाज से अपना अनुकूलन कर लेता है। समाजीकरण के कारण ही समाज में लोग बिना सोचे-विचारे स्वाभाविक एवं अचेतन रूप से सामाजिक प्रत्याशाओं के अनुसार आचरण करते हैं। **ऑगबर्न तथा निमकॉफ** का मत है कि सामाजिक प्रतिमानों का व्यक्तियों द्वारा आन्तरीकरण करने से ही समाज-व्यवस्था बनी रहती है। पुरानी पीढ़ी नयी पीढ़ी का समाजीकरण कर उन्हें भी एक निश्चित प्रकार से व्यवहार करना सिखाती है। **फ्रायड** का मत है कि समाजीकरण के द्वारा ही 'परा अहम्' (Super ego) मानव की 'इड' (Id) प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण रखता है और व्यक्तियों को समाज द्वारा स्वीकृत व्यवहार करने को प्रेरित करता है। समाजीकरण के विभिन्न अभिकरण जैसे, परिवार, पड़ोस, मित्रमण्डली, स्कूल एवं द्वितीयक संस्थाएँ सामाजिक नियन्त्रण बनाये रखने का कार्य भी करते हैं।

दूसरी ओर सामाजिक नियन्त्रण द्वारा भी समाजीकरण का कार्य किया जाता है। समाजीकरण की प्रक्रिया में सामाजिक नियन्त्रण एक साधन एवं विधि का कार्य करता है। **फिचर** का मत है, "सामाजिक नियन्त्रण समाजीकरण की प्रक्रिया का ही विस्तार है।" सामाजिक नियन्त्रण वह यन्त्र है जिसके द्वारा समाजीकरण की प्रक्रिया को निरन्तरता

नोट

प्रदान की जाती है और लोगों को सामाजिक नियमों का पालन करने के लिए प्रेरित एवं बाध्य किया जाता है। सामाजिक नियन्त्रण लोगों पर इस बात के लिए दबाव डालता है कि वे अपनी भूमिकाओं का निर्वाह सामाजिक प्रत्याशाओं के अनुरूप करें और साथ ही नियमों का पालन करें। **ऑगबर्न** तथा **निमकॉफ** का मत है कि सामाजिक नियन्त्रण समाजीकरण की असफलता को रोकता है तथा जिन लोगों ने सफल समाजीकरण किया है उन्हें सहायता देता है। सामाजिक नियन्त्रण के साधन जैसे, परिवार, राज्य, जनमत, कानून एवं द्वितीयक समूह तथा नेता, आदि नियन्त्रण द्वारा समाजीकरण में भी योग देते हैं। ये व्यक्ति को निर्देश देते हैं जो समाजीकरण में सहायक होते हैं। समाजीकरण के कारण ही प्रथाओं का पालन करना व्यक्ति की आदत बन जाती है और सत्ता को स्वीकार करना व्यक्तित्व का अंग बन जाता है। जब कभी कोई व्यक्ति सामाजिक प्रतिमानों की अवहेलना करता है और विपथगामी व्यवहार (deviant behaviour) करता है तो समाज द्वारा उसके प्रति कठोर साधनों एवं दण्ड का प्रयोग किया जाता है, किन्तु कई बार कठोर सामाजिक नियन्त्रण समाजीकरण की प्रक्रिया को रोक भी देता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि समाजीकरण एवं सामाजिक नियन्त्रण में घनिष्ठता पायी जाती है। उनमें कई समानताएँ भी हैं। **ऑगबर्न** एवं **निमकार्फे** कहते हैं, "समाजीकरण एवं सामाजिक नियन्त्रण की प्रक्रिया की मौलिक शक्ति एक ही है, जैसे स्वीकृत एवं अस्वीकृत व्यवहार करने वालों की प्रशंसा एवं निन्दा, पुरस्कार एवं दण्ड दोनों में ही दिया जाता है, यद्यपि उनकी मात्रा में दोनों में अन्तर पाया जाता है।" उदाहरणार्थ, सामाजिक नियन्त्रण की अवज्ञा करने वाले को मृत्यु-दण्ड भी दिया जा सकता है, किन्तु असफल समाजीकरण करने वालों को नहीं। समाजीकरण एवं सामाजिक नियन्त्रण के साधनों एवं अभिकरणों में भी पर्याप्त समानता है; जैसे, परिवार, पड़ोस, मित्र-समूह, स्कूल, कानून, प्रथाएँ, राज्य एवं द्वितीयक संस्थाएँ समाजीकरण एवं सामाजिक नियन्त्रण दोनों का कार्य करते हैं। फिर भी इन दोनों में निम्नांकित अन्तर हैं :

1. समाजीकरण का सम्बन्ध व्यक्ति से है, इसमें व्यक्ति को समाज एवं संस्कृति के अनुरूप ढाला जाता है, जबकि सामाजिक नियन्त्रण का सम्बन्ध व्यक्ति, समूह तथा सम्पूर्ण समाज को व्यवस्थित रखने से है। इस अर्थ में सामाजिक नियन्त्रण समाजीकरण से अधिक व्यापक है।
2. समाजीकरण को सफल एवं असफल बनाने में प्राथमिक समूहों की भूमिका अधिक महत्त्वपूर्ण है, जबकि सामाजिक नियन्त्रण की स्थापना में राज्य एवं द्वितीयक समूहों की भूमिका मुख्य है।
3. गोल्डनर का मत है कि समाजीकरण का सम्बन्ध व्यक्ति के आन्तरिक पक्ष अर्थात् 'आत्मा' के विकास से अधिक है जबकि सामाजिक नियन्त्रण का सम्बन्ध उसके बाह्य पक्ष एवं व्यवहार से है। उसका उद्देश्य बाह्य व्यवहार को संयमित रखना है चाहे आन्तरिक रूप से व्यक्ति ऐसा न चाहता हो।
4. समाजीकरण की प्रक्रिया अनौपचारिक एवं अचेतन अधिक है जिसमें व्यक्ति स्वत: ही कई बातें सीखता है, जबकि सामाजिक नियन्त्रण जागरूक एवं औपचारिक प्रयत्नों द्वारा अधिक किया जाता है, जैसे, राज्य कानून बनाता है और उसके पालन के लिए न्याय व दण्ड की व्यवस्था करता है।
5. समाजीकरण सदैव एक समाज के सामाजिक-सांस्कृतिक मूल्यों के अनुरूप होता है जबकि सामाजिक नियन्त्रण उससे भिन्न एवं नवीनता लिये हुए भी हो सकता है। उदाहरण के लिए, छुआछूत की समाप्ति के नये कानून परम्परागत जाति-भेद के नियमों से भिन्न है।
6. दोनों साधनों में भी पर्याप्त भिन्नता पायी जाती है। समाजीकरण के लिए प्रशंसा, अनुनय, शिक्षा, व्यंग्य, हास्य, पुरस्कार एवं हल्का दण्ड आदि साधनों का प्रयोग किया जाता है जबकि सामाजिक नियन्त्रण के लिए कठोर कारावास एवं मृत्यु-दण्ड तक की सजा दी जाती है।
7. समाजीकरण का प्रभाव व्यक्ति पर शिशु अवस्था से ही प्रारम्भ हो जाता है और किशोर अवस्था तक चलता है जबकि सामाजिक नियन्त्रण का प्रभाव यद्यपि सभी स्तरों पर देखा जा सकता है फिर भी युवा अवस्था में अधिक होता है।

इस प्रकार, ये दोनों प्रक्रियाएँ एक-दूसरे की पूरक हैं। सामाजिक नियन्त्रण समाजीकरण को सफल बनाता है तो समाजीकरण सामाजिक नियन्त्रण का विस्तार करता है। किसी समाज के सामाजिक जीवन में समाजीकरण के अनुरूप कितना व्यवहार होता है, यह उस समय के सामाजिक नियन्त्रण पर निर्भर है, जितना अधिक समाजीकरण

के अनुरूप व्यवहार होता है उतना ही उस समाज में नियन्त्रण पाया जाता है तथा उतनी ही नियमहीनता (Anomie) में कमी आती है। समाजीकरण की अनुरूपता में कमी होने पर समाज में सामाजिक नियन्त्रण की समस्या पैदा होती है और विघटन की प्रवृत्ति प्रबल होती है।

नोट

4.6 सामाजिक नियन्त्रण के स्वरूप (प्रकार) (Forms or Types of Social Control)

प्रत्येक समाज में नियन्त्रण की व्यवस्था होती है, किन्तु सभी समाजों में इसके प्रकारों या स्वरूपों में भिन्नता पायी जाती है। इसका कारण यह है कि समाज और सामाजिक सम्बन्धों की प्रकृति, सामाजिक दशाओं एवं व्यक्तिगत व्यवहारों में भिन्नता पायी जाती है। सदस्यों के उद्देश्यों, हितों एवं विचारों के भिन्न-भिन्न होने के कारण एक ही प्रकार के नियन्त्रण से सभी के व्यवहारों को नियमित नहीं किया जा सकता। ग्रामीण एवं नगरीय, बन्द एवं मुक्त, परम्परात्मक, जनतान्त्रिक एवं एकतन्त्र समाज में सामाजिक नियन्त्रण के स्वरूपों में भिन्नता होना स्वाभाविक ही है। कभी पुरस्कार द्वारा तो कभी दण्ड द्वारा, कभी औपचारिक व संगठित शक्तियों द्वारा, तो कभी अनौपचारिक व असंगठित शक्तियों द्वारा नियन्त्रण रखा जाता है। विभिन्न विद्वानों ने सामाजिक नियन्त्रण के विभिन्न प्रकारों या स्वरूपों का उल्लेख किया है, जिनका हम यहाँ वर्णन करेंगे:

1. **चेतन और अचेतन नियन्त्रण** (Conscious and Unconscious Control)—अमेरिकन समाजशास्त्री कूले तथा एल.एल. बर्नार्ड ने सामाजिक नियन्त्रण के दो स्वरूपों—चेतन व अचेतन का उल्लेख किया है। हम अपने दैनिक जीवन के व्यवहार को मुख्यत: दो भागों में बाँट सकते हैं—चेतन एवं अचेतन। कुछ व्यवहार ऐसे हैं जिनके प्रति हम अधिक सचेत होते हैं और यह ध्यान रखते हैं कि उनके निभाने में कोई त्रुटि न हो जाए। उदाहरण के लिए, एक क्लर्क ऑफिस में अपने बॉस की कुर्सी पर नहीं बैठता है, किन्तु उन्हीं कुर्सियों पर बैठता है जो क्लर्कों के लिए हैं। इस प्रकार वह स्थिति को समझकर कार्य करता है। दूसरी ओर कुछ व्यवहार ऐसे हैं जो हमारे व्यक्तित्व, आदर्श एवं मूल्यों के अंग बन चुके हैं और जिनका हमारे मस्तिष्क में प्रभाव स्थायी हो चुका है। उनका पालन करने के लिए हमें अधिक सोचना नहीं पड़ता वरन् हम स्वत: ही वैसा आचरण करने लगते हैं। उदाहरण के लिए, वस्त्र पहनते समय हमें जिस वस्त्र को जहाँ धारण करना है, वहीं पहनते हैं, बनियान को कोट पर धारण नहीं करते। यह सब कुछ अचेतन रूप से ही होता है क्योंकि वर्षों से एक निश्चित प्रकार का आचरण करने के कारण हम स्वत: ही वैसा करने लगते हैं। पहली स्थिति में जिसमें हम सचेत एवं जागरूक व्यवहार करते हैं, नियन्त्रण करने वाली व्यवस्था को 'चेतन नियन्त्रण' और दूसरी स्थिति में जिसमें हम अचेतन एवं स्वाभाविक रूप से आचरण करते हैं, नियन्त्रण की व्यवस्था को 'अचेतन नियंत्रण' कहते हैं। जाति व्यवस्था में खान-पान, छुआछूत और विवाह के नियमों का पालन चेतन नियन्त्रण का उदाहरण है। प्रथाओं, कानूनों और लोकाचारों द्वारा किया जाने वाला नियन्त्रण चेतन नियन्त्रण होता है क्योंकि उन्हें लागू करते समय हम उनकी उपयोगिता एवं लाभों को भी ध्यान में रखते हैं। दूसरी ओर परम्पराओं, संस्कारों एवं धार्मिक विश्वासों द्वारा समाज में अचेतन नियन्त्रण रखा जाता है क्योंकि इनसे सम्बन्धित नियमों का पालन व्यक्ति के व्यक्तित्व का अंग बन चुका है और व्यक्ति स्वत: ही उनका पालन करने लगता है। आधुनिक समय में कानून का महत्त्व बढ़ने के कारण चेतन नियन्त्रण का महत्व भी बढ़ता जा रहा है।
2. **प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष नियन्त्रण** (Direct and Indirect Control)—कार्ल मानहीम ने सामाजिक नियन्त्रण के प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष स्वरूपों का उल्लेख किया है। प्रत्यक्ष नियन्त्रण का तात्पर्य ऐसे नियन्त्रण से है जो व्यक्ति पर उसके बहुत समीप के व्यक्तियों द्वारा लागू किया जाता है, जैसे, माता-पिता, मित्रों, गुरुजनों अथवा पड़ोसियों द्वारा किया जाने वाला नियन्त्रण। यह नियन्त्रण प्रशंसा, आलोचना, सम्मान या पुरस्कार के रूप में किया जाता है। इस प्रकार के नियन्त्रण का प्रभाव गहरा एवं स्थायी होता है क्योंकि ये ही व्यक्ति के समाजीकरण के माध्यम होते हैं। व्यक्ति के शेष सामाजिक व भौतिक पर्यावरण तथा विभिन्न समूहों एवं संस्थाओं द्वारा लागू किया जाने वाला नियन्त्रण अप्रत्यक्ष नियन्त्रण कहलाता है। नियन्त्रण का यह

नोट

स्वरूप अत्यधिक सूक्ष्म और छोटे-छोटे व्यवहारों को नियन्त्रित करने वाला होता है। यह व्यक्ति को एक विशेष प्रकार से व्यवहार करने को बाध्य करता है। शुरू में तो हम चेतन रूप में इससे नियन्त्रित होते हैं, किन्तु बाद में यह नियन्त्रण हमारे व्यवहार एवं मूल्यों का अंग बन जाता है और हम स्वाभाविक रूप से उसे मानने लगते हैं। अप्रत्यक्ष नियन्त्रण में तर्क एवं सामूहिक कल्याण को अधिक महत्त्व दिया जाता है।

3. **सकारात्मक और नकारात्मक नियन्त्रण** (Positive and Negative Control)—**किम्बल यंग** ने सामाजिक नियन्त्रण को सकारात्मक एवं नकारात्मक, दो भागों में बाँटा है। सकारात्मक नियन्त्रण में व्यक्ति को पुरस्कार देकर सही व्यवहार करने को प्रेरित किया जाता है। उदाहरणार्थ, अच्छे आचरण वाले छात्र को, श्रेष्ठ छात्र को, श्रेष्ठ खिलाड़ी को, वीर सिपाही को पुरस्कार, प्रशंसा-पत्र, धन्यवाद, शाबाशी आदि देना सकारात्मक नियन्त्रण है। बच्चों को अच्छे कार्य के लिए माता-पिता द्वारा प्यार करना एवं चुम्बन देना भी पुरस्कार ही है। सकारात्मक नियन्त्रण में पुरस्कार प्रदान कर अन्य लोगों को भी वैसा ही व्यवहार करने को प्रोत्साहित किया जाता है। नकारात्मक नियन्त्रण में समाज विरोधी व्यवहार करने वाले व्यक्ति को दण्डित किया जाता है। दण्ड की मात्रा कितनी होगी – यह इस बात पर निर्भर है कि व्यक्ति ने कितना गम्भीर अपराध किया है। दण्ड उपहास, व्यंग्य, आलोचना, बहिष्कार, जेल, जुर्माना और मृत्युदण्ड आदि कई प्रकार का हो सकता है। आदिम एवं आधुनिक समाजों में नकारात्मक सामाजिक नियन्त्रण अधिक प्रभावकारी है।

4. **संगठित, असंगठित तथा सहज नियन्त्रण** (Organised, Unorganised and Automatic Control)—**गुरुविच तथा मूर** ने सामाजिक नियन्त्रण के तीन स्वरूपों—संगठित, असंगठित एवं सहज नियन्त्रण का उल्लेख किया है। संगठित नियंत्रण का अर्थ उस नियंत्रण से है जो अनेक छोटी-बड़ी एजेन्सियों और व्यापक नियमों द्वारा व्यक्तियों के व्यवहारों को प्रभावित करता है। इसका विकास नियमित रूप से होता है और इसे स्वेच्छाचारी प्रकृति का कहा जा सकता है। इसमें व्यक्ति के अधिकारों एवं कर्तव्यों को स्पष्ट रूप से परिभाषित किया जाता है। शिक्षण संस्था, परिवार, राज्य, बैंक, आदि द्वारा लागू किये गये नियन्त्रण इसी श्रेणी में आते हैं। असंगठित नियन्त्रण में सांस्कृतिक प्रतीक एवं नियम आते हैं। दैनिक जीवन में इनका प्रभाव सर्वाधिक होता है। संस्कारों, परम्पराओं, जनरीतियों व लोकाचारों द्वारा किया जाने वाला नियन्त्रण इसी प्रकार का है। सहज नियन्त्रण का आधार व्यक्तियों के अनुभव, मूल्य, आदर्श, विचार और आवश्यकताएँ हैं। व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु स्वतः ही कार्य करता है और कुछ व्यवहारों को सीखता है। व्यक्ति स्वयं अपने अनुभव एवं आवश्यकता के कारण कुछ नियन्त्रणों को स्वीकार करता है। इस प्रकार का नियन्त्रण सहज प्रकृति का होता है और उसका प्रभाव भी अधिक होता है। कानून की तरह यह व्यक्ति पर थोपा नहीं जाता है। धार्मिक नियमों को हम सहज नियन्त्रण के अन्तर्गत रख सकते हैं।

5. **सत्तावादी एवं लोकतान्त्रिक/प्रजातान्त्रिक नियन्त्रण** (Autocratic and Democratic Control)—**लेपियर** ने सामाजिक नियन्त्रण को सत्तावादी एवं लोकतान्त्रिक दो भागों में बाँटा है। **लेपियर** कहते हैं कि जब कभी कोई प्रशासनिक संस्था अथवा दण्ड देने वाला व्यक्ति समाज द्वारा स्वीकृत संगठनों के अतिरिक्त किसी दूसरे लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उत्पीड़न अथवा शक्ति का प्रयोग करता है, तब इस प्रकार से स्थापित किये गये नियन्त्रण को सत्तावादी नियन्त्रण कहते हैं। सत्तावादी नियन्त्रण में शक्ति का उपयोग जन-सामान्य की इच्छाओं के विरुद्ध होता है। यदि सत्ताधारी शक्ति का उपयोग समाज की परंपराओं, सामाजिक मूल्यों और स्वीकृत व्यवहारों के विपरीत करते हैं तो इसे सत्तावादी नियन्त्रण कहा जायेगा। निरंकुश एवं तानाशाह शासकों द्वारा इसी प्रकार का नियन्त्रण रखा जाता है। सत्तावादी नियन्त्रण रखने के लिए धमकियों, कूटनीति, अधिकार-प्रदर्शन, गुप्त संगठन, प्रलोभन एवं कूटनीतिक एजेन्सियों, आदि का सहारा लिया जाता है। लोकतान्त्रिक नियन्त्रण में व्यक्तियों को स्वेच्छा से एक विशेष प्रकार का आचरण करने को प्रेरित किया जाता है। इसमें व्यक्तियों को सन्तुष्ट करने के लिए आपसी वार्तालाप किया जाता है। सत्तावादी नियन्त्रण में धमकी एवं शारीरिक उत्पीड़न का सहारा लिया जाता है जबकि लोकतान्त्रिक नियन्त्रण में व्यक्तियों को पुरस्कार एवं भावात्मक प्रेरणाओं के द्वारा नियन्त्रण में रखा जाता है। ऐच्छिक आज्ञाकारिता, अनुभव, वार्तालाप, सामाजिक प्रोत्साहन आदि लोकतान्त्रिक नियन्त्रण के प्रमुख साधन हैं।

हिटलर एवं मुसोलिनी का नियन्त्रण सत्तावादी था जबकि प्रजातन्त्रीय देशों में नियन्त्रण लोकतान्त्रिक पद्धति से रखा जाता है।

नोट

6. **सामाजिक नियन्त्रण के कुछ अन्य स्वरूप** (Some Other Forms of Social Control)—कुछ समाजशास्त्रियों ने सामाजिक नियन्त्रण के कुछ अन्य स्वरूपों का भी उल्लेख किया है। **गिडिंग्स** ने सामाजिक नियन्त्रण के दो स्वरूपों का उल्लेख किया है—पुरस्कार एवं दण्ड। व्यक्ति को नियन्त्रण में रखने के लिए कई बार प्रशंसा, धन्यवाद, पदक और प्रमाण-पत्र आदि के रूप में उसे पुरस्कार दिया जाता है। नियन्त्रण का दूसरा तरीका दण्ड है। जुर्माना, शारीरिक श्रम, फांसी एवं अन्य प्रकार के उत्पीड़न के द्वारा भी व्यक्ति को नियन्त्रित किया जाता है। **गिलिट** एवं **रीनहार्ट** ने सामाजिक नियन्त्रण के दो तरीकों का उल्लेख किया है—एक, शिक्षा व समाजीकरण तथा दूसरा, सामाजिक निर्देश; जैसे पुरस्कार एवं दण्ड का। **ई.सी. हेज** ने सामाजिक नियन्त्रण के दो प्रकारों (*i*) पुरस्कार एवं दण्ड तथा (*ii*) सुझाव और अनुकरण का उल्लेख किया है। **फिचर** ने सामाजिक नियन्त्रण के दो प्रकारों —समूह नियन्त्रण व संस्थात्मक नियन्त्रण का उल्लेख किया है। समूह नियन्त्रण में नियन्त्रणकर्ता एवं नियन्त्रित होने वाला दोनों नियन्त्रण के प्रति जागरूक होते हैं, वे जान-बूझकर स्वेच्छा से इस नियन्त्रण को स्वीकार करते हैं। संस्थात्मक नियन्त्रण में व्यक्ति का संस्कृति से अचेतन व अतार्किक प्रत्युत्तर होता है। व्यक्ति जब एक सांस्कृतिक पर्यावरण में लम्बे समय तक रहता है तो वह अपनी संस्कृति से सम्बन्धित व्यवहारों को अचेतन रूप से बिना सोचे-विचारे ही अपना लेता है तथा स्वतः ही उनके अनुरूप कार्य करने लगता है।

7. **औपचारिक एवं अनौपचारिक सामाजिक नियन्त्रण** (Formal and Informal Social Control)—कुछ समाजशास्त्रियों ने सामाजिक नियन्त्रण को औपचारिक एवं अनौपचारिक दो भागों में बाँटा है। **गुरविच** एवं **मूर** का संगठित एवं असंगठित नियन्त्रण वास्तव में औपचारिक एवं अनौपचारिक नियन्त्रण ही है। औपचारिक नियन्त्रण लिखित एवं निश्चित कानूनों तथा नियमों द्वारा किया जाता है। उसके पीछे राज्य एवं सरकार की शक्ति होती है। नियमों का पालन कराने के लिए औपचारिक संस्थाओं एवं न्याय की व्यवस्था होती है तथा नियमों का उल्लंघन करने पर न्यायालय अथवा किसी अन्य संस्था द्वारा दण्ड दिया जाता है। उदाहरण के लिए, चोरी, जालसाजी एवं डकैती करने वाले को औपचारिक प्रक्रिया के माध्यम से दण्डित किया जाता है। इस प्रकार कानून, न्यायालय, पुलिस एवं जेल औपचारिक नियन्त्रण के माध्यम हैं। दूसरी ओर आदिम, सरल और ग्रामीण समाजों में प्रथाओं, परम्पराओं, लोकाचारों, विश्वासों, हास्य, व्यंग्य, जनमत, आलोचना, संस्कार, धर्म, आदि के द्वारा नियन्त्रण रखा जाता है। ये नियन्त्रण के अनौपचारिक साधन हैं। अनौपचारिक नियन्त्रण का सम्बन्ध राज्य से न होकर समाज से होता है। आज के आधुनिक जटिल समाजों में सामाजिक नियन्त्रण के अनौपचारिक साधनों का प्रभाव कमजोर पड़ता जा रहा है। परिणामस्वरूप वहां सामाजिक नियन्त्रण के औपचारिक साधनों की उपयोगिता एवं प्रयोग बढ़ता जा रहा है।

4.7 औपचारिक सामाजिक नियन्त्रण (Formal Social Control)

अर्थ एवं विशेषताएँ (Meaning and Characteristics)

औपचारिक नियन्त्रण सामाजिक नियन्त्रण का वह प्रकार है जिसकी स्थापना राज्य सरकार एवं किसी औपचारिक संस्था के द्वारा निश्चित नियमों के माध्यम से व्यक्तियों एवं समूहों के व्यवहारों को नियन्त्रित करने के लिए की जाती है। सरकारी तथा औपचारिक संगठनों के द्वारा जानबूझकर कुछ नियम अथवा कानून बनाये जाते हैं जिनका पालन करना उन संगठनों से सम्बन्धित व्यक्तियों एवं समूहों के लिए आवश्यक होता है। इन नियमों में बाध्यता का तत्व पाया जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि इनका उल्लंघन करने वालों को दण्डित किया जाता है, कुछ सजा दी जाती है। उदाहरण के रूप में, राज्य सरकार या केन्द्रीय सरकार द्वारा पारित कानूनों का पालन करना व्यक्तियों के लिए आवश्यक होता है। उन कानूनों को तोड़ने अर्थात् उनके विपरीत आचरण करने वालों पर पुलिस कार्यवाही करती है, अदालत में उनके कानून-विरुद्ध आचरण की जांच की जाती है और यदि उन्हें दोषी पाया जाता है तो जुर्माने या कैद या दोनों ही रूपों में सजा सुनायी जाती है। इसी प्रकार यदि कोई विद्यार्थी किसी महाविद्यालय या

नोट

विश्वविद्यालय के नियमों का उल्लंघन करता है तो उस पर जुर्माना या उसे कक्षा से निलम्बित किया जा सकता है और अपराध गम्भीर होने पर कॉलेज या विश्वविद्यालय से निकाला भी जा सकता है। इसी प्रकार के नियम आर्थिक संगठनों - औद्योगिक संस्थानों, बैंकों, राजनीतिक दलों, नगरपालिकाओं, कॉरपोरेशनों आदि के होते हैं जिनके माध्यम से इनसे सम्बन्धित व्यक्तियों के व्यवहारों को नियन्त्रित किया जाता है।

संक्षिप्त में हम कह सकते हैं कि औपचारिक सामाजिक नियन्त्रण का अर्थ उस नियन्त्रण से है जो राज्य, सरकार या किन्हीं औपचारिक संस्थाओं द्वारा अपने सदस्यों के व्यवहारों को नियन्त्रित करने हेतु स्पष्टतः परिभाषित नियमों के द्वारा लागू किया जाता है और इन नियमों का सदस्यों पर बाध्यतामूलक प्रभाव होता है। इन नियमों के पीछे इन्हें पारित करने वाली संस्था या संगठन की शक्ति होती है और साथ ही जो व्यक्ति इनका उल्लंघन करता है, उसे दण्डित करने की व्यवस्था पायी जाती है।

औपचारिक नियन्त्रण की निम्नलिखित विशेषताएँ हैं :

1. **राज्य, सरकार या किसी अन्य औपचारिक संस्था द्वारा लागू**—औपचारिक नियन्त्रण राज्य, सरकार या किसी औपचारिक संस्था के द्वारा लागू किया जाता है। इनके द्वारा सदस्यों के व्यवहारों को नियन्त्रित करने के लिए कुछ कानून या नियम बनाये जाते हैं जो सुस्पष्ट या सुपरिभाषित होते हैं।
2. **सोच-विचारकर सचेत प्रयत्नों द्वारा लागू**—औपचारिक नियन्त्रण की एक प्रमुख विशेषता यह है कि यह योजनाबद्ध तरीके से लागू किया जाता है। काफी विचार के बाद कानून या नियम बनाये जाते हैं और उन्हें लागू करने और न्याय की व्यवस्था हेतु पुलिस, प्रशासनिक अधिकारियों, न्यायालय तथा जेल आदि की व्यवस्था होती है। औपचारिक नियन्त्रण में स्पष्टता विशेषतः देखने को मिलती है।
3. **बाध्यतामूलक प्रभाव**—औपचारिक नियन्त्रण के अन्तर्गत सभी के लिए कानूनों या नियमों का पालन करना आवश्यक होता है। जो इनका उल्लंघन करता है, उसे दण्डित किया जाता है। राज्य या सरकार के पास विशेषतः ऐसी शक्ति एवं सत्ता पायी जाती है जिसके माध्यम से वह सदस्यों से कानूनों का पालन कराती है।
4. **नियम विरुद्ध आचरण करने पर दण्ड की व्यवस्था**—जो व्यक्ति राज्य, सरकार या किसी औपचारिक संगठन के नियमों को तोड़ता है, उनके विरुद्ध आचरण करता है, उसके लिए दण्ड की निश्चित व्यवस्था पायी जाती है।
5. **औपचारिक संगठन में अनुकूलनशीलता या परिवर्तनशीलता का गुण**—औपचारिक नियन्त्रण सामान्यतः रूढ़िवादी नहीं होकर परिवर्तनशील होता है। इसमें समय और आवश्यकतानुसार परिवर्तन होता रहता है। जैसे-जैसे परिस्थितियाँ बदलती हैं, उसके साथ-ही-साथ कानूनों और नियमों को भी बदला जाता है।
6. **औपचारिक नियन्त्रण व्यवहार के बाहरी पक्ष से सम्बन्धित**—इसमें कानूनों या नियमों के अनुसार व्यवहार करना व्यक्ति के लिए अनिवार्य होता है। ऐसी स्थिति में वह कई बार दण्ड के भय से कानूनों का पालन करता है। परिणामस्वरूप औपचारिक नियन्त्रण अधिकांशतः व्यवहार या बाह्य क्रियाओं को भी प्रभावित कर पाता है, व्यक्ति के आन्तरिक विचारों या भावनाओं को नहीं।
7. **प्रमुखतः जटिल समस्याओं से सम्बन्धित**—औपचारिक नियन्त्रण प्रमुखतः जटिल समाजों की विशेषता है। आज के आधुनिक औद्योगिक जटिल समाजों में जहाँ द्वितीयक समूहों की प्रधानता पायी जाती है। नियन्त्रण के अनौपचारिक साधनों—प्रथा, रूढ़ि, धर्म, नैतिकता द्वारा सामाजिक नियन्त्रण बनाये रखना बहुत कठिन है। इन समाजों में तो नियम, पुलिस अधिकारियों, न्यायालय, जेल व्यवस्था आदि के माध्यम से नियन्त्रण बनाये रखा जा सकता है।

4.8 औपचारिक नियन्त्रण के साधन (Means of Formal Control)

जटिल समाजों में व्यवस्था बनाये रखने हेतु औपचारिक नियन्त्रण का सहारा लिया जाता है। ऐसे समाजों में औपचारिक नियन्त्रण हेतु निम्नलिखित साधनों का प्रमुखतः प्रयोग किया जाता है:

नोट

1. **कानून**—विभिन्न औपचारिक संगठनों के द्वारा समय-समय पर अनेक कानून बनाये जाते हैं ताकि सदस्यों के व्यवहारों पर नियन्त्रण किया जा सके। इन कानूनों की सहायता से व्यक्ति के अधिकारों एवं कर्तव्यों को भी निश्चित किया जाता है।
2. **राज्य**—राज्य या सरकार की अपनी प्रभुसत्ता एवं शासन-व्यवस्था होती है। राज्य नौकरशाही व्यवस्था के माध्यम से लोगों से कानूनों का पालन कराता है और इनका उल्लंघन करने वालों के विरुद्ध आवश्यक कार्यवाही करता है। दण्ड के भय से व्यक्ति कानून को तोड़ने का सामान्यत: साहस नहीं करता।
3. **पुलिस व अदालत**—पुलिस भी औपचारिक नियन्त्रण का प्रमुख साधन है। पुलिस जिन लोगों को कानून-विरुद्ध कार्य करने पर पकड़ती है, उन पर अदालत में मुकदमा चलता है और दोषी पाये जाने पर उन्हें दण्डित किया जाता है। यह दण्ड जुर्माना, कैद और मृत्युदण्ड तक के रूप में हो सकता है। दण्ड के भय से भी व्यक्ति कानूनों को तोड़ने से घबराता है और इस प्रकार उसके व्यवहार पर नियन्त्रण रहता है।
4. **जेल या बन्दीगृह**—अदालत द्वारा सुनाये गये दण्ड को व्यक्ति को जेल या बन्दीगृह में रहकर काटना पड़ता है। जेल में व्यक्ति को अपने परिवार-जनों, रिश्तेदारों, मित्रों, पड़ोसियों आदि के साथ रहने का अवसर नहीं मिलता। उसे इन सबसे अलग कर दिया जाता है। यह पृथक्करण व्यक्ति के लिए काफी कष्टदायक होता है। यहाँ उसे शारीरिक और मानसिक कष्ट तक झेलने पड़ते हैं। जेल के भय से व्यक्ति कानूनों के विरुद्ध आचरण करने से घबराता है।
5. **स्कूल, कॉलेज तथा विश्वविद्यालय**—ये सब औपचारिक नियन्त्रण के साधन हैं। शिक्षण संस्था से सम्बन्धित कुछ नियम होते हैं जिनका पालन करना विद्यार्थियों के लिए आवश्यक होता है। इनके विरुद्ध आचरण करने पर उन्हें शिक्षण-संस्था के प्रधान द्वारा दण्डित किया जाता है। एक ओर वह दण्ड के भय से नियमों के विरुद्ध कार्य नहीं करता है और दूसरी ओर शिक्षण संस्था उसे कर्तव्यों एवं अधिकारों का बोध कराती है, अनुशासन में रहने के लिए प्रोत्साहित और आवश्यकतानुसार बाध्य भी करती है।

औपचारिक नियन्त्रण की प्रविधियाँ (Techniques of Formal Control)

यहाँ हम कुछ ऐसी प्रविधियों का उल्लेख करेंगे जो औपचारिक नियन्त्रण को सफल एवं प्रभावपूर्ण बनाने में विशेष भूमिका अदा करती हैं, ये प्रविधियाँ निम्नांकित हैं :

1. **चेतावनी**—यह एक बहुत ही पुरानी और प्रारम्भिक प्रविधि है। जहाँ कानून का मामूली उल्लंघन किया जाता है, वहाँ दोषी व्यक्ति को विशेष दण्ड नहीं देकर माफी मांगने और भविष्य में ऐसा न करने की चेतावनी देकर छोड़ दिया जाता है।
2. **जुर्माना**—जुर्माना या आर्थिक दण्ड भी औपचारिक नियन्त्रण की एक प्रमुख प्रविधि है। यह पहले से निश्चित होता है कि कौन-से कानून या नियम का उल्लंघन करने पर व्यक्ति को कितनी रकम जुर्माने के रूप में चुकानी होगी।
3. **बन्दीगृह या कारावास**—इसमें व्यक्ति को कारावास में रहना पड़ता है। व्यक्ति को सश्रम कारावास की और बिना श्रम के कारावास की सजा दी जा सकती है। सश्रम कारावास की सजा में व्यक्ति को जेल में कठिन शारीरिक परिश्रम करने के लिए बाध्य होना पड़ता है। बिना श्रम के कारावास की स्थिति में भी व्यक्ति को मानसिक पीड़ा तो भुगतनी ही पड़ती है।
4. **गुप्तचर व्यवस्था**—यह व्यवस्था सरकारी और गैर-सरकारी दोनों ही प्रकार की हो सकती है। इसके अन्तर्गत गुप्तचर या सी.आई.डी सादी पोशाक में रहते हैं तथा समाज विरोधी व्यक्तियों, कार्यों, अपराधों, षड्यन्त्रों तथा कुछ विशिष्ट लोगों की गतिविधियों पर निगरानी रखते हैं। ये अपराधियों और अन्य समाज विरोधी व्यक्तियों को पकड़ने में पुलिस की मदद करते हैं। गुप्तचर विभाग के डर से व्यक्तियों के व्यवहार पर नियन्त्रण रहता है।

नोट

5. **पुरस्कार**—विभिन्न संगठनों के द्वारा अच्छे कार्यों के लिए व्यक्तियों को समय-समय पर अनेक पुरस्कार भी दिये जाते हैं। इन पुरस्कारों से व्यक्ति को अच्छे कार्य करने की प्रेरणा मिलती है और साथ ही समाज-विरोधी कार्यों से बचने का प्रोत्साहन। पुरस्कार पाने की इच्छा व्यक्ति को गलत कार्य करने से रोकती है और अनुशासन में रहने के लिए प्रेरित करती है।

4.9 अनौपचारिक सामाजिक नियन्त्रण (Informal Social Control)

अर्थ एवं विशेषताएँ (Meaning and Characteristics)

अनौपचारिक सामाजिक नियन्त्रण औपचारिक नियन्त्रण का विपरीत प्रकार है। इसमें व्यक्तियों एवं समूहों के व्यवहारों को नियन्त्रित करने के लिए राज्य, सरकार या किसी संस्था अथवा संगठन के द्वारा कानून एवं नियम नहीं बनाये जाते। साथ ही अनौपचारिक नियन्त्रण के पीछे राज्य या सरकार की शक्ति या सत्ता नहीं पायी जाती। यदि कोई व्यक्ति किसी जनरीति, प्रथा, रूढ़ि या परम्परा के विपरीत आचरण करता है तो सरकार के द्वारा उसे दण्डित नहीं किया जाता है। इस प्रकार के नियन्त्रण को ओल्सन ने आत्म-नियन्त्रण (Self-control) के नाम से पुकारा है। औपचारिक नियन्त्रण का समय के साथ-साथ सामाजिक अन्तःक्रियाओं के परिणामस्वरूप अपने आप ही विकास होता है। यह सोच-विचारकर या जान-बूझकर विकसित या निर्मित नहीं किया जाता। सामाजिक नियन्त्रण का यह प्रकार सामाजिक नियमों के रूप में व्यक्तियों के व्यवहार को नियन्त्रित करता है। जनरीतियाँ, रूढ़ियाँ, प्रथाएँ, विश्वास, धर्म और नैतिकता आदि अनौपचारिक सामाजिक नियन्त्रण के विभिन्न साधनों के अन्तर्गत आते हैं। सामाजिक नियन्त्रण के इस प्रकार में व्यक्तियों के व्यवहारों को नियन्त्रित करने के लिए कोई कानूनी या विधिवत् व्यवस्था नहीं पायी जाती है। व्यक्ति सामाजिक नियमों को समूह-कल्याण की दृष्टि से उपयोगी एवं आवश्यक मानता है, अतः उनके अनुरूप आचरण करता है। इन सामाजिक नियमों का आधार सामाजिक मूल्य एवं आदर्श होते हैं। अनौपचारिक नियन्त्रण के साधन सामान्यतः रूढ़िवादी होते हैं। सरल और परम्परागत प्रकार के समाजों में अनौपचारिक नियन्त्रण अधिक प्रभावी होता है। यद्यपि अनौपचारिक नियन्त्रण के पीछे राज्य या सरकार की शक्ति नहीं होती परन्तु इसका नियन्त्रणकारी प्रभाव औपचारिक नियन्त्रण से भी अधिक होता है। इस प्रकार के नियन्त्रण में समूह का प्रत्येक सदस्य सजग प्रहरी होता है जो यह देखता रहता है कि कोई सामाजिक नियमों का उल्लंघन तो नहीं कर रहा है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि अनौपचारिक सामाजिक नियन्त्रण, नियन्त्रण का वह प्रकार है जिसमें जनरीतियों, प्रथाओं, परम्पराओं, रूढ़ियों, आदर्शों, विश्वासों, धर्म एवं नैतिकता, आदि के माध्यम से व्यक्तियों एवं समूहों के व्यवहारों को नियन्त्रित किया जाता है। इन सामाजिक नियमों का पालन समूह-कल्याण को ध्यान में रखकर नैतिक कर्तव्य के रूप में किया जाता है।

अनौपचारिक सामाजिक नियन्त्रण की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :

1. **स्रोत स्वयं समाज**—इस प्रकार के सामाजिक नियन्त्रण का स्रोत राज्य अथवा सरकार या कोई अन्य सामाजिक संगठन नहीं होता, बल्कि स्वयं समाज होता है। अनौपचारिक नियन्त्रण के विभिन्न साधनों या सामाजिक नियमों का विकास सामाजिक अन्तःक्रिया के दौरान अपने आप ही होता हैं जनरीति, प्रथा, रूढ़ि, परम्परा आदि का विकास होता है और इनका स्रोत कोई औपचारिक संगठन नहीं होकर समूह या समाज ही होता है।
2. **स्वतः विकास**—इस प्रकार के नियन्त्रण के विभिन्न साधनों का समय के साथ-साथ स्वतः ही विकास होता है। इनको जान-बूझकर या चेतन प्रयत्नों द्वारा सामान्यतः विकसित नहीं किया जाता। जैसे-जैसे लोग एक-दूसरे के सम्पर्क में आते हैं, उनमें सामाजिक अन्तःक्रिया होती है, इसके साथ-ही-साथ इस प्रकार के सामाजिक नियन्त्रण से जनरीति, प्रथा, रूढ़ि आदि का विकास होता जाता है।
3. **अलिखित**—सामाजिक नियन्त्रण के ये साधन अलिखित रूप में पाये जाते हैं। जनरीति, प्रथा, परम्परा, रूढ़ि आदि राज्य के कानूनों के समान लिखित रूप में नहीं पाये जाते। ये तो अलिखित रूप में ही पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित होते रहते हैं और लोगों के व्यवहारों को नियन्त्रित करते रहते हैं।

4. **आन्तरिक पक्ष से सम्बन्धित**—सामाजिक नियन्त्रण के अनौपचारिक साधनों का सम्बन्ध प्रमुखतः व्यक्तित्व के आन्तरिक पक्ष से होता है। यहाँ तो व्यक्ति से यह आशा की जाती है कि वह समाज की परम्पराओं, प्रथाओं, रूढ़ियों, विश्वासों आदि को अपने व्यक्तित्व का अंग बना ले और उन्हीं के अनुरूप आचरण करना उसकी आदत बन जाए।

नोट

5. **समूह-कल्याण की भावना की प्रधानता**—अनौपचारिक सामाजिक नियन्त्रण समूह-कल्याण की दृढ़ भावना पर टिका होता है। सभी लोग अर्थात् सम्पूर्ण समूह जनरीतियों, प्रथाओं, आदर्शों, रूढ़ियों, नैतिकता आदि को अपने हित या कल्याण की दृष्टि से आवश्यक समझते हैं। समूह-कल्याण की इसी बलवती भावना के कारण लोग प्रथाओं एवं परम्पराओं को तोड़ते नहीं देखना चाहते।
6. **सामाजिक मूल्यों एवं आदर्शों पर आधारित**—प्रत्येक समाज के अपने कुछ सामाजिक मूल्य और आदर्श होते हैं। इनकी रक्षा करना समाज के सदस्यों का परम कर्तव्य समझा जाता है। सामाजिक नियन्त्रण के अनौपचारिक साधन इन्हीं सामाजिक मूल्यों एवं आदर्शों का प्रतिनिधित्व करते हैं। अतः सामाजिक नियन्त्रण के इन साधनों के अनुसार आचरण करना लोग अपना नैतिक दायित्व मानते हैं।
7. **रूढ़िवादिता अथवा अपरिवर्तनशीलता**—अनौपचारिक नियन्त्रण के अन्तर्गत पाये जाने वाले सामाजिक नियम – प्रथा, रूढ़ि आदि अपनी प्रकृति से ही रूढ़िवादी होते हैं। ये समय की आवश्यकता के अनुसार शीघ्र परिवर्तित नहीं होते। ये मान्य व्यवहार के विपरीत आचरण की किसी भी रूप में स्वीकृति नहीं देते।

अनौपचारिक सामाजिक नियन्त्रण के साधन एवं प्रविधियाँ

अनौपचारिक सामाजिक नियन्त्रण के साधनों में जनरीतियाँ, प्रथाएँ, रूढ़ियाँ, विश्वास, धर्म और नैतिकता आदि आते हैं। परिवार अनौपचारिक नियन्त्रण का एक प्रमुख माध्यम है जो अपने सदस्यों के व्यवहारों को विभिन्न रूपों में नियन्त्रित करता है।

अनौपचारिक नियन्त्रण की प्रविधियों में प्रमुख सामाजिक सीख, सुझाव, पुरस्कार, सामाजिक दण्ड, भाषा, हास्य-व्यंग्य एवं कला, फैशन आदि हैं।

4.10 औपचारिक तथा अनौपचारिक नियन्त्रण में अन्तर (Distinction between Formal and Informal Control)

औपचारिक तथा अनौपचारिक सामाजिक नियन्त्रण में हम अग्रलिखित अन्तरों का उल्लेख कर सकते हैं :

1. औपचारिक सामाजिक नियन्त्रण में दण्ड देने का कार्य राज्य अथवा सरकार द्वारा किया जाता है, जबकि अनौपचारिक सामाजिक नियन्त्रण में दण्ड का स्रोत स्वयं समाज, समुदाय या समूह होता है।
2. औपचारिक सामाजिक नियन्त्रण में नियमों के जानबूझकर बनाये जाने के कारण वे सुपरिभाषित व लिखित होते हैं जबकि अनौपचारिक सामाजिक नियन्त्रण में नियम पूर्णरूप से लिखित नहीं होते अपितु सामाजिक अन्तःक्रियाओं के दौरान अपने आप स्पष्ट होते हैं।
3. औपचारिक सामाजिक नियन्त्रण में नियमों को न मानने पर राज्य या अन्य किसी प्रशासनिक संगठन द्वारा व्यक्ति को निश्चित दण्ड देने की व्यवस्था होती है अर्थात् व्यक्तियों के लिए नियमों का पालन करना अनिवार्य होता है, इसके विपरीत अनौपचारिक सामाजिक नियन्त्रण में इस प्रकार दण्ड देने की कोई व्यवस्था नहीं होती है।
4. औपचारिक सामाजिक नियन्त्रण मानव व्यवहार के बाह्य पक्ष को अधिक प्रभावित करता है। दूसरी ओर, अनौपचारिक सामाजिक नियन्त्रण का विशेष सम्बन्ध व्यक्तित्व के आन्तरिक पक्ष से होने के कारण इसे व्यक्ति स्वयं स्वीकार कर लेता है।
5. औपचारिक सामाजिक नियन्त्रण आधुनिक विशाल एवं जटिल समाजों की विशेषता है क्योंकि ऐसे समाजों में व्यक्ति के अधिकांश व्यवहारों पर नियन्त्रण औपचारिक सामाजिक नियन्त्रण के साधनों जैसे, दण्ड, भय, उत्पीड़न व शक्ति प्रदर्शन द्वारा सम्भव है। इसके विपरीत, अनौपचारिक सामाजिक नियन्त्रण का

नोट

विशेष महत्त्व छोटे एवं सरल समाजों में अधिक होता है क्योंकि इन समाजों के सदस्य अधिकांशतः प्रथा, परम्परा, धार्मिक नियमों एवं रूढ़ियों द्वारा नियन्त्रित एवं निर्देशित होते हैं।

6. औपचारिक सामाजिक नियन्त्रण में परिवर्तनशीलता का गुण पाया जाता है अर्थात् इसमें आवश्यकताओं एवं परिस्थितियों के बदलने पर परिवर्तन होता रहता है, जबकि अनौपचारिक सामाजिक नियन्त्रण में परम्परागत व्यवहारों को बदलना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य होता है।
7. औपचारिक सामाजिक नियन्त्रण सामाजिक मूल्यों के विपरीत भी हो सकता है जबकि अनौपचारिक सामाजिक नियन्त्रण सदैव परम्परागत सामाजिक मूल्यों के अनुरूप ही होता है।
8. औपचारिक सामाजिक नियन्त्रण से सम्बन्धित व्यवहार संहिताओं (Codes) या नियमों को राज्य या अन्य प्रशासनिक संगठनों द्वारा बनाया जाता है। इसके विपरीत, अनौपचारिक सामाजिक नियन्त्रण में इन नियमों को समाज द्वारा निर्मित किया जाता है।
9. औपचारिक सामाजिक नियन्त्रण का स्वरूप पूर्ण निर्धारित योजनाबद्ध रूप में होता है जबकि अनौपचारिक सामाजिक नियन्त्रण का विकास लम्बी अवधि में धीरे-धीरे स्वतः होता है।
10. औपचारिक सामाजिक नियन्त्रण के प्रभावशाली साधन कानून, न्यायालय व पुलिस हैं जिनके द्वारा नियमों का उल्लंघन करने पर व्यक्ति को निश्चित दण्ड देने की व्यवस्था की जाती है। दूसरी ओर, अनौपचारिक सामाजिक नियन्त्रण के प्रभावशाली साधन परम्पराएँ, धार्मिक नियम इत्यादि होते हैं जिनके द्वारा निश्चित दण्ड न देकर अधिक-से-अधिक व्यक्ति की सामाजिक निन्दा की जा सकती है अथवा जाति से निष्कासित किया जा सकता है।

समाजिक नियन्त्रण की प्रकृति एवं साधनों के आधार पर दोनों में कुछ मूलभूत भिन्नताओं के होते हुए भी दोनों एक-दूसरे के सहयोगी एवं पूरक हैं। आदिम व परम्परागत समाजों में भी किसी-न-किसी रूप में सरकार व कानून का अस्तित्व होता है। इसी प्रकार आधुनिक जटिल समाजों में व्यक्ति के व्यवहार को नियन्त्रित करने के लिए अनेक कानून बनाये गये हैं फिर भी इस वैज्ञानिक युग में आज भी धर्म, प्रथा, परम्परा आदि का अपना विशिष्ट महत्त्व है।

4.11 सामाजिक नियन्त्रण के साधन तथा अभिकरण (Means and Agencies of Social Control)

सामाजिक नियन्त्रण की व्यवस्था को प्रभावी बनाने के लिए अनेक साधनों एवं अभिकरणों का सहारा लिया जाता है। सामान्यतः साधन एवं अभिकरण में कोई भेद नहीं किया जाता है, किन्तु इनमें पर्याप्त अन्तर है। अभिकरण का तात्पर्य उन समूहों, संगठनों एवं सत्ता से है जो नियन्त्रण को समाज पर लागू करते हैं। नियमों को लागू करने का माध्यम अभिकरण कहलाता है। उदाहरण के लिए, परिवार, राज्य, शिक्षण संस्थाएँ एवं अनेक संगठन जो प्रथाओं, परम्पराओं, नियमों और कानूनों को लागू करने वाले मूर्त माध्यम हैं, अभिकरण कहे जाएँगे। साधन (Means) से तात्पर्य किसी विधि या तरीके से है जिसके द्वारा कोई भी अभिकरण या एजेन्सी अपनी नीतियों और आदेशों को लागू करती है। प्रथा, परम्परा, लोकाचार, हास्य, व्यंग्य, प्रचार, जनमत, कानून, पुरस्कार एवं दण्ड आदि सामाजिक नियन्त्रण की व्यवस्था को कायम रखते हैं। हम यहाँ सामाजिक नियन्त्रण के विभिन्न साधानों एवं अभिकरणों का उल्लेख करेंगे।

1. **परिवार** (Family)—नियन्त्रण के अनौपचारिक, असंगठित और प्राथमिक साधनों में परिवार का स्थान सर्वोपरि है। परिवार व्यक्ति के समाजीकरण में प्रमुख भूमिका निभाता है। समाजीकरण के द्वारा परिवार व्यक्ति को सामाजिक विश्वासों, मूल्यों, आदर्शों, प्रथाओं एवं नियमों से परिचित कराता है। व्यक्ति स्वतः ही सामाजिक नियमों को आत्मसात कर उनके अनुरूप आचरण करने लगता है जिससे कि समाज में नियन्त्रण बना रहता है। परिवार ही बच्चों को आदर्श नागरिकता का पाठ पढ़ाता है और उनमें सद्गुणों का विकास करता है। प्राथमिक समूह होने के कारण परिवार के सदस्यों से व्यक्ति का घनिष्ठ सम्बन्ध होता है और वह उसके प्रत्यक्ष सम्पर्क में आता है। परिवार के सदस्य, माता-पिता, भाई-बहन, पति-पत्नी एवं बच्चे प्रेम, प्रशंसा, निन्दा, अपमान, डांट-फटकार और उपेक्षा के द्वारा व्यक्ति के व्यवहार को नियन्त्रित

करते हैं और उसे सामाजिक नियमों को मानने के लिए बाध्य करते हैं। अपने प्रियजनों एवं रिश्तेदारों की उपेक्षा व्यक्ति सहन नहीं कर सकता क्योंकि वे ही तो दुर्दिन में उसके सहायक होते हैं, उसके अपने होते हैं तथा सबसे अधिक विश्वसनीय एवं उसे प्रेम करने वाले होते हैं। अत: उनकी बात मानना आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार परिवार व्यक्ति के व्यवहार पर अंकुश रखकर समाज में नियन्त्रण बनाए रखता है।

नोट

2. **जनरीतियाँ** (Folkways)—**समनर** कहते हैं कि जनरीतियाँ प्राकृतिक शक्तियों के समान होती हैं जिनका पालन "व्यक्ति अचेतन रूप से करता है।" **मैकाइवर** के अनुसार, "समाज में व्यवहार करने की स्वीकृत एवं मान्यता-प्राप्त विधियाँ, जनरीतियाँ कहलाती हैं।" जनरीतियाँ भी सामाजिक नियन्त्रण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। इनका जन्म स्वत: होता है और बार-बार दुहराने से ये विकसित होती हैं। इनकी उत्पत्ति जान-बूझकर किए गए प्रयत्नों से ही होती है। चूंकि समाज के सभी लोग उनका पालन कर रहे हैं, अत: दूसरे व्यक्ति भी उन्हें स्वीकार कर लेते हैं। बिना सोचे-विचारे और अचेतन रूप में ही व्यक्ति जनरीतियों का पालन करता है। इनका उल्लंघन करने पर समाज द्वारा निन्दा व आलोचना की जाती है, व्यक्ति की हँसी उड़ायी जाती है और उस पर व्यंग्य किया जाता है। इस प्रकार जनरीतियाँ अधिक शक्तिशाली होती हैं, अत: इनका उल्लंघन करना सरल नहीं है।

3. **लोकाचार या रूढ़ियाँ** (Mores)—जब जनरीतियों में समूह-कल्याण की भावना जुड़ जाती है तो वे लोकाचार का रूप ग्रहण कर लेती हैं। ये जनरीतियों की अपेक्षा अधिक स्थिर होती हैं और उनका उल्लंघन करने पर कठोर दण्ड की व्यवस्था की जाती है। लोकाचार में उचित एवं अनुचित का भाव निहित होता है। लोकाचार सकारात्मक एवं नकारात्मक दो प्रकार के होते हैं। सकारात्मक लोकाचार हमें कुछ कार्य करने का निर्देश देते हैं, जैसे, सदा सच बोलो, सभी पर दया करो, माता-पिता की आज्ञा मानो, ईमानदार बनो आदि। नकारात्मक लोकाचार हमें कुछ कार्यों को करने से रोकते हैं, जैसे, चोरी मत करो, झूठ मत बोलो, हिंसा मत करो आदि। लोकाचारों का पालन करना नैतिक दृष्टि से उचित माना जाता है। लोकाचार अनौपचारिक एवं असंगठित नियन्त्रण का साधन हैं। इनका उल्लंघन करने पर नियन्त्रण की अनौपचारिक शक्तियों जैसे, हास्य, व्यंग्य, आलोचना आदि का सामना करना पड़ता है। व्यक्ति स्वयं भी इनका उल्लंघन करना अनुचित मानता है क्योंकि ऐसा करने से सामूहिक कल्याण खतरे में पड़ जाता है। लोकाचारों की शक्ति और प्रभाव कानूनों से भी अधिक होता है। **डेविस** कहते हैं, "सामान्य व्यक्तियों के मन में लोकाचारों से बड़ा कोई न्यायालय नहीं है तथा सामान्य प्रकृति के समाजों में लोकाचारों के अलावा दूसरे नियमों की आवश्यकता ही महसूस नहीं की जाती। इसका कारण यह है कि लोकाचारों को उचित प्रमाणित करने की कोई आवश्यकता नहीं होती वरन् वे अपनी स्वयं की अधिकार शक्ति से ही जीवित रहते हैं।" इस प्रकार लोकाचार नियन्त्रण के महत्त्वपूर्ण साधन हैं।

4. **प्रचार** (Propaganda)—वर्तमान समय में प्रचार भी सामाजिक नियन्त्रण का प्रमुख साधन बनता जा रहा है। व्यक्ति एवं समूह के व्यवहार पर प्रचार द्वारा नियन्त्रण रखा जाता है। प्रचार के लिए अनेक साधनों का उपयोग किया जाता है जैसे, अखबार, पत्र-पत्रिकाएँ, साहित्य, रेडियो, टेलीविजन, सिनेमा, प्रदर्शनी, मेले, सभा एवं समारोह आदि। प्रचार के द्वारा अच्छी और बुरी दोनों ही बातों का प्रसार किया जा सकता है। प्रचार के कारण ही हम आज अनेक सामाजिक कुप्रथाओं जैसे, दहेज, बाल-विवाह, छुआछूत, विधवा-विवाह निषेध एवं अन्धविश्वासों से छुटकारा पाने में कुछ सीमा तक सफल हुए हैं। सन्तों, नेताओं एवं महापुरुषों के विचारों का प्रचार कर समाज में एकरूपता एवं नियन्त्रण उत्पन्न किया जाता है। आर्थिक नीतियों का प्रसार करने एवं शिक्षा के प्रति लोगों में जागृति पैदा करने के लिए प्रचार का सहारा लिया जाता है। प्रचार द्वारा लोगों को एक विशेष प्रकार से आचरण करने का सुझाव दिया जाता है।

5. **प्रथाएँ** (Customs)—प्रथाएँ भी सामाजिक नियन्त्रण का एक महत्त्वपूर्ण साधन हैं। जब जनरीतियाँ व्यवहार में बहुत अधिक आ जाती हैं, पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित होती रहती हैं और सारे समूह अथवा समाज की आदत बन जाती हैं तो वे ही प्रथाओं का रूप ले लेती हैं। **गिसबर्ट** कहते हैं, "प्रथा व्यवहार का वह स्वरूप है, जो आदत का रूप ले लेता है तथा समाज के अधिकांश सदस्यों द्वारा उसका पालन किया जाता है।" **बोगार्डस** कहते हैं, "प्रथाएँ समूह के द्वारा स्वीकृत नियन्त्रण की ऐसी विधियाँ हैं जो

नोट

इतनी सुदृढ़ हो जाती हैं कि उन्हें बिना विचारे ही मान्यता दे दी जाती है और इस प्रकार ये एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित होती रहती हैं।" **गिन्सबर्ग** ने प्रथा में तीन तत्वों का उल्लेख किया है—पहला, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से प्रथा कुछ बातों में आदत की तरह होती है अर्थात् प्रथा एक ऐसी आदत है जिसका पालन समाज के अधिकांश लोग करते हैं। दूसरा, प्रथाएँ आदर्शात्मक एवं बाध्यतामूलक होती हैं अर्थात् इनमें अच्छाई-बुराई के भाव छिपे होते हैं तथा इनका पालन करना नैतिक रूप से आवश्यक माना जाता है। अतः प्रथा को हम नैतिक स्वीकृति-प्राप्त कार्य-प्रणाली कह सकते हैं। तीसरा, प्रथा में सामाजिकता पायी जाती है अर्थात् प्रथाएँ व्यक्तिगत व्यवहार नहीं होकर सामूहिक व्यवहार होती हैं, जिसे समाज की स्वीकृति प्राप्त होती है।

सरल एवं जटिल, प्राचीन एवं आधुनिक सभी समाजों में प्रथाएँ सामाजिक नियन्त्रण का एक अनौपचारिक, अनियोजित, असंगठित एवं सशक्त साधन हैं। वे व्यक्तिगत व सामूहिक व्यवहारों पर नियन्त्रण करती हैं। वे इतनी शक्तिशाली होती हैं कि सामान्य व्यक्ति इनके उल्लंघन की हिम्मत नहीं कर सकता। शेक्सपीयर इन्हें **'क्रूर'** बताता है तथा **मॉण्टेन** इन्हें **'गुस्सेबाज'** और **'धूर्त स्कूल मास्टरनी'** (Violent and Treacherous School mistress) कहते हैं। **बेकन** कहते हैं, "प्रथाएँ मनुष्य के जीवन की प्रमुख न्यायाधीश हैं।" **लॉक** ने इनकी शक्ति को प्रकृति से भी महान बताया है। **शपेरा** ने कहा है कि आदिम समाजों में प्रथाओं के प्रति समर्पण स्वतः स्फूर्त होता है। प्रथाओं के पालन से व्यक्ति को सामाजिक सम्मान व भौतिक लाभ मिलते हैं। किन्तु मैलिनोवस्की की मान्यता है कि आधुनिक समाजों की तरह ही आदिम समाजों में भी व्यक्ति व्यक्तिगत लाभ के कारण प्रथाओं का पालन करता है।

6. **जनमत** (Public Opinion)—जनमत भी सामाजिक नियन्त्रण का एक महत्त्वपूर्ण अनौपचारिक साधन है। **बोटोमोर** कहते हैं, "जनमत व्यक्तियों के व्यवहारों को प्रतिबन्धित व निर्देशित करता है।" आदिम एवं आधुनिक सभी समाजों में जनमत लोगों के व्यवहारों पर अंकुश रखता है। सभ्य समाजों में तो जनमत सरकार की नीतियों, संघों, राज्य, सामाजिक व्यवहार एवं समूहों पर अंकुश रखने वाली एक महान सामाजिक शक्ति है। यदि प्रथाएँ **'एक निरंकुश राज्य'** की तरह समाज पर नियन्त्रण रखती हैं तो जनमत अनजाने ही व्यक्ति को समाज के अनुकूल आचरण करने की प्रेरणा देता है। **दुर्खीम, मैलिनोवस्की** एवं अनेक अन्य मानवशास्त्रियों ने आदिम समाजों में सामाजिक नियन्त्रण बनाए रखने में जनमत की महत्त्वपूर्ण भूमिका का उल्लेख किया है। प्रजातन्त्र में तो जनमत को राज्य, सरकार, संघों एवं व्यक्तियों पर नियन्त्रण रखने में अत्यधिक महत्त्वपूर्ण माना जाता है।

7. **हास्य तथा व्यंग्य** (Humour and Ridicule)—हास्य और व्यंग्य के द्वारा प्राचीन समय से ही सामाजिक नियन्त्रण रखा जाता रहा है। व्यक्ति के व्यवहारों पर हास्य एवं व्यंग्य द्वारा अप्रत्यक्ष एवं मधुर रूप से नियन्त्रण रखा जाता है। व्यक्ति के समाज-विरोधी व्यवहार पर कविता, साहित्य एवं कला के द्वारा मार्मिक रूप से व्यंग्य किया जाता है, व्यक्ति का मजाक उड़ाया जाता है जिससे दोषी व्यक्ति अपने व्यवहारों के प्रति जागरूक हो जाता है और समाज-विरोधी व्यवहारों को त्यागकर समाज के अनुरूप व्यवहार करने लगता है।

8. **दण्ड एवं पुरस्कार** (Punishment and Reward)—दण्ड एवं पुरस्कार सामाजिक नियन्त्रण के महत्त्वपूर्ण साधन हैं। यदि व्यक्ति समाज-विरोधी कार्य करता है और सामाजिक नियमों की अवहेलना करता है तो समाज उसे दण्ड देता है जिससे की वह भविष्य में उन गलतियों को न दोहराए। दण्ड के अनेक रूप हैं जो आँखें दिखाने, डराने, धमकाने, डांटने, मार-पीट करने तथा जुर्माने व जेल से लेकर मृत्यु-दण्ड तक हो सकते हैं।

दूसरी ओर यदि मानव समाज द्वारा मान्य व्यवहारों को करता है तो उसे पुरस्कार दिया जाता है। यह पुरस्कार चुम्बन, प्यार, प्रशंसा, धान्यवाद, पदक, उपाधि से लेकर किसी भौतिक वस्तु व सम्पत्ति के रूप में भी हो सकता है। कई बार लोग पुरस्कार पाने के लिए ही सामाजिक नियमों का पालन करते हैं। पुरस्कार के कारण व्यक्ति की कार्यकुशलता में वृद्धि होती है।

9. **नेता** (Leader)—नेता सामाजिक नियन्त्रण के प्रभावशाली साधन होते हैं। नेतृत्व एवं नेता के अनेक प्रकार भी हो सकते हैं। राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक, सैनिक, परम्परावादी, चमत्कारिक एवं प्रजातन्त्रवादी सभी नेता समाज में किसी-न-किसी रूप में नियन्त्रण बनाए रखते हैं। **दुर्खीम** उन्हें सामुदायिक जीवन का प्रतिनिधि मानता है। इसलिए उनका प्रभाव उनके अनुयायियों पर अधिक होता है। नेता लोग अपने आचरण, चरित्र, आदर्श, बुद्धि, परिश्रम एवं सूझ-बूझ से लोगों के व्यवहारों को एक निश्चित दिशा प्रदान करते हैं। हिटलर, मुसोलिनी, गांधी, नेहरू, सुभाष, भगतसिंह, चन्द्रशेखर आदि नेताओं ने क्रान्ति एवं शान्ति के समय लोगों को नेतृत्व प्रदान किया। लोगों ने उनके सुझावों एवं आदेशों का पालन करके अपने दायित्व को निभाया। सामाजिक नियन्त्रण में नेतृत्व के महत्त्व को बताते हुए **गिलिन** एवं **गिलिन** लिखते हैं, "सामाजिक नियन्त्रण में पहला चरण शायद प्रभावशाली व्यक्तियों द्वारा ही उठाया गया है। नेतृत्व और अधीनता पशु-जीवन में भी देखने को मिलते हैं। 'महापुरुष' सदा की ही भाँति आज भी समाज में अपनी भूमिका अदा करता आ रहा है, यद्यपि आधुनिक प्रजातन्त्र ने उसे सेना के निर्देशक के स्थान पर उद्योग, शिक्षा, कला तथा विज्ञान के निर्देशक का नया रूप प्रदान कर दिया है।"

नोट

4.12 सामाजिक नियन्त्रण में कानून की भूमिका (Role of Law in Social Control)

सामाजिक नियन्त्रण में कानून की भूमिका अथवा महत्त्व को कई विद्वानों ने स्वीकार किया है। **रॉस** लिखते हैं, "कानून सामाजिक नियन्त्रण का सबसे अधिक विशेषीकृत और अत्यधिक स्पष्ट इंजन है जिसको स्वयं समाज क्रियाशील बनाता है।" **मैलिनोवस्की** लिखते हैं कि सामाजिक नियन्त्रण में कानून की शक्ति उसके विभिन्न कार्यों से सम्बन्धित है। उसके अनुसार, "कानून का मौलिक कार्य व्यक्ति के प्राकृतिक उद्वेगों और मूल प्रवृत्तियों के प्रभावों को कम करना अथवा एक समाजीकृत व्यवहार को प्रोत्साहन देना है। कानून का कार्य व्यक्तियों के बीच इस प्रकार सहयोग पैदा करना है जिससे वे सामान्य लक्ष्यों को पाने के लिए अपने स्वयं के स्वार्थों का बलिदान कर सकें।" **रास्की पाउण्ड** ने कानून द्वारा सामाजिक नियन्त्रण बनाए रखने में उसकी भूमिका को तीन भागों में बाँटा है -

(1) शक्ति के व्यवस्थित प्रयोग द्वारा सामाजिक सम्बन्धों में समायोजन स्थापित करना एवं आचरणों में व्यवस्था बनाए रखना।

(2) समाज के विवादों को सुलझाने के लिए समाज द्वारा स्वीकृत आदर्शों पर आधारित सिद्धान्तों को लागू करना।

(3) प्रशासनिक ढांचे को दृढ़ता प्रदान करना।

कानून समाज में दो प्रकार से नियन्त्रण रखता है -- सकारात्मक एवं नकारात्मक तरीके से। नकारात्मक पद्धति में कानून कुछ कार्यों को करने के लिए मना करता है और ऐसा न करने पर दण्ड की व्यवस्था करता है। सकारात्मक पद्धति में कुछ कार्यों को करने का निर्देश दिया जाता है तथा उसके लिए पुरस्कार, पदक, प्रमाण-पत्र आदि की व्यवस्था की जाती है। सामाजिक नियन्त्रण में कानून की भूमिका को विभिन्न बिन्दुओं के अन्तर्गत हम इस प्रकार प्रकट कर सकते हैं-

(*i*) **व्यक्ति के व्यवहारों पर नियन्त्रण**—कानून वैयक्तिक एवं सामूहिक दोनों ही स्तरों पर व्यक्ति का नियन्त्रण करता है। व्यक्ति के व्यवहार पर अंकुश रखने के लिए अनेक नियम और अधिनियम राज्य द्वारा बनाए जाते हैं ताकि वह अपने स्वार्थ के कारण अन्य लोगों के हितों को चोट नहीं पहुँचाए एवं समाज में सद्व्यवहार करे। सड़क पर चलने, बस, रेल, वायुयान एवं अन्य वाहनों में यात्रा करने, शिक्षा संस्था में प्रवेश लेने, सामान एवं सम्पत्ति बेचने एवं खरीदने, आदि सभी के सम्बन्ध में व्यक्ति को कानूनों का पालन करना होता है। कानून व्यक्ति को कुछ मौलिक अधिकार प्रदान करता है। इन अधिकारों का हनन करने वाले व्यक्ति को कानून द्वारा दण्ड देने की भी व्यवस्था होती है।

(*ii*) **पारिवारिक जीवन पर नियन्त्रण**—परिवार से सम्बन्धित भी अनेक कानून पाए जाते हैं जो पारिवारिक जीवन को नियन्त्रित करते हैं। उदाहरण के लिए, विवाह, सम्पत्ति उत्तराधिकार, गोद लेने से सम्बन्धित कानून आदि पारिवारिक जीवन को व्यवस्थित एवं नियन्त्रित करने के लिए ही बनाए गए हैं। भारत में भी परिवार एवं विवाह से सम्बन्धित अनेक अधिनियम बनाए गए हैं जिनका उद्देश्य सदस्यों पर नियन्त्रण

रखना ही है। इन अधिनियमों में से कुछ अधिनियम जैसे, हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955; बाल-विवाह निरोधक अधिनियम, 1929; विधवा पुनर्विवाह अधिनियम, 1856; हिन्दू स्त्री सम्पत्ति उत्तराधिकार अधिनियम, 1956; दहेज निरोधक अधिनियम, 1961; आदि हैं।

नोट

(iii) **सामाजिक जीवन पर नियन्त्रण**—कानूनों का कार्य सामाजिक जीवन को नियंत्रित करना भी है। इस सन्दर्भ में भारत में बने कई कानूनों का उल्लेख किया जा सकता है। 1955 में अस्पृश्यता अपराध अधिनियम, 1929 में सती-प्रथा निषेध कानून और 1976 में नागरिक अधिकार संरक्षण कानून पारित कर भारत सरकार ने सामाजिक जीवन को नियन्त्रित ही किया है। इनका उद्देश्य सार्वजनिक जीवन में पायी जाने वाली छुआछूत मिटाना, अमानुषिक अत्याचार को रोकना एवं व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा करना है। सभा, उत्सव, मेले एवं सार्वजनिक स्थानों एवं अवसरों पर हम किस प्रकार का आचरण करेंगे, इस सन्दर्भ में कानून हमारा मार्ग-दर्शन करते हैं एवं हम पर नियन्त्रण रखते हैं।

(iv) **आर्थिक जीवन पर नियन्त्रण**—कानून हमारे आर्थिक जीवन, आर्थिक संस्थाओं एवं कार्य-कलापों को भी नियन्त्रित करते हैं। बैंक में लेन-देन, सम्पत्ति बेचने-खरीदने, व्यवसाय करने, उद्योग प्रारम्भ करने, सेवा कार्य करने, पेंशन, बीमा आदि सभी से सम्बन्धित नियम पाए जाते हैं। सम्पत्ति कर, आय कर, बिक्री कर, मृत्यु कर आदि के नियमों के अनुसार ही व्यक्ति को भुगतान करना होता है। इस प्रकार हमारा आर्थिक जीवन भी कानूनों से बंधा हुआ है।

(v) **राजनीतिक जीवन पर नियन्त्रण**—कानून व्यक्ति के राजनीतिक जीवन को भी नियन्त्रित करते हैं एवं उसमें राजनीतिक चेतना एवं कर्तव्य बोध की भावना पैदा करते हैं। संविधान द्वारा राज्य के नागरिकों को कुछ मौलिक अधिकार प्रदान किए जाते हैं। साथ ही व्यक्ति से भी अपेक्षा की जाती है कि वह राज्य के प्रति अपने दायित्वों का निर्वाह करे। प्रजातन्त्र में तो राज्य लोगों को कानून द्वारा मत देने, चुनाव लड़ने, प्रचार करने, सरकार गठन करने तथा विपक्षी का विरोध करने का अधिकार देता है जिसका पालन एक निश्चित दायरे में रहते हुए किया जाना चाहिए। तानाशाही शासन में व्यक्ति पर अनेक राजनीतिक अंकुश लगा दिए जाते हैं।

(vi) **दण्ड व न्याय द्वारा नियन्त्रण**—वैयक्तिक एवं सामूहिक जीवन से सम्बन्धित अनेक कानून पाए जाते हैं जिनका उद्देश्य विवाद के समय मध्यस्थता करना, व्यक्ति को सुरक्षा एवं न्याय प्रदान करना है। अन्याय के कारण समाज में विद्रोह एवं क्रान्ति होती है। न्याय द्वारा लोगों के साथ समानता का व्यवहार किया जाता है और नियमों की अवहेलना करने वाले को दण्डित किया जाता है। दण्ड के भय से एवं अपराधियों को जेल में समाज से पृथक् रखकर कानून नियन्त्रण बनाए रखने में योग देता है। कानून की इस भूमिका का उल्लेख करते हुए **लैण्डिस** लिखते हैं, "हमारे समाज में शारीरिक और वित्तीय दोनों ही प्रकार के दण्डों के माध्यम से कानून के लिए राजनीतिक आदर प्राप्त करना प्रथा मूलक है। यह कानून और उनके दण्ड ही हैं जो कि आधुनिक राज्यों की सामाजिक संरचना को कायम रखते हैं।"

(vii) **प्रथाओं की रक्षा**—यह सच है कि कई कानून प्रथाओं के विरोधी होते हैं फिर भी अनेक कानून प्रथाओं से ही परिवर्तित, संशोधित अथवा विकसित होकर बनते हैं; अतः वे प्रथाओं के रक्षक कहे जा सकते हैं।

(viii) **द्वितीयक समूहों एवं संस्थाओं पर नियन्त्रण**—वर्तमान जटिल औद्योगिक एवं नगरीय समाजों में अनेक प्रकार की धार्मिक, राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, मनोरंजन एवं खेलकूद सम्बन्धी द्वितीयक समूह एवं संस्थाएँ पायी जाती हैं। ये कभी-कभी इतनी निरंकुश हो जाती हैं कि अपने हितों की रक्षा के लिए दूसरे के हितों को कुचलने और अपनी सीमाओं का अतिक्रमण करने लगती हैं। ऐसी दशा में कानून उनकी सीमाओं एवं क्षेत्रों को परिभाषित करता है तथा उन पर नियन्त्रण रखता है।

(ix) **परिवर्तन द्वारा नियन्त्रण**—कई बार समूह एवं समाज में परिवर्तन लाना आवश्यक हो जाता है। कानून इस परिवर्तन की गति, दर, मात्रा एवं सीमा, आदि का निर्धारण करता है तथा कई बार व्यक्ति को परिवर्तन के लिए मजबूर भी करता है। उदाहरण के लिए, छुआछूत को दूर करने के लिए अस्पृश्यता निवारण अधिनियम बनाया गया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कानून मानव व्यवहार के सभी पक्षों को नियन्त्रित करता है। ज्यों-ज्यों सामाजिक जटिलता बढ़ती जा रही है, कानून की नियन्त्रणकारी भूमिका भी महत्त्वपूर्ण होती जा रही है, किन्तु जो कानून शासकों द्वारा अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए बनाए जाते हैं और जिनमें सार्वजनिक हित शामिल नहीं होता, वे निरंकुश एवं दमनकारी होते हैं। ऐसे कानून क्रान्ति व विद्रोह को जन्म देते हैं तथा समाज-व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने में असफल सिद्ध होते हैं।

नोट

4.13 सामाजिक नियन्त्रण में राज्य की भूमिका (Role of State in Social Control)

राज्य सामाजिक नियन्त्रण का एक महत्त्वपूर्ण एवं प्रभावशाली अभिकरण है। उसके पास दमनकारी शक्ति होती है। पुलिस, न्यायालय, जेल एवं कानून के द्वारा वह अपने भू-क्षेत्र में सामाजिक नियन्त्रण को बनाए रखता है। समाज विरोधी तत्वों एवं अपराधियों पर अंकुश रखता है, उन्हें दण्ड देता है और सामाजिक नियम व कानूनों का पालन करने वाले को पुरस्कृत करता है। राज्य सुधार-गृहों की स्थापना करता है जिनमें अपराधियों एवं बाल-अपराधियों को सुधार कर सुयोग्य नागरिक बनाया जाता है। राज्य की नियन्त्रणकारी भूमिका को स्पष्ट करते हुए **फेयरचाइल्ड** लिखते हैं, "राज्य समाज की वह एजेन्सी अथवा संस्था है जो शक्ति का उपयोग करने अथवा दमनकारी नियन्त्रण को लागू करने का अधिकार रखती है। वह इस शक्ति का उपयोग सदस्यों पर नियन्त्रण रखने अथवा किसी अन्य समाज के विरुद्ध कर सकता है।" सामाजिक नियन्त्रण में राज्य द्वारा निभायी जाने वाली भूमिका को हम इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं-

(*i*) **प्रत्यक्ष कार्यों द्वारा नियन्त्रण**—कुछ कार्य ऐसे हैं जिनका सम्पादन प्रत्यक्ष रूप से राज्य द्वारा किया जाता है। उदाहरण के लिए, राज्य अनेक उद्योगों की स्थापना करता है, उनका संचालन करता है, खनिज एवं यातायात की व्यवस्था करता है, लोगों को श्रम के शोषण से बचाता है। इस प्रकार राज्य व्यापार, उद्योग, शिक्षा आदि के द्वारा समाज में प्रत्यक्ष रूप से नियन्त्रण बनाए रखता है।

(*ii*) **पारिवारिक नियन्त्रण**—परिवार स्वयं सामाजिक नियन्त्रण का एक अभिकरण है, किन्तु उसका कार्यक्षेत्र सीमित है। आधुनिक युग में राज्य ने परिवार एवं विवाह से सम्बन्धित अनेक अधिनियम बनाकर परिवार को नियन्त्रित किया है। परिवार समाज की एक मौलिक इकाई है। यदि परिवार विघटित होता है तो उसका प्रभाव समाज पर भी पड़ता है। यही कारण है कि परिवार के आकार, पारिवारिक सम्पत्ति में अधिकार एवं विवाह से सम्बन्धित कानून बनाकर राज्य परिवार पर नियन्त्रण बनाए रखता है। इस सन्दर्भ में भारत में भी अनेक अधिनियम बने हुए हैं, जैसे, बाल-विवाह निरोधक अधिनियम, 1929; विधवा पुनर्विवाह अधिनियम, 1856; हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955; हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम, 1956; दहेज निरोधक अधिनियम, 1961 आदि। ये सभी अधिनियम परिवार एवं विवाह के क्षेत्र में नियन्त्रण बनाए रखते हैं जिसके फलस्वरूप समाज में व्यवस्था बनी रहती है।

(*iii*) **मौलिक अधिकारों का संरक्षण**—प्रत्येक राज्य अपने नागरिकों को कुछ मौलिक अधिकार प्रदान करता है। इन अधिकारों की रक्षा करना राज्य का कर्तव्य एवं दायित्व है। ये अधिकार ऐसे हैं जो बिना किसी भेद-भाव के राज्य के सभी नागरिकों को चाहे वह किसी धर्म, जाति, प्रजाति, लिंग व रंग के हों, प्रदान किए जाते हैं। भारतीय संविधान में कुछ मौलिक अधिकारों की व्यवस्था की गयी है, वे हैं स्वतन्त्रता का अधिकार, समानता का अधिकार, न्याय प्राप्त करने का अधिकार, शोषण से मुक्ति का अधिकार, धार्मिक एवं सांस्कृतिक स्वतन्त्रता का अधिकार, भाषण का अधिकार, सम्पत्ति का अधिकार आदि। अधिकार प्रदान करना उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है जितना कि उनकी रक्षा करना क्योंकि बिना राज्य के संरक्षण के इन अधिकारों का कोई अर्थ नहीं रह जाता है। राज्य स्वार्थी व्यक्तियों एवं समूहों को इन अधिकारों को हनन करने से रोकता है और समाज में प्रत्येक व्यक्ति के सम्मान की रक्षा कर नियन्त्रण बनाए रखता है।

(*iv*) **आन्तरिक सुव्यवस्था एवं शान्ति**—राज्य समाज में आन्तरिक व्यवस्था एवं शान्ति बनाए रखता है। वह उपद्रवों का दमन करता है, अपराधियों को दण्ड देता है, उनका सुधार करता है। समाज में विभिन्न धर्मों, जातियों, प्रजातियों एवं सम्प्रदायों से सम्बन्धित लोग होते हैं जिनके हित एवं उद्देश्य कई बार परस्पर

नोट

विरोधी होते हैं। राज्य सभी प्रकार के लोगों एवं समूहों के बीच होने वाले संघर्षों को रोकता है। वह नागरिकों के जान-माल की तथा गुण्डों व असामाजिक तत्वों से समाज की रक्षा करता है। घेराव, हड़ताल, आगजनी एवं तोड़-फोड़ की घटनाओं पर नियन्त्रण रखने का कार्य भी राज्य का ही है। आन्तरिक शान्ति एवं व्यवस्था के लिए राज्य जेल, पुलिस, न्यायालय एवं सेना की सहायता लेता है और इस प्रकार समाज में नियन्त्रण बनाए रखता है।

(v) **बाह्य आक्रमणों से सुरक्षा**—राज्य अपने नागरिकों की बाह्य एवं पड़ोसी देशों के आक्रमण से रक्षा का कार्य करके भी नियन्त्रण बनाए रखता है। सेना की सहायता से राज्य यह कार्य अन्य संघों की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह से कर सकता है। बाह्य खतरों से यदि समाज को सुरक्षित नहीं रखा जाए तो समाज में अव्यवस्था एवं नियमहीनता पैदा हो जाती है और लोगों की जान-माल को खतरा पैदा हो जाता है। इस प्रकार बाह्य आक्रमण से सुरक्षा प्रदान कर राज्य अपने नागरिकों का मनोबल ऊँचा रखता और नियन्त्रण बनाए रखता है।

(vi) **सामाजिक क्रियाओं का नियन्त्रण एवं निर्देशन**—राज्य समाज के सदस्यों के कार्यों को नियन्त्रित एवं निर्देशित भी करता है। वह सामाजिक अन्धविश्वासों एवं कुरीतियों पर प्रतिबन्ध लगाता है तथा लोगों के सामने नवीन मूल्य, आदर्श एवं नैतिकता उपस्थित करता है जिससे कि लोग उनका अनुगमन कर प्रगति एवं सुखी जीवन व्यतीत कर सकें। राज्य समाज की समस्याओं का समाधान करके भी नियन्त्रण व्यवस्था बनाए रखता है। भाषावाद, साम्प्रदायिकता, जातिवाद, क्षेत्रवाद, प्रान्तवाद, आदि समस्याओं का समाधान कर तथा इनके विरोध में प्रचार द्वारा जनमत तैयार करके भी राज्य नियन्त्रण बनाए रखता है। सामाजिक समस्याओं के समाधान के लिए राज्य कई अधिनियम भी पारित करता है। अस्पृश्यता निवारण, विवाह से सम्बन्धित समस्याओं, आर्थिक शोषण से मुक्ति, दास-प्रथा, सती-प्रथा, मजदूरों की समस्याओं, गन्दी बस्तियों की समस्या; वेश्यावृत्ति आदि की समस्याओं को हल करने के लिए राज्य ने कानून बनाए हैं और उनका उचित समाधान किया है। इस प्रकार समस्याओं को हल करके भी राज्य समाज में नियन्त्रण बनाए रखता है।

(vii) **कल्याणकारी व्यवस्थाओं का निर्माण**—वर्तमान समय में राज्य केवल आन्तरिक व्यवस्था व शान्ति बनाए रखने तथा बाह्य आक्रमण से रक्षा करने का कार्य ही नहीं करता वरन् वह अपने नागरिकों के लिए अनेक जनहित एवं कल्याण के कार्य भी करता है। राज्य अपंग, बीमार, वृद्ध, बच्चों तथा स्त्रियों के लिए आवश्यक सहायता का प्रबन्ध भी करता है। यदि शासक वर्ग अपने हितों की पूर्ति में लगा रहे और समाज हित के कार्य नहीं करे तो समाज में क्रान्ति, विद्रोह एवं गृह-युद्ध की स्थिति पैदा होने की आशंका रहती है तथा असन्तोष पनपता है। ऐसी स्थिति में सामाजिक नियन्त्रण समाप्त हो जाता है। आधुनिक समय में औद्योगिक समाजों में राज्य ने मजदूरों के कार्य करने के समय, आयु, बोनस, आवास, शिक्षा, अवकाश, स्वास्थ्य एवं चिकित्सा आदि से सम्बन्धित समस्याओं के समाधान के लिए अनेक कल्याणकारी प्रावधानों की व्यवस्था की है। इस प्रकार, राज्य समाज के सभी वर्गों के हितों की रक्षा करके भी नियन्त्रण बनाए रखता है।

(viii) **आर्थिक व्यवस्था पर नियन्त्रण**—आर्थिक आवश्यकताएँ मानव की मौलिक आवश्यकताएँ हैं। यदि इनकी पूर्ति उचित ढंग से न हो तो राज्य में विद्रोह होने का डर बना रहता है। अत: राज्य का यह कर्तव्य है कि वह अपने नागरिकों के भोजन, वस्त्र तथा निवास आदि की समुचित व्यवस्था करे। इसलिए प्रत्येक राज्य उत्पादन, उपभोग, वितरण, विनिमय, कर, आयात-निर्यात, उद्योग, व्यवसाय आदि से सम्बन्धित नीति तय करता है, कानून बनाता है और सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था को नियन्त्रित करता है।

(ix) **कानून द्वारा नियन्त्रण**—कानून राज्य की औपचारिक नियन्त्रण शक्ति है। विभिन्न प्रकार के कानून बनाकर राज्य नागरिकों के व्यवहारों पर नियन्त्रण रखता है और उनमें एकरूपता लाने का प्रयास करता है। कानून के अभाव में स्वार्थी तत्व समाज विरोधी गतिविधियों द्वारा केवल अपने ही हितों की पूर्ति में लग जाएँगे एवं सामूहिक हित खतरे में पड़ जाएगा। कानून के अभाव में 'जंगल का शासन' स्थापित हो जाता है

नोट

जिसमें शक्तिशाली व्यक्ति ही जीवित रह पाते हैं तथा 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाली कहावत चरितार्थ होती है और बड़ी मछली छोटी मछली को निगल जाती है अर्थात् शक्तिशाली व सम्पन्न वर्ग कमजोर व गरीब लोगों को जीने नहीं देता है। इस स्थिति से मुक्ति पाने तथा समाज को सुचारु रूप से चलाने के लिए राज्य अनेक प्रकार के कानून बनाता है और नियन्त्रण व्यवस्था लागू करता है। राज्य के कानून इसलिए अधिक कारगर सिद्ध होते हैं कि उनके पीछे सम्पूर्ण राज्य की शक्ति होती है, पुलिस, न्यायालय, जेल एवं सेना की शक्ति होती है।

(x) **दण्ड के द्वारा नियन्त्रण**—राज्य केवल कानून ही नहीं बनाता है वरन् उन्हें प्रभावी ढंग से लागू भी करता है। समाज में कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जो कानूनों की अवहेलना कर गलत तरीकों से अपने हितों की पूर्ति करना चाहते हैं तथा दूसरों के हितों को चोट पहुंचाते हैं। राज्य ऐसे लोगों को दण्ड देता है। दण्ड के लिए राज्य अदालत व जेल की व्यवस्था करता है। राज्य का यह उद्देश्य होता है कि दोषी व्यक्ति बच न पाए और निर्दोष फंस न जाए। इसलिए वादी एवं प्रतिवादी दोनों की सुनवाई की जाती है और उसके बाद ही दोष का निर्धारण होता है तथा दोषी व्यक्तियों को दण्डित किया जाता है। राज्य अपराधियों को कई प्रकार से दण्ड दे सकता है, जैसे, देश निकाला, फांसी, शारीरिक कष्ट, सश्रम कारावास व आर्थिक जुर्माना आदि। अपराधियों को दण्डित करने से अन्य व्यक्ति भी भयभीत होते हैं तथा परिणामस्वरूप वे समाज-विरोधी गतिविधियों से बचने का प्रयत्न करते हैं। दण्ड के द्वारा अपराधियों को भविष्य में अपराध दोहराने से भी रोका जाता है। इस प्रकार अपराधियों, दोषी व्यक्तियों एवं समाज-विरोधी तत्वों को अपराध करने से रोककर तथा उन्हें दण्डित करके भी राज्य सामाजिक नियन्त्रण बनाए रखता है।

(xi) **शिक्षा के प्रसार द्वारा नियन्त्रण**—शिक्षा भी सामाजिक नियन्त्रण का प्रभावशाली साधन है। प्रत्येक राज्य अपने नागरिकों के लिए शिक्षा का प्रबन्ध करता है, विद्यालय, महाविद्यालय एवं विश्वविद्यालय की व्यवस्था करता है। शिक्षा मानव के ज्ञान के द्वार खोलती है, उसे अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाती है। यह उसे सामाजिक जीवन के महत्त्व का ज्ञान कराती है तथा तर्क शक्ति प्रदान करती है जिसके परिणामस्वरूप व्यक्ति स्वयं ही समाज विरोधी कार्यों से बचता रहता है। वह स्वयं ही अच्छाई और बुराई, उचित एवं अनुचित, पाप व पुण्य में भेद कर सकता है और अपना आचरण सामाजिक नियमों के अनुसार बना सकता है। पुस्तकों में सामाजिक मूल्यों, आदर्शों एवं नैतिकता का प्रतिपादन किया जाता है जिन्हें पढ़-समझकर व्यक्ति स्वयं सामाजिक हितों की सुरक्षा में लग जाता है।

(xii) **अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के नियमन द्वारा नियन्त्रण**—राज्य केवल अपने भौगोलिक क्षेत्र में ही नियन्त्रण की व्यवस्था को लागू नहीं करता है वरन् वह अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहारों एवं सम्बन्धों को भी नियन्त्रित करता है। विदेशों में जाने, विदेशी नागरिकों के अपने देश में बसने, आयात-निर्यात करने, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार, विदेश यात्रा आदि के सम्बन्ध में राज्य अपनी नीति तय करता है और कानून बनाता है। विदेशों में भाग कर गए हुए अपराधियों को अपने देश में वापस बुलाने के लिए 'इण्टरपोल' (Interpol) जैसी संस्थाओं के द्वारा कार्यवाही करता है। इसके अतिरिक्त, राज्य दूसरे देशों में आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित करता है, सैनिक समझौते एवं सन्धियाँ करता है, यातायात, डाक-तार, संचार, उद्योग, अस्त्र-शस्त्र खरीदने व बेचने आदि के सम्बन्ध में निर्णय लेता है और इन कार्यों पर अपना नियन्त्रण रखता है। संयुक्त राष्ट्रसंघ के माध्यम से अन्तर्राज्यीय सम्बन्धों को नियन्त्रित एवं निर्देशित किया जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक युग में राज्य सामाजिक नियन्त्रण का एक शक्तिशाली अभिकरण बन गया है। राज्य की दमनकारी शक्ति को चुनौती देना कठिन है। अतः वह नियन्त्रण के अन्य साधनों की अपेक्षा अधिक कारगर साबित हुआ है। **मैकाइवर** ने भी लिखा है कि "राज्य आवश्यक रूप से व्यवस्था का निर्माण करने वाला संगठन है। राज्य व्यर्थ में ही व्यवस्था की स्थापना नहीं करता वरन् उसका उद्देश्य उन सभी क्षमताओं को उत्पन्न करना है जिनके लिए एक व्यवस्था की आवश्यकता होती है।"

नोट

4.14 सामाजिक नियन्त्रण में धर्म की भूमिका (Role of Religion in Social Control)

धर्म सामाजिक नियन्त्रण का प्रमुख साधन है। ईश्वर, पाप एवं नरक के भय से व्यक्ति समाज विरोधी कार्यों से बचता है। सामाजिक नियन्त्रण में धर्म की भूमिका या महत्त्व को हम इस प्रकार प्रकट कर सकते हैं :

(i) **मानव व्यवहार पर नियन्त्रण** (Control over human behaviour)—धर्म मानव के व्यवहार पर नियन्त्रण रखता है। मानव अलौकिक शक्ति से डरता है, अत: धर्म से सम्बन्धित नियमों का पालन करता है। धर्म-सम्मत आचरण कर मानव ईश्वर को प्रसन्न कर उसकी शक्ति से लाभ उठाना चाहता है। धर्म में पाप-पुण्य एवं स्वर्ग-नरक का भी विचार सम्मिलित है। धर्म द्वारा मान्य व्यवहारों का पालन कर व्यक्ति पुण्य कमाता है और मरने के बाद मोक्ष एवं स्वर्ग को प्राप्त होता है। इसके विपरीत, अधर्मी व्यक्ति पाप का भागी होता है और नरक में जाता है। धर्म की यह धारणा व्यक्ति के विचारों पर अंकुश रखती है।

(ii) **मानव में सद्गुणों का विकास** (Development of good qualities in man)—धर्म मानव में सद्गुणों का विकास करता है। धार्मिक नियमों का आचरण करने से व्यक्ति समाज-विरोधी कार्यों से बचता है। धर्म व्यक्ति में प्रेम, दया, सहानुभूति, ईमानदारी, सत्य, अहिंसा एवं सहयोग के गुणों का विकास करता है। इन गुणों के कारण मानव व्यवहार स्वत: ही नियन्त्रित रहता है।

(iii) **सुरक्षा की भावना पैदा करता है** (Development of the sense of security)—धर्म को मानने से व्यक्ति में यह भाव पैदा होता है कि वह विश्व में अकेला नहीं है, ईश्वर उसके साथ है और कठिनाई के समय वह उसकी रक्षा करेगा, उसे सहयोग देगा। धर्म के सहारे मानव सभी संकटों को सरलता से पार कर जाता है। सुरक्षा भावना भी व्यक्ति को नियन्त्रण में रहने को प्रेरित करती है।

(iv) **पवित्रता की भावना का विकास** (Development of the feeling of sacredness)—दुर्खीम के अनुसार धर्म पवित्र एवं अपवित्र में अन्तर स्पष्ट करता है। धर्म पवित्र कार्यों को करने का निर्देश देता है तथा अपवित्र कार्यों से बचने को कहता है ताकि पाप से दूर रहा जा सके। अधार्मिक कार्य ही पाप है और धार्मिक कार्य पवित्र एवं पुण्य है। धार्मिक एवं पवित्र कार्यों को करने की आज्ञा देकर एवं अपवित्र कार्यों (जो कि सामान्यत: समाज विरोधी होते हैं) पर रोक लगाकर भी धर्म समाज में नियन्त्रण बनाए रखता है।

(v) **धार्मिक संस्कार** (Religious sanskar)—व्यक्ति धर्म से सम्बन्धित अनेक संस्कार सम्पन्न करता है। धार्मिक संस्कार व्यक्ति को भविष्य में उसके साथ अन्त:क्रिया करने वाले व्यक्तियों की नयी प्रस्थिति एवं भूमिका तथा अधिकारों एवं दायित्वों का ज्ञान कराते हैं। संस्कारों को सम्पन्न करने के दौरान कुछ निश्चित आचरण करने होते हैं। अन्य शब्दों में, कुछ नियन्त्रणों को स्वीकार करना पड़ता है। हिन्दुओं में विवाह एक पवित्र संस्कार है, विवाह से सम्बन्धित नियमों का पालन कर व्यक्ति सामाजिक नियन्त्रण को स्वीकार करता है।

(vi) **कर्तव्य एवं कर्म के रूप में नियन्त्रण** (Control as an act or duty)—हमारे यहाँ मानव के कर्तव्यों के रूप में अनेक धर्मों की चर्चा की गयी है, जैसे, वर्ण धर्म, आश्रम धर्म, कुल धर्म, देश धर्म, राज धर्म, स्व धर्म एवं मानव धर्म– ये सभी धर्म व्यक्ति को कुछ निश्चित प्रकार के कर्तव्य करने का निर्देश देते हैं और उसके निरंकुश व्यवहार पर नियन्त्रण रखते हैं।

(vii) **आर्थिक जीवन पर नियन्त्रण** (Control over economic life)—धर्म व्यक्ति के आर्थिक जीवन पर भी नियन्त्रण रखता है। धर्म में उचित तरीके एवं ईमानदारी से धन कमाने की बात कही गयी है। लगभग सभी धर्मों में आजीविका कमाने, उपभोग, उत्पादन, वितरण, विनिमय, उधार लेने व लौटाने, राज्य को कर देने आदि के बारे में नियमों का उल्लेख किया गया है। अनेक धर्म-ग्रन्थों में श्रमिकों के सम्बन्धों, प्रजातियों के बीच सम्बन्धों तथा शहर की परिस्थितियों में रुचि दिखायी गयी है। धार्मिक ग्रन्थ काद्रागेसिमों अनो तथा रेरम नोवारन दोनों ही पूंजीपतियों की परम स्वार्थी प्रकृति के कटु आलोचक थे। ये वर्ग संघर्ष

को बुरा मानते हैं और वर्गों में सामंजस्य की बात करते हैं। **मैक्स वेबर** ने आधुनिक पूँजीवाद के जन्म के लिए प्रोटेस्टेण्ट धर्म को उत्तरदायी माना है। इसका कारण यह है कि इस धर्म में वे तत्व पाए जाते हैं जो पूँजीवादी व्यवस्था को जन्म देते हैं, जैसे, ब्याज लेना, परिश्रम करना, बचत करना, शराब पीकर काम पर न जाना, आलस्य न करना आदि। ये धार्मिक मूल्य व्यक्ति के आर्थिक जीवन को नियन्त्रित करते हैं।

नोट

(*viii*) **व्यक्तित्व का विकास** (Development of the personality)—धर्म व्यक्तित्व के विकास में योग देता है। धर्म व्यक्ति के सम्मुख पवित्र लक्ष्य रखता है, कठिनाइयों के समय धैर्य से काम लेने एवं संकटों का मुकाबला साहस से करने की प्रेरणा देता है। अत: निराशाओं के कारण व्यक्ति के व्यक्तित्व का विघटन नहीं हो पाता है। वह समस्याओं को ईश्वर की इच्छा मानकर उनका मुकाबला करता है। विघटित व्यक्तित्व समाज के लिए समस्याएँ पैदा करते हैं। धर्म संगठित व्यक्तित्व का विकास करके भी सामाजिक नियन्त्रण बनाए रखता है।

(*ix*) **मनोवैज्ञानिक सन्तोष** (Psychological satisfaction)—धर्म व्यक्ति को मानसिक कष्टों से मुक्ति दिलाकर उसे सन्तोष प्रदान करता है। प्रत्येक मानव के जीवन में कभी-न-कभी ऐसा समय आता है जब वह अपने को अनिश्चय एवं असहाय स्थिति में पाता है। बेकारी, बीमारी, वृद्धावस्था, आर्थिक कठिनाइयाँ एवं शारीरिक कष्ट के समय वह ईश्वर को पुकारता है, उसके सम्मुख अपने को समर्पित करता है। ऐसा करने से उसके कष्ट चाहे दूर न हों, पर उसे मानसिक सन्तोष अवश्य मिलता है। कभी ऐसी स्थिति में व्यक्ति समाज-विरोधी कार्य करने को भी तैयार हो जाता है, किन्तु ईश्वर व धर्म के भय के कारण वह सब कुछ सहन कर लेता है और सामाजिक नियमों के अनुरूप आचरण करता है।

(*x*) **लोकाचारों की पुष्टि** (Support of mores)—धर्म लोकाचारों की पुष्टि करता है और उन्हें समाज के कल्याण के लिए आवश्यक मानता है। **मैरिल** कहते हैं, "लोकाचारों का कार्य सामाजिक कल्याण में वृद्धि करना होता है लेकिन इन लोकाचारों की स्वीकृति धर्म के द्वारा ही होती है।" **जॉनसन** का मत है कि "धर्म सामान्य मूल्यों तथा आदर्श नियमों का निर्माण करता है, उनके रूप को स्पष्ट करता है, प्रतीकों के रूप में उन्हें स्थायी बनाता है और अन्त में उन्हें सम्पूर्ण समाज में लागू करता है।" हमारे अनेक धार्मिक नियम लोकाचार ही होते हैं।

(*xi*) **सामाजिक एकीकरण** (Social integration)—दुर्खीम कहते हैं - धर्म उन सभी लोगों को एकता के सूत्र में पिरोता है जो इसमें विश्वास करते हैं। एक धर्म के मानने वाले लोगों में 'हम' की भावना का विकास होता है, वे परस्पर सहयोग करते हैं, उनमें समान विचार, भावनाएँ, विश्वास एवं व्यवहार पाए जाते हैं। धर्म व्यक्ति को कर्तव्य के पालन की प्रेरणा देता है। सभी व्यक्ति अपने कर्तव्यों का पालन करके सामाजिक संगठन एवं एकता को बनाए रखने में योग देते हैं।

(*xii*) **सामाजिक परिवर्तन पर नियन्त्रण** (Control over social change)—धर्म समाज में होने वाले अनावश्यक परिवर्तनों का विरोध करता है जिससे कि सामाजिक संगठन विशृंखलित न हो जाए यद्यपि सभी परिवर्तन विघटनकारी नहीं होते हैं। धर्म लोगों को परम्परागत नियमों का पालन करने का निर्देश देकर परिवर्तन को हतोत्साहित करता है। यह ऐसे परिवर्तनों का विरोध करता है जो अनैतिक एवं अनुपयोगी हों।

(*xiii*) **विभिन्न परिस्थितियों से सामंजस्य में योग** (Helpful in adjustment with different conditions)—धर्म विभिन्न परिस्थितियों से मानव का सामंजस्य कराकर भी सामाजिक नियन्त्रण बनाए रखता है। प्रत्येक समाज में ऊंच-नीच का संस्तरण पाया जाता है। निम्न स्तर के लोगों में कभी-कभी अपनी स्थिति के प्रति असन्तोष भी होता है, वे विद्रोह की बात भी सोचते हैं, किन्तु धर्म उन्हें अपनी स्थिति को बनाए रखने का निर्देश देता है। **जॉनसन** कहते हैं कि, "धर्म समाज में ऊँचे पदों पर स्थित लोगों को यह सोचने में सहायता देता है कि यह उनका सौभाग्य उनकी करनी का फल है और उसका आदर होना चाहिए। साथ ही जैसा कि हम देखेंगे - गरीब और शक्ति-विहीन भी धर्म से सन्तोष प्राप्त करते हैं।"

(xiv) **अपराध व समाज-विरोधी कार्यों पर नियन्त्रण** (Control over crime and anti-social activities)—धर्म व्यक्ति की समाज-विरोधी क्रियाओं एवं अपराधों पर नियन्त्रण रखता है। धार्मिक नियमों का उल्लंघन करने पर व्यक्ति में अपराधी भावना पैदा होती है, व्यक्ति को ईश्वरीय दण्ड का भय पैदा होता है। इसी प्रकार जब वह निकटतम मित्र या सम्बन्धी की मृत्यु को देखता है तो सोचता है कि उसका अन्त भी निकट है। ऐसे विचार उसे अपराध से दूर रहने की प्रेरणा देते हैं। ऐसी स्थिति में व्यक्ति धर्म एवं ईश्वर में गहरी आस्था रखने लगता है तथा सद्कर्मों की ओर प्रवृत्त होता है।

(xv) **स्वस्थ मनोरंजन** (Healthy recreation)—धर्म व्यक्ति को स्वस्थ मनोरंजन प्रदान करता है जिससे कि वह मानसिक तनाव से मुक्त हो जाता है और दैहिक जीवन में संयत व्यवहार करता है। भजन-कीर्तन, पूजा-पाठ, त्योहार, उत्सव, अनुष्ठान, यज्ञ, हवन, धार्मिक प्रवचन सुनना, मन्दिर-मस्जिद या गुरुद्वारे में जाना, धार्मिक तीर्थयात्रा, मेले, रामलीला, कृष्णलीला, आदि व्यक्ति को मनोरंजन के साथ-साथ मानसिक शान्ति एवं शिक्षा भी प्रदान करते हैं।

(xvi) **राजनीतिक क्रियाओं पर नियन्त्रण** (Control over political activities)—धर्म लोगों की राजनीतिक क्रियाओं पर भी नियन्त्रण रखता है। प्राचीन समय में धर्म और राजनीति घुले-मिले हुए थे। राजा धर्म एवं राज्य दोनों का प्रधान होता था और पुरोहित उसे धर्मानुसार शासन करने की मन्त्रणा देते थे। धार्मिक क्रियाओं का पालन करने के लिए राज्य की शक्ति एवं राजाज्ञा का पालन कराने के लिए धर्म का सहारा लिया जाता रहा है। कई धर्म तो राजधर्म के रूप में स्वीकार किए गए हैं। मध्यकाल में यूरोप में चर्च और राज्य एक ही थे। कई राजा अपने को पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि बताते रहे हैं। कई जनजातियों में तो आज भी शासन का कार्य धार्मिक विशेषज्ञों के सहारे ही चलाया जाता है। इस प्रकार धर्म समाज में राजनीतिक क्रियाओं का नियमन करके भी नियन्त्रण बनाए रखता है।

उपर्युक्त सम्पूर्ण विवेचन से स्पष्ट है कि धर्म सामाजिक नियन्त्रण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

4.15 नैतिकता एवं सामाजिक नियन्त्रण (Morality and Social Control)

धर्म की तरह नैतिकता भी सामाजिक नियन्त्रण का एक महत्त्वपूर्ण साधन है। नैतिकता व्यक्ति को उचित-अनुचित का बोध कराती है और साथ ही उसे अच्छे कार्य करने का निर्देश देती है। नैतिकता अनुचित एवं बुरे कार्यों पर रोक लगाती है। नैतिकता हमें सत्य, ईमानदारी, अहिंसा, न्याय, समानता और प्रेम के गुण सिखाती है और असत्य, बेईमानी, अनाचार, झूठ, अन्याय, चोरी, आदि दुर्गुणों से बचाती है। नैतिक नियमों को समाज में उचित एवं आदर्श माना जाता है। इनके उल्लंघन पर सामाजिक निन्दा, खिल्ली उड़ने एवं प्रतिष्ठा की हानि का डर रहता है। नैतिकता में समूह-कल्याण की भावना छिपी होती है। धर्म के प्रभाव के कमजोर पड़ जाने के कारण आजकल नैतिकता सामाजिक नियन्त्रण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रही है।

इस प्रकार, हम देखते हैं कि धर्म एवं नैतिकता दोनों ही सामाजिक नियन्त्रण के महत्त्वपूर्ण साधन हैं और परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं, किन्तु वर्तमान समय में धर्म का प्रभाव क्षीण होता जा रहा है, अतः नैतिकता को अपना आधार बदलना होगा। इस सन्दर्भ में **बोटोमोर** कहते हैं, "वर्तमान युग में संस्कार और नैतिक नियमों के बीच एक स्पष्ट भेद किया गया है तथा धार्मिक विश्वास के ह्रास के साथ यह आवश्यक हो गया है कि नैतिक नियमों के लिए एक नए आधार व विषय-वस्तु को ढूंढ़ा जाए।"

4.16 सामाजिक नियन्त्रण के साधन के रूप में शिक्षा की भूमिका (Role of Education as a Means of Social Control)

शिक्षा के विभिन्न प्रकार्यों में से एक महत्त्वपूर्ण प्रकार्य समाज में नियन्त्रण बनाए रखना भी है। सामाजिक नियन्त्रण के अन्य साधन व्यक्ति के प्रति कठोरता बरत सकते हैं, दण्ड, दबाव एवं बदले की भावना से काम ले सकते हैं किन्तु शिक्षा व्यक्ति में तर्क एवं विवेक पैदा करती है, उसमें आत्म-नियन्त्रण की शक्ति पैदा करती है जिससे वि वह स्वयं ही उचित एवं अनुचित को ध्यान में रखकर सामाजिक नियमों, प्रतिमानों एवं कानूनों का पालन करता है समाज में नियन्त्रण बनाए रखने की दृष्टि से शिक्षा अपनी भूमिका निम्नांकित प्रकार से निभाती है :

नोट

(i) **समाजीकरण द्वारा**—समाजीकरण का तात्पर्य व्यक्ति को अपनी संस्कृति एवं समाज का ज्ञान प्रदान कर समाज की एक प्रकार्यात्मक इकाई (Functioning Unit) बनाना है।

(ii) **बौद्धिक विकास द्वारा**—शिक्षा का एक प्रमुख कार्य मानव ज्ञान एवं बुद्धि का विकास करना है। आज की शिक्षा, तर्क एवं विज्ञान पर आधारित है। वह मानव मस्तिष्क का विकास करती है, ज्ञान के द्वार खोलती है, मनुष्य को चिन्तनशील बनाती है। बुद्धिमान एवं ज्ञानवान व्यक्ति से यह अपेक्षा की जाती है कि वह उचित-अनुचित में भेद करे और समाज-सम्मत व्यवहार करे। शिक्षा व्यक्ति में सद्गुणों का विकास करती है। ज्ञान सामाजिक प्रगति एवं नियन्त्रण दोनों के लिए ही आवश्यक है।

(iii) **नैतिकता के विकास द्वारा**—शिक्षा मानव में नैतिक गुणों जैसे, सहयोग, सहिष्णुता, दया, ईमानदारी आदि का विकास करती है। शिक्षा का एक कार्य चरित्र-निर्माण भी है। शिक्षा मानव में नैतिक गुणों का विकास एवं चरित्र का निर्माण कर सामाजिक नियन्त्रण बनाए रखने में योग देती है।

(iv) **संस्कृति का हस्तान्तरण**—प्रत्येक व्यक्ति समाज का क्रियाशील सदस्य बनने के लिए अपनी संस्कृति को सीखता है, उसे आत्मसात करता है। सांस्कृतिक परम्परा, मूल्यों एवं आदर्शों के अनुरूप आचरण कर वह समाज-व्यवस्था को बनाए रखने में योग देता है। शिक्षा व्यक्ति को अपने समाज की आदर्शात्मक व्यवस्था (Normative order) से परिचित कराती है जिसके अनुसार आचरण कर व्यक्ति अपनी संस्कृति के अनुरूप ही आचरण करना सीखता है और सामाजिक नियन्त्रण को बनाए रखने में योग देता है।

(v) **सामाजिक अनुकूलन में सहयोग देकर**—शिक्षा का एक कार्य व्यक्ति को परिस्थितियों के साथ अनुकूलन करने में सहयोग प्रदान करना है। मनुष्य को अपने जीवनकाल में अनेक नवीन परिस्थितियों एवं संकटों का सामना करना पड़ता है। ऐसी स्थिति में विजयी वही होता है जो सफलतापूर्वक परिस्थितियों के अनुरूप अपने को ढाल ले या परिस्थितियों को अपने अनुरूप बना ले। ऐसा करने में शिक्षा अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

(vi) **मानव को सभ्य बनाकर**—शिक्षा का एक कार्य मानव को सभ्य एवं सुसंस्कृत प्राणी बनाना है। शिक्षा ही मानव को पशु-स्तर से ऊँचा उठाकर श्रेष्ठ मानव बनाती है। अतः शिक्षा मानव को नियन्त्रित जीवन व्यतीत करने में सहयोग देती है।

(vii) **आर्थिक जीवन को संरक्षण प्रदान करके**—आज उस शिक्षा को अपूर्ण माना जाता है जो व्यक्ति को रोजी-रोटी कमाने के लिए तैयार नहीं करती। आर्थिक समस्या मानव की सबसे बड़ी समस्या है। इस समस्या से मुक्ति दिलाने पर ही शिक्षा वास्तव में मानव को स्वतन्त्रता एवं मुक्ति प्रदान कर सकती है। आर्थिक संरक्षण एवं मुक्ति के अभाव में कोई भी समाज प्रगति नहीं कर सकता। आर्थिक समस्याओं से ग्रस्त समाज विघटित होने लगता है और उसमें नियन्त्रण बनाए रखना एक कठिन समस्या हो जाती है। स्पष्ट है कि शिक्षा व्यक्ति को आर्थिक संरक्षण प्रदान कर सामाजिक नियन्त्रण बनाए रखने में महत्त्वपूर्ण योग देती है।

इस प्रकार, व्यापक अर्थ में शिक्षा बचपन से लेकर प्रौढ़ावस्था तक सामाजिक नियन्त्रण का एक महत्त्वपूर्ण साधन है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि समाज में नियन्त्रण बनाए रखने में विभिन्न साधन एवं अभिकरण अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिकाएँ निभाते हैं।

4.17 सारांश (Summary)

- समाजशास्त्रीय साहित्य में सामाजिक नियंत्रण तथा सामाजिक परिवर्तन की अवधारणा का पर्याप्त महत्त्व है। अमेरिकन समाजशास्त्री E. A. Ross ने सर्वप्रथम 1901 में अपनी पुस्तक 'Social Control' में सामाजिक नियंत्रण के बारे में व्यवस्थित तौर पर विचार व्यक्त किए हैं।
- सामाजिक नियन्त्रण के द्वारा व्यक्तियों के व्यवहारों को समाज के स्थापित प्रतिमानों के अनुरूप ढालने का प्रयत्न किया जाता है। इस प्रकार सामाजिक नियन्त्रण वह विधि है जिसके द्वारा एक समाज अपने सदस्यों के व्यवहारों का नियमन करता है।

नोट

- **ऑगबर्न** तथा **निमकॉफ** लिखते हैं, "दबाव का वह प्रतिमान, जिसे समाज के द्वारा व्यवस्था बनाये रखने और नियमों को स्थापित रखने के उपयोग में लाया जाता है, सामाजिक नियन्त्रण कहा जाता है।"
- प्रत्येक समाज में नियन्त्रण की व्यवस्था होती है, किन्तु सभी समाजों में इसके प्रकारों या स्वरूपों में भिन्नता पायी जाती है। इसका कारण यह है कि समाज और सामाजिक सम्बन्धों की प्रकृति, सामाजिक दशाओं एवं व्यक्तिगत व्यवहारों में भिन्नता पायी जाती है।
- औपचारिक नियन्त्रण सामाजिक नियन्त्रण का वह प्रकार है जिसकी स्थापना राज्य सरकार एवं किसी औपचारिक संस्था के द्वारा निश्चित नियमों के माध्यम से व्यक्तियों एवं समूहों के व्यवहारों को नियन्त्रित करने के लिए की जाती है।
- औपचारिक नियन्त्रण के अन्तर्गत सभी के लिए कानूनों या नियमों का पालन करना आवश्यक होता है। जो इनका उल्लंघन करता है, उसे दण्डित किया जाता है। राज्य या सरकार के पास विशेषत: ऐसी शक्ति एवं सत्ता पायी जाती है जिसके माध्यम से वह सदस्यों से कानूनों का पालन कराती है।
- अनौपचारिक सामाजिक नियन्त्रण औपचारिक नियन्त्रण का विपरीत प्रकार है। इसमें व्यक्तियों एवं समूहों के व्यवहारों को नियन्त्रित करने के लिए राज्य, सरकार या किसी संस्था अथवा संगठन के द्वारा कानून एवं नियम नहीं बनाये जाते।
- इस प्रकार के सामाजिक नियन्त्रण का स्रोत राज्य अथवा सरकार या कोई अन्य सामाजिक संगठन नहीं होता, बल्कि स्वयं समाज होता है।
- औपचारिक सामाजिक नियन्त्रण के प्रभावशाली साधन कानून, न्यायालय व पुलिस हैं जिनके द्वारा नियमों का उल्लंघन करने पर व्यक्ति को निश्चित दण्ड देने की व्यवस्था की जाती है। दूसरी ओर, अनौपचारिक सामाजिक नियन्त्रण के प्रभावशाली साधन परम्पराएँ, धार्मिक नियम इत्यादि होते हैं जिनके द्वारा निश्चित दण्ड न देकर अधिक-से-अधिक व्यक्ति की सामाजिक निन्दा की जा सकती है अथवा जाति से निष्कासित किया जा सकता है।

4.18 अभ्यास-प्रश्न (Review Questions)

1. सामाजिक नियंत्रण के अर्थ और प्रकारों को बताएँ।
2. औपचारिक तथा अनौपचारिक सामाजिक नियंत्रण में अंतर स्पष्ट करें।
3. सामाजिक नियंत्रण के साधनों का संक्षिप्त विवरण दें।
4. सामाजिक नियंत्रण में कानून की क्या भूमिका है? वर्णन करें।
5. सामाजिक नियंत्रण में समाज की भूमिका पर प्रकाश डालें।
6. 'धर्म सामाजिक नियंत्रण का प्रमुख साधन है।' स्पष्ट करें।

4.19 सन्दर्भ पुस्तकें (Further Readings)

1. विकास का समाजशास्त्र – *वन्दना वोहरा, ओमेगा पब्लिकेशन।*
2. विकास का समाजशास्त्र – *दूबे श्यामाचरन, वानी पब्लिकेशन।*
3. विकास का समाजशास्त्र– *एम. अहमद, न्यू एज इन्टरनेशनल।*
4. विकास का समाजशास्त्र– *राव राममेहर सिंह, अर्जुन पब्लिकेशन।*